# भारतीय इतिहास की भूमिका

[ प्रथम भाग ]

## प्राचीन भारत

लेखक
डा. राजबली पाण्डेय एम. ए., डी. लिट.
प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग,
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय।

सं० २००६ वि० : १६४६ ई०

मलहोत्रा ब्रदर्ज़,
६०, दरियागंज, दिल्ली।

## स म र्प ण

भारतीय इतिहास के
मर्यादा-पुरुष

**राम**

को

# विषय-सूची

| | | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| भारतीय इतिहास के आधार | .... | १ |
| प्रागैतिहासिक भारत | .... | २८ |
| आर्यों का उदय और उनका प्रसार | .... | ४० |
| प्रारम्भिक आर्यों की सभ्यता और संस्कृति | .... | ५३ |
| उत्तर वैदिक काल | .... | ६४ |
| जनपदों का समय | .... | ७४ |
| धार्मिक सुधारणा | .... | ७९ |
| बुद्धकालीन राजनैतिक और सांस्कृतिक अवस्था | .... | [illegible] |
| मगध साम्राज्य का उदय और विकास | ... | १०६ |
| उत्तरापथ: ईरानी और यूनानी आक्रमण | .... | ११४ |
| मगध साम्राज्य का उत्कर्ष | .... | १२९ |
| मगध साम्राज्य का ह्रास | .... | १५५ |
| मौर्यकालीन समाज की संस्कृति | ... | १५९ |
| वैदिक प्रतिक्रिया | .... | १६७ |
| विदेशियों के आक्रमण | .... | १९० |
| भारतीय साम्राज्य और संस्कृति का पुनरुत्थान | .... | २१६ |
| गुप्त साम्राज्य का अन्त | .... | २४९ |
| पुष्यभूति वंश और कान्यकुब्ज साम्राज्य | .... | २५४ |
| विकेन्द्रीकरण: प्रान्तीय राज्य | ... | २७२ |
| पूर्व मध्यकालीन भारतीय संस्कृति | .... | ३३१ |
| भारतीय उपनिवेश और संस्कृति का प्रसार | .... | ३४३ |

# पहला अध्याय

## भारतीय इतिहास के आधार

### १. देश का नाम और विस्तार

इस देश का पुराना ऐतिहासिक नाम भारतवर्ष है। इसका यह नाम क्यों पड़ा इसके कई एक कारण बतलाये गये हैं। एक पुरानी ख्यात के अनुसार दुष्यन्त के पुत्र सम्राट् भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष (भरत का देश) पड़ा। दूसरी परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के पुत्रों में सबसे जेठा भरत श्रेष्ठ गुणवाला और महायोगी था; उसीके नाम से इस देश को भारतवर्ष कहते हैं। इन दोनों ही अनुश्रुतियों में 'भारतवर्ष' नाम रखने का कारण सन्तोषजनक नहीं मालूम पड़ता। प्रायः नगरों और छोटे प्रान्तों के नाम व्यक्तियों के ऊपर पड़ते हैं। बड़े देशों के नाम तो जातियों और निवासियों के ऊपर रखे पाये जाते हैं। विष्णु और वायुपुराण में भारतवर्ष के नामकरण का अधिक ठीक कारण बताया गया है। "समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण का देश (वर्ष) भारत कहलाता है, क्योंकि यहाँ भारती संतति (प्रजा) रहती है।" सच तो यह जान पड़ता है कि वैदिक आर्यों की भरत-जाति (वंश) के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। यह जाति अपने समय की राजनैतिक शक्ति और वैदिक साहित्य और सभ्यता के विकास में अग्रणी थी। इसलिए वह सारे देश के लिए आदर्श और भारतीयता का द्योतक हो गयी। उसके द्वारा फैलायी गयी संस्कृति से प्रभावित सारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

इस देश को हिन्दुस्तान नाम ईरानियों ने दिया। वे सिन्धु

नदी के पास के प्रदेशों में बसने वालों को हिन्दू (सिन्धु का ईरानी रूप) और उनके देश को हिन्दुस्तान ( हिन्दुओं के रहने का स्थान ) कहते थे। ईरानी भाषा से प्रभावित एशिया के सारे मुसलिम देश इसको हिन्दुस्तान कहने लगे। भारत में मुसलमानों के शासन के समय यह नाम अधिक प्रचलित हुआ । किन्तु देश के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में इसका गहरा प्रवेश न हो सका। धार्मिक कृत्यों और सामाजिक अवसरों पर 'भारतवर्ष' या 'भारतखण्ड' का ही प्रयोग होता था, यद्यपि मुसलिम सत्ता और मुसलिम भाषा ( ईरानी के नये रूप फारसी ) के प्रभाव से साधारण व्यवहार में हिन्दुस्तान शब्द चल निकला । भारतवर्ष का 'इंडिया' नाम यूनानियों का दिया हुआ है । युरोपीय लोग इसी नाम से इस देश को पुकारते हैं। परन्तु अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व के यहां होते हुए भी जन-साधारण ने इस नाम को नहीं अपनाया । आजकल साहित्यिक भाषा में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कारण 'भारतवर्ष' नाम का ही प्रयोग अधिक होता है।

भारतवर्ष का विस्तार अकसर हिमालय और समुद्र ( दक्षिण-समुद्र ) के बीच माना गया है। 'जो देश समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण है और जहाँ भारती संतति बसती है वह भारतवर्ष है।' परन्तु कई प्राचीन ग्रन्थों में भारतवर्ष का इससे बहुत बड़ा विस्तार बतलाया गया है। मत्स्य-पुराण के अनुसार 'भारतवर्ष' के नव भेद जानना चाहिए। ये समुद्र के बीच में आ जाने से एक दूसरे से अलग और दुर्गम हैं। नव भेद ये हैं:—इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रपर्णि, गभस्तिमान, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और नवाँ सागर से घिरा भारत । ऐसा जान पड़ता है कि जब भारती प्रजा ने अपने व्यापार, संस्कृति और राज्य का फैलाव दूर-दूर के देशों और द्वीपों में किया तब भारतीयों के वहाँ बस जाने के कारण उन स्थानों की गणना भारतवर्ष में होने लगी। परन्तु वास्तव में यह भारत की भौगोलिक सीमा नहीं, सांस्कृतिक सीमा है । दूसरे शब्दों में इस को वृहत्तर भारत कह सकते हैं। वृहत्तर भारत का इतिहास भारतीय इतिहास का एक आवश्यक अंग है।

## २. भारत भूमि

### (१) प्राकृतिक अवस्था का इतिहास पर प्रभाव–

किसी देश की प्राकृतिक अवस्था और उसके इतिहास में घना सम्बन्ध है। पहला आधार है और दूसरा आधेय। मनुष्य के आहार-विहार, वेश-भूषा, आचार-विचार उसके वायुमंडल से प्रभावित होते हैं। उसकी राजनैतिक सामाजिक, और धार्मिक संस्थायें विशेष भौगोलिक परिस्थिति में उत्पन्न होती और फलती-फूलती हैं। यह सच है कि मनुष्य अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति से प्रकृति का अपने अनुकूल उपयोग करता है और प्राकृतिक कठिनाइयों से ऊपर भी उठ जाता है, परन्तु भौगोलिक परिस्थिति का निर्माण करना उसके हाथ में नहीं है। प्राकृतिक साधन के लिए उसको प्रकृति का सहारा लेना ही पड़ता है। प्रकृति और मनुष्य के परस्पर सहयोग तथा विरोध से किसी देश का इतिहास बनता है। भारतवर्ष की प्राकृतिक अवस्था ने उसके इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है।

**(२) स्थिति** —एशिया महाद्वीप के दक्षिण में जो प्रायद्वीप हिन्द-महासागर में घुसे हुए हैं उनमें भारतवर्ष बीच का त्रिभुजाकार प्रायद्वीप है। यह उत्तरी गोलार्द्ध में ७ और ३७ अक्षांश और ६२ तथा ९८ देशांतर के बीच स्थित है। इसमें कर्क रेखा कलकत्ते के ऊपर से जबलपुर होते हुए रनकच्छ तक जाती है। इसके दक्षिण का भारत सारा उष्ण-कटिबाध में है, जहाँ का जलवायु प्रायः साल-भर गर्म रहता है। इसके उत्तर का भाग विन्ध्याचल और हिमालय के बीच शीतोष्ण कटिबाध में है। यहाँ पर बारी-बारी से जाड़ा, गर्मी और बरसात तीन मौसम होते हैं। सुदूर उत्तर में हिमालय की श्रेणियों और घाटियों में लगभग पूरे वर्ष ठंडक रहती है। भारतवर्ष काश्मीर से लंका तक लगभग दो हजार मील लम्बा और काठियावाड़ से आसाम तक लगभग इतना ही चौड़ा है। क्षेत्रफल में रूस को अलग कर देने पर यह यूरोप के बराबर है। इस प्रकार भारतवर्ष एक विशाल देश है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ छोटे देशों के जीवन में एकरूपता पायी जाती है वहाँ भारतवर्ष में उसके जलवायु, उपज, पशु, मानव, जाति, भाषा, धर्म, समाज, राजनीति आदि में विविधतायें पायी जाती हैं।

**(३) सीमायें**—ऊँचा और दुर्गम हिमालय भारत की उत्तरी सीमा बनाता है और एशिया के और देशों से उसको अलग करता है। हिमालय की पश्चिमी शृंखलायें दक्षिण-पश्चिम को मुड़ कर सफेद कोह, सुलेमान और किरथर के रूप में सिंधु-घाटी को अफगानिस्तान और बलूचिस्तान से अलग करती हैं और भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा बनाती हैं। किंतु यह सीमा पक्की नहीं है। प्राचीन और मध्य युग में खैबर दर्रे के दोनों तरफ के प्रांत प्रायः एक ही राज्य के अधीन रहते थे। भारत की वैज्ञानिक और दृढ़ सीमा हिंदूकुश और पामीर की शृंखलायें बनाती हैं। पूर्वोत्तर में हिमालय की भुजा दक्षिण को झुकती है और पटकोई, नागा, जयंतिया, खासी गारो, लुशाई तथा अराकानयोमा के नाम से पुकारी जाती हैं। ये पहाड़ियाँ भारतवर्ष को चीन, हिंद-चीन और श्याम से अलग करती हैं। नीचे की तरफ भारत तीन ओर से हिंद महासागर से घिरा हुआ है। इन सीमाओं ने इस देश को संसार के दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक एकांत बना रखा है। इसका फल यह हुआ है कि बाहर से लगातार हस्तक्षेप न होने के कारण यहाँ एक विशेष प्रकार की सभ्यता का विकास हुआ जिस पर भारत की पूरी छाप है।

**(४) प्राकृतिक विभाग**—सारे देश को चार मोटे प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है:—(१) हिमालय-शृंखला (२) उत्तर भारत के मैदान (३) विन्ध्य-मेखला और मध्य प्रदेश के पठार और (४) दक्षिण प्रायद्वीप।

**(क) हिमालय शृंखला**—भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय शृंखला लगभग १६०० मील लम्बी पश्चिम से पूर्व को फैली हुई है, जिसमें भूटान, सिक्कम, नेपाल, युक्त प्रांत के पहाड़ी जिले, शिमला के पास की रियासतें और काश्मीर स्थित हैं। यह शृंखला देश की केवल उत्तरी स्थल-सीमा ही नहीं बनाती परंतु इसके जलवायु, उपज तथा आर्थिक, राजनैतिक और मानसिक जीवन को भी प्रभावित करती है। यह उत्तरी एशिया से आने वाली ठंडी हवा को रोक कर देश को गर्म रखती है। समुद्र से उठने वाली पानी से लदी मानसून इससे टकरा कर देश में भरपूर पानी बरसाती है। हिमालय से निकलने वाली

नदियों के जाल से उत्तर भारत के मैदान आदिम काल से बनते और सिंचते आए हैं। ये नदियाँ प्रसार, व्यापार और युद्ध के लिए यातायात का साधन रही हैं। इस प्रकार हिमालय इस देश के आर्थिक जीवन का आधार है। भारत के राजनैतिक जीवन पर भी इसका गहरा प्रभाव है। हिमालय की दुर्गम शृंखला उत्तर में अटल संतरी का काम करती है और इस ओर से कोई महत्वपूर्ण सैनिक आक्रमण अभी तक नहीं हुआ है। भारत का मानसिक जीवन, धार्मिक विश्वास और साहित्य भी हिमालय से प्रभावित हुए हैं। ऊँचे और शीत प्रदेश में स्थित, मैदान के कोलाहल से दूर, वनों से घिरी एकांत हिमालय की कंदराओं ने भारतीय विचारकों और योगियों को अपनी ओर आकृष्ट किया है, जहाँ पर उन्होंने जीवन की गम्भीर समस्याओं और आध्यात्मिक (ईश्वर, आत्मा, जगत-सम्बन्धी) प्रश्नों पर विचार किया है। गगन-चुम्बी हिमालय की चोटियों के नीचे मनुष्य का अहंकार दब जाता है और वह प्रकृति की विशालता और सृष्टिकर्ता की गरिमा का अनुभव करता है। मैदानों के मलिन जीवन से अछूते हिमालय के हिमाच्छादित और स्वच्छ शृंग भारतीयों के धार्मिक विश्वास के अनुसार देवताओं के निवास-स्थान और यक्ष, किन्नर, गन्धर्वादि अतिमानुष जातियों की क्रीडाभूमि माने गए हैं। भारतीय हिमालय को सदा आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व छोरों पर हिमालय की शृंखलायें नीची हो गई हैं और उनसे होकर आने-जाने में उतनी कठिनाई नहीं है जितनी सीधे उत्तर की ओर से। पश्चिमोत्तर में हिमालय की भुजाओं को काट कर कई नदियों ने अपना रास्ता बना लिया है, जिनसे दर्रे निकल आए हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध दर्रा खैबर है। इससे होकर काबुल से पेशावर आने का मार्ग है। इसके दक्षिण में गोमल और कुर्रम की धारायें पहाड़ियों को चीरती हुई सिंध में गिरती हैं। इनकी घाटियों से होकर अफगानिस्तान से आने-जाने का रास्ता बन गया है, और दक्षिण चलकर सुलेमान और किरथर पहाड़ों के बीच में बोलन का प्रसिद्ध दर्रा है। इनके द्वारा हिरात, कन्दहार और क्वेटा से सिंधु की घाटी में आसानी से आना-जाना हो सकता है। इस ओर सब से दक्षिण में किरथर पहाड़ियों और समुद्र-तट के बीच में भी

एक रास्ता है जिसके द्वारा समुद्र के किनारे-किनारे होता हुआ ईरान और बलूचिस्तान से भारतवर्ष में आने का मार्ग है। इन दर्रों ने भारत के एकांत जीवन को काफी हद तक भंग किया है। इन्हीं रास्तों से होकर बहुत पुराने समय में भारतीय आर्य बाहर जाते रहे और पीछे ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषण, हूण, तुर्क, आदि जातियाँ इस देश में आयीं। इनमें से अधिकांश भारतीय जन-समुद्र में विलीन हो गईं, परंतु फिर भी उनकी छाप भारत के इतिहास पर है। पूर्वोत्तर की पहाड़ियाँ पश्चिमोत्तर से ऊँची और इनमें दर्रे कम हैं। इनसे होकर चलने वाले रास्ते बीहड़ और घने जंगलों से ढके हैं। इसलिए इन से होकर आना-जाना बहुत कठिन है। यही कारण है कि अपेक्षाकृत आधुनिक अहोम-आक्रमण को छोड़ कर प्राचीन काल में कोई सामूहिक अथवा सैनिक आगमन इन रास्तों से नहीं हुआ। फिर भी तिब्बत, चीन और हिंद-चीन की पीली किरात जातियाँ धीरे-धीरे इस दिशा से भारतवर्ष में आती रहीं और पूर्वोत्तर के निवासियों में आज भी उनका रक्त वर्तमान है।

**(ख) उत्तर भारत के मैदान**—हिमालय से नीचे उतरने पर उत्तर भारत के मैदान मिलते हैं जो हिमालय और विन्ध्य-मेखला के बीच स्थित हैं। ये मैदान हिमालय से निकलनेवाली नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बने और उन्हीं से सींचे जाते हैं। इन्हीं मैदानों की उर्वर भूमि में, जहाँ जीवन की सुविधायें बहुत ही सुलभ हैं, नदियों के किनारे सभ्यता के केन्द्र स्थापित हुए थे। यहाँ के निवासियों ने केवल आर्थिक उन्नति ही न की, किन्तु थोड़े परिश्रम से अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान का भी विकास किया। ये मदान जहाँ भारतीय सभ्यता और शक्ति के केन्द्र थे वहाँ अपनी समृद्धि के कारण मध्य एशिया की भूखी और वर्बर जातियों को निमंत्रण भी देते रहे। इन्हीं मैदानों पर अधिकार जमाने के लिए बाहर से एक के बाद दूसरे आक्रमण होते रहे। मैदानों के बहुत दूर तक समतल होने के कारण भारतवर्ष की व्यापक भाषाओं और बड़े-बड़े साम्राज्यों का उदय भी यहीं हुआ।

उत्तर भारत के मैदानों को तीन भागों में बांट सकते हैं:—(१) गंगा-घाटी (२) सिंधु-घाटी और (३) ब्रह्मपुत्र-घाटी। गंगा-घाटी

उत्तर भारत के मध्य में स्थित है। इसीलिए बंगाल को छोड़ कर इस को प्राचीन काल में मध्यदेश कहते थे। यहीं पर पहले आर्य-राज्यों का उदय हुआ था और सारे देश में यहीं से भारतीय सभ्यता का प्रसार सिंधु-घाटी, ब्रह्मपुत्र-घाटी और दक्षिण के प्रांतों में हुआ। गंगा-घाटी के बायें तरफ सिंधु-घाटी है जो सिंधु और उसकी सहायक नदियों से सींची जाती है। दोनों के बीच में एक जल-विभाजक है जो दक्षिण से अरावली और उत्तर से शिवालिक की भुजाओं के मिल जाने से बना है। इस जल-विभाजक के प्रायः बीच में दिल्ली अथवा देहली (ली) है जो वास्तव में दोनों के बीच में द्वार है। पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व बढ़ने वाली सेनाओं और जातियों को इसी के आस-पास निर्णायक युद्ध करने पड़ते थे। यही कारण है कि कुरुक्षेत्र और पानीपत के रणक्षेत्रों में कई बार भारतवर्ष के भाग्य की परीक्षा हुई। इस द्वार को पार करने पर खैबर दर्रे तक नदियों के सिवाय दूसरी प्राकृतिक कठिनाई नहीं है। प्राचीन काल में मध्यदेश से निकल कर आर्य लोग थोड़े दिनों में गांधार तक पहुंच गए। पीछे पश्चिम से आने वाली जातियाँ भी खैबर दर्रे को पार करने के बाद बड़ी आसानी से दिल्ली के पड़ोस तक पहुंच जाती थीं। ब्रह्मपुत्र की घाटी गंगा-घाटी के दायें तरफ है। इसकी प्राकृतिक बनावट गंगा और सिंधु के मैदानों से भिन्न है। यह अधिकतर पर्वतीय प्रदेश है। यहाँ से पश्चिम से पूर्व की ओर जातीय प्रसार और सैनिक आक्रमण दोनों ही कठिन हैं। मध्यदेश से यहाँ आर्यों का प्रसार मंद गति से हुआ। मध्ययुग में कई प्रयत्नों के बाद भी पठान, तुर्क और मुगल इसको अपने आधीन न कर सके। आधुनिक युग में अंग्रेजों ने सबसे पीछे आसाम को जीतने का विचार किया।

उत्तर भारत के मैदान में ही दक्षिण की ओर पश्चिम से पूर्व सिंध, राजपूताना और मालवा के प्रदेश हैं। इन्होंने उत्तर और दक्षिण भारत के बीच आने-जाने के रास्तों का सदा निर्धारण किया है। राजपूताना के मरुस्थल ने पंजाब से निकल कर फैलने वाली जातियों के दक्षिण-मुख विस्तारको सदा रोका। उन जातियोंको या तो सीधे पश्चिम या पूर्व जाना पड़ा अथवा सिंधु नदी का किनारा पकड़ कर या राजपूताने के पूर्व होकर दक्षिण जाना पड़ा। सिंध होकर आनेवाले आक्रमणकारियों को थर के मरुस्थल में ही रुक जाना पड़ा। अरबों की

विफलता का भौगोलिक कारण सिंध और थर का मरुस्थल ही था। राजपूताना ने बाहर वालों के लिए बाधक होते हुए भी आपत् के समय भारतीयों को शरण दी है। हूण और तुर्क आक्रमण के समय उत्तर भारत की शासक जातियों ने राजपूताना के मरुस्थल और पहाड़ियों में शरण ली और वहाँ पर अपनी स्वतंत्रता और संस्कृति की रक्षा की। राजपूताना के दक्षिण पूर्व मालव-प्रदेश है। इसकी भूमि उर्वरा है। इसलिए बहुत पूर्वकाल में ही यहाँ आर्यों के उपनिवेश बस गए। इसी रास्ते से दक्षिण पश्चिम मुड़कर वर्तमान गुजरात होते हुए उत्तर के लोग दक्षिण और दक्षिण के लोग उत्तर आते रहे।

**(ग) विन्ध्य मेखला**—भारतवर्ष के बीच में समुद्र-तट के पतले प्रदेशों को छोड़कर बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम-पयोधि (अरब सागर) तक विंध्य-पर्वत की शृंखलायें फैली हुई हैं। देश के कटि प्रदेश में इन शृंखलाओं के लटकने के कारण इनको मेखला (करधनी) कहते हैं। दुर्गम वनों से ढका हुआ यह पहाड़ी प्रदेश दक्षिण भारत को उत्तर से अलग करता है। इसलिए भारत के दोनों भागों के जीवन में कुछ भिन्नता और अपनी-अपनी विशेषता है। फिर भी विंध्य-मेखला के दोनों सिरों पर ऊँचाई कम होने के कारण रास्ते बन गए हैं और उत्तर और दक्षिण के बीच इन्हीं से होकर आना-जाना जारी रहा है। आजकल रेलवे लाइनें प्रायः इन्हीं मार्गों का अनुसरण करती हैं। परन्तु यह होते हुए भी मानना पड़ेगा कि दक्षिण भारत अपेक्षाकृत बाहरी आक्रमणों और प्रभावों से सुरक्षित रहा है।

**(घ) दक्षिण प्रायद्वीप**—यह प्रदेश उत्तर में विंध्य-मेखला और शेष तीन ओर समुद्र से घिरा हुआ है। इसके भीतर पश्चिमी और पूर्वी घाट के प्रांत और बीच के पठार सम्मिलित हैं। इस त्रिभुजाकार प्रायद्वीप के दक्षिण में लंका या सिंहल द्वीप है जो इसी का भौगोलिक परिशिष्ट अथवा लटकन है। पश्चिमी घाट उत्तर में सह्याद्रि से लेकर दक्षिण में नीलगिरि से मिल गया है। इसके और समुद्र के बीच में सँकरा समुद्र-तट है जिसको उत्तर में कोंकण और दक्षिण में केरल कहते हैं। यह किनारा बंदरगाहों के लिए उपयुक्त नहीं, परन्तु वर्षा काफी बरसने से उपजाऊ और हरा-भरा है। बहुत प्राचीकाल से कोंकण और केरल अपनी समृद्धि और सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध रहे हैं।

इस पतले समुद्र-तट के पूर्व में पश्चिमी घाट का पर्वतीय प्रदेश है। इसको उत्तर में महाराष्ट्र और दक्षिण में कर्णाटक कहते हैं। पहाड़ियों के कारण दुर्गम इस ऊँची-नीची भूमि को काटकर नदियों ने अपना मार्ग बना लिया है, जिसको घाट कहते हैं। पश्चिमी घाट से समुद्र तक पहुँचने के ये ही रास्ते हैं। कम वर्षा और पथरीली भूमि के कारण महाराष्ट्र बहुत कम उपजाऊ है और यहां के निवासियों को अपनी जीविका कमाने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। यहाँ के रहने-वाले कद में छोटे किन्तु पुष्ट, परिश्रमी और कष्ट-सहिष्णु होते हैं। प्रकृति से संघर्ष करते-करते इनके स्वभाव में युद्ध की भावना दृढ़मूल हो गयी है। यहाँ वाले हलके घुड़सवार और लुक-छिप के गोरेला युद्ध में सैनिक रूप से प्रसिद्ध रहे हैं। पहाड़ियों में बहुत-से पर्वत-दुर्ग बनाये गए थे जिनका महत्व आत्म-रक्षा के लिए बहुत अधिक था। विदेशी आक्रमणकारियों के लिए इस पहाड़ी प्रदेश का जीतना दुस्साध्य था। मध्ययुग में मुस्लिम आक्रमणकारी अपने प्रयत्न में कई बार असफल रहे और सारे महाराष्ट्र पर अपना अधिकार न जमा सके। अंग्रेजों ने भी इसको सबसे पीछे जीतने का साहस किया और यहाँ की लड़ाइयों में उन्हें कठोर असुविधाओं का सामना करना पड़ा।

पश्चिमी और पूर्वी घाट के बीच दक्षिण का पठार है। इस पठार की धरती ज्वालामुखी के उद्गार से निकली हुई राख और लावा से बनी हुई होने के कारण उपजाऊ है। खनिजपदार्थ भी यहाँ पाये जाते हैं। यही कारण है कि महाराष्ट्र के बहुत पूर्व विदर्भ( बरार ) में प्रसिद्ध राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। भारतवर्ष के पश्चिमी और पूर्वी समुद्र-द्वार बम्बई और कलकत्ते को मिलानेवाले मार्ग पर यह प्रान्त स्थित है। इसलिए आधुनिक काल में अँग्रेजों के दाँत इस पर गड़े हुए थे और ब्रिटिश और मराठा संघर्ष का यह एक बहुत बड़ा कारण था।

दक्षिण प्रायद्वीप के पूर्वी समुद्र तट पर से कुछ हटकर पूर्वी घाट की श्रृंखला उत्तर से दक्षिण को चली गई है। दक्षिण की प्रायः सभी बड़ी नदियाँ पश्चिमी-घाट से निकल कर दक्षिण के पठार से होती हुई पूर्वी घाट को काट कर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं।

पूर्वी घाट पश्चिमी घाट से नीचा और इसके पूर्व का समुद्र-तट भी पश्चिमी समुद्र-तट से चौड़ा है। इसका उत्तरी भाग कलिंग तथा (आंध्र) और दक्षिणी भाग चोलमंडल (कारोमंडल) कहलाता है। इस सारे भूभाग पर प्रचुर वर्षा होती है और इसका जलवायु आर्द्र और उष्ण है। यह प्रदेश हरा-भरा और उपजाऊ है। इस प्रदेश का जलवायु और इसकी उपज ने यहाँ के निवासियों की सैनिक क्षमता को कम कर दिया है। उत्तर भारत से आनेवाली जातियों और राजवंशों ने इसी समुद्र-तट से दक्षिण में प्रवेश किया। भारतीय इतिहास में दो ही ऐसे अवसर मिलते हैं जब यहाँ के राज्यों ने उत्तर की ओर बढ़ने की चेष्टा की हो—एक आंध्रवंश दूसरा चोलवंश। किन्तु इन राजवंशों और उनकी सेना में उत्तर के लोगों का बहुत बड़ा अंश था।

(ङ) **सुदूर दक्षिण** तुंगभद्रा और कृष्णा के दक्षिण से घिरा हुआ प्रान्त सुदूर दक्षिण अथवा द्रविड-प्रदेश है। इसमें पूर्वी और पश्चिमी घाट नीलगिरि पर मिल गये हैं। इनके बीच का पठार पुराना कर्णाटक या आजकल का मैसूर राज्य है। इसके पूर्व और समुद्र-तट के पीछे ठेठ तामिल-प्रदेश है। तामिल प्रान्त और केरल ( मलाबार ) के बीच में मलयपर्वत है। यह सारा प्रदेश दक्षिण से कुछ अलग-सा रहा है। इसलिए यहाँ के निवासियों, उनकी भाषा, रहन-सहन आदि की दक्षिण और उत्तर भारत से अपनी कुछ विशेषता रही है। प्रकृति ने इस भूभाग को कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट दिया है। इसलिए थोड़े ही क्षेत्रफल में कई जातियाँ और भाषायें पायी जाती हैं। जातिगत भिन्नता और ऊँच-नीच का भाव जिस कठोर रूप में यहाँ पाया जाता है उतना भारतवर्ष के और किसी भाग में नहीं।

(च) **लंका**—समुद्र में घुसा हुआ भारतवर्ष का ही यह एक भौगोलिक भाग है। समुद्र का बहुत उथला अंश अपूर्ण रूप से देश के मुख्य भाग से इसको अलग करता है। वह उथला समुद्र भी सेतुबन्ध आदि उभड़ी हुई पहाड़ियों से प्रायः बंध गया है। इस प्रकार प्रकृति ने लंका को भारतवर्ष के साथ जोड़ रखा है। यही कारण है कि बहुत प्राचीन काल से लंका और भारतवर्ष का राज-

नैतिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध रहा है। लंका की जनता, भाषा, धर्म और आचार-विचार में भारतीय तत्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

( छ ) समुद्र—समुद्र ने दक्षिण की ओर से जहाँ भारतवर्ष को घेर रखा है, वहाँ जल-मार्ग से एशिया के दक्षिणी-पूर्वी और पश्चिमी भागों तथा अफ्रीका और यूरोप से उसे जोड़ भी रखा है। इसलिए संसार के व्यापार और यातायात का भारतवर्ष एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। प्राचीन काल में भारत का समुद्री व्यापार काफी विकसित था। यहाँ के जहाजी बेड़े व्यापार और उपनिवेश बसाने के लिए दूसरे देशों में जाया करते थे। पूर्वी एशिया, हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीपसमूह भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे। पश्चिमी एशिया, यूरोप और अफ्रीका से भी भारतवर्ष का व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था। मध्ययुग में अरबों और आधुनिक युग में यूरोपियों ने इसी जल-मार्ग का अवलम्बन लिया और उनके आगमन से भारतीय राजनीति और जीवन पर दूरव्यापी प्रभाव पड़े।

## ३ भारत के निवासी

विविधता और मिश्रण—यह पहले कहा जा चुका है कि भारतभूमि एक विशाल देश है, जिसके अलग-अलग प्रान्तों में विभिन्न प्रकार का जलवायु है। इसलिए आदिम काल से ही इसके अलग-अलग खंडों में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग रहते आए हैं। जीवन और सभ्यता के विकास के साथ-साथ इन लोगों का यात्रा, व्यापार उपनिवेश, युद्ध, और विवाहादि के नाते एक स्थान से दूसरे स्थान में आना-जाना प्रारम्भ हुआ। इसका परिणाम हुआ देश में अनेक रक्तों और जातियों का मिश्रण और इनके संगम से बनी हुई भारतीय जाति। फिर भी भारत के भूखंडों में दूसरे प्रान्तों के रक्त-मिश्रण के बाद भी स्थानीय जातियों की प्रधानता है और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए उनको अलग-अलग रखा जा सकता है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि भारतीय इतिहास के निर्माण में सभी जातियों का हाथ है। सुविधा के लिए भारतीय जातियों का वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार किया जा सकता है :

( १ ) आर्य—इस जाति की मूल भूमि आर्यावर्त अथवा भारतवर्ष का वह भाग है जो हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में है। इसी के केन्द्र मध्यदेश में आर्यों का उदय हुआ और यहाँ से ये सारे आर्यावर्त, और दक्षिणपथ में फैले। अधिक शुद्ध रूप में आर्य जाति की ये विशेषतायें हैं—( १ ) लम्बा आकार ( २ ) गोरा रंग ( ३ ) लम्बा सिर ( ४ ) उन्नत नाक और ( ५ ) चौड़ा ललाट। पश्चिमी भाग में यह जाति ईरानी और तूरानी जाति से मिलती-जुलती है, और इन तत्वों का आर्य जाति में काफ़ी मिश्रण हुआ है। मध्यदेश ( युक्त प्रांत और बिहार ) में आर्य, और द्रविड-रक्त का मिश्रण हुआ है। पूर्व में आर्य जाति के साथ किरात ( मंगोल या पीली ) जाति का मेल हो गया है। आर्य जाति के छींटे भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में मिलते हैं।

( २ ) द्रविड—द्रविड-जाति की आदि भूमि सुदूर दक्षिण है। यहाँ से फैलकर यह दक्षिण और उत्तर भारत में आर्य और दूसरी जातियों से मिल गई है। अपने शुद्ध रूप में इसका कद नाटा रंग श्याम और नाक चपटी होती है। सिर लम्बा और मुँह पर काफी बाल होते हैं।

( ३ ) शबर-पुलिंद—विन्ध्य-मेखला के जंगली और पहाड़ी भागों में यह जाति रहती है। पश्चिम में भील, बीच में गोंड और कोल, और पूर्व में संथाल, मुंडा आदि इनकी शाखायें हैं। इनकी विशेषतायें प्रायः द्रविडों से मिलती-जुलती हैं, परन्तु इनका अपना भाषा-परिवार है जो द्रविड भाषाओं से भिन्न है। यूरोपीय विद्वान् इन जातियों को आस्ट्रिक अथवा आग्नेय कहते हैं, क्योंकि एशिया के आग्नेय ( दक्षिण-पूर्व ) द्वीपों में इनसे मिलते-जुलते लोग रहते हैं। शबर और पुलिंद जातियां चारों ओर आर्य और द्रविड जातियों से घिरी हैं। जंगलों और पहाड़ों के साफ होने और यहां से निकलने के कारण भाषा और जाति की दृष्टि से अन्य जातियों में मिलती जा रही हैं।

( ४ ) किरात—हिमालय-शृंखला के उत्तरी और उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में किरात ( मंगोल ) जाति के लोग पाये जाते हैं। चीन-

तिब्बत और हिन्द-चीन आदि निवासी अपनी मूल भूमियों से निकल कर क्रमशः हिमालय प्रदेशों में आ बसे हैं और आर्य, द्रविड और शबर-पुलिंद से इनका रक्त-मिश्रण हो गया है। अपने शुद्ध रूप में इनका कद मध्यम और ठिगना, रंग पीला, नाक चपटी और आँखें पतली तथा तिर्छी होती हैं। इनके गालों की हड्डियां उभरी हुई और मुँह पर वाल वहुत कम होते हैं।

इन मुख्य जातियों के अतिरिक्त विदेशी आक्रमणकारी के रूप में प्राचीन काल में ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषण और हूण इस देश में आये जो जातीय विशेपताओं में आर्यों से मिलते-जुलते थे। उनमें से जो इस देश में रहे वे भारतीय जनता में विलीन होगये। मध्ययुग में बाहर से आनेवालों में अरब संख्या में बहुत थोड़े और जाति से सामी थे। तुर्क (संस्कृत तुरुष्क) मध्य एशिया से आये और जातीय विशेपताओं में आर्यों के समान थे। पठान तो प्राचीन भारतीय आर्य पक्थों (=पश्तों) के ही बंशज थे। मध्य-युगीन मुस्लिम आक्रमणकारियों में धार्मिक चेतना अवश्य थी, किन्तु जातीय भावना नहीं। भारतीय जनता में सभी जातियाँ घुल-मिल गयीं। आधुनिक काल में यूरोपीय सम्पर्क के बहुत पूर्व ही इस देश में जातिवाद (रेशलिज्म) के अर्थ में जातीय भावना नष्ट हो चुकी थी। आर्य शब्द का अर्थ नैतिक 'सच्चरित्र' हो गया था और द्रविड का महत्व केवल भौगोलिक था। यूरोपीय लेखकों ने अपने जाति-शास्त्रीयवादों और राजनैतिक कारणों से जातीय चेतना को इस देश में जागृत करना चाहा। परन्तु इस देश में जातियों का मिश्रण इतना पुराना और घनिष्ठ है कि इस चेतना को प्रोत्साहन न मिल सकेगा।

## ४. भारत की भाषाएँ

जिस प्रकार भारतीय प्रजा में जातियों की विविधता है, वैसे ही भारतीय भाषाओं में भी कई एक भेद हैं। अकसर भाषाओं का विकास जातियों की आदि-भूमियों के आधार पर हुआ है। परन्तु बात ध्यान रखने की है कि जाति और भाषा का अभिन्न सम्बन्ध नहीं है। अपना स्थान छोड़ देने पर बहुत-से आर्य द्रविड भाषायें बोलते हैं और द्रविड आर्य भाषायें बोलने लगे हैं। हम इस देश की

भाषाओं को चार मुख्य परिवारों में बाँट सकते हैं:—

( १ ) आर्य-भाषा-परिवार—उत्तरभारत की प्रान्तीय भाषायें और दक्षिण भारत के पश्चिमी भाग की भाषा इस परिवार के अन्तर्गत है। इनकी गणना इस प्रकार है:—आसामी, बंगाली, उत्कल (उड़िया) हिन्दी, पर्वती, पञ्जाबी, पश्तो, काश्मीरी, कोहिस्तानी, लहन्दा सिन्धी, गुजराती और मराठी। सिंहली भी इसी परिवार की है। इनमें से पश्तो और सिन्धी ने मुस्लिम प्रभाव के कारण अरबी लिपि और वर्णमाला अपनाली हैं। शेष भाषाओं की वर्णमाला संस्कृत है और वे भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी के किसी न किसी रूप में लिखी जाती हैं। 'हिन्दी' पर्वती और मराठी देश की सर्वमान्य लिपि देवनागरी में लिखी जाती है। संस्कृत भाषा के लिये सभी प्रान्तों में देवनागरी का ही उपयोग होता है। हिन्दी की ही एक विभाषा उर्दू है जो कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है। इसका व्याकरण और रचना तो हिन्दी के ही समान है किन्तु मुस्लिम प्रभाव के कारण इसने अरबी लिपि को अपनाया है तथा इसके शब्द-भाण्डार में फारसी और अरबी शब्दों का बाहुल्य है।

( २ ) द्रविड-भाषा-परिवार—इस परिवार में दक्षिण के पूर्वी भाग सुदूर दक्षिण और लंका की भाषाएँ—तेलगू, तामिल, कनारी और मलयालम सम्मिलित हैं। इनमें मूल द्रविड शब्दों की प्रधानता है और इनकी रचना-पद्धति उत्तरी भाषाओं से भिन्न है। परन्तु इनकी वर्णमाला संस्कृत और लिपियाँ प्राचीन ब्राह्मी के ही रूपान्तर हैं। आर्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण इनमें संस्कृत शब्द भी बहुत आ गये हैं।

( ३ ) शबर पुलिंद-भाषा-परिवार—इनमें मुण्ड, मानखमेर आदि भाषायें प्रधान हैं। विन्ध्य-मेखला के पर्वती और जंगली प्रदेशों में इस परिवार की बोलियां बोली जाती हैं। इनकी न तो कोई लिपि और वर्णमाला है और न लिखित साहित्य। अधिक विकसित पड़ोसी भाषायें क्रमशः इनको आत्मसात् करती जा रही हैं।

( ४ ) किरात-भाषा-परिवार—इस परिवार की मूल भूमि तिब्बत और बर्मा है। इन भाषाओं को शुद्ध रूप में बोलने

वालों की संख्या भारत में नगण्य है, परन्तु इनका प्रभाव आसाम और हिमालय के प्रदेशों में पड़ा है। फिर भी आर्य भाषाओं ने इन प्रदेशों में भी अपनी प्रधानता स्थापित करली है। ये भाषाएँ संस्कृत वर्णमाला को अपनाये हुई हैं और देवनागरी अथवा ब्राह्मी के किसी रूप में लिखी जाती हैं।

भारतवर्ष की भाषाओं, उनकी परम्परा और साहित्य में परस्पर घना सम्बन्ध है। इस देश में भाषा की समस्या उतनी जटिल नहीं है जितनी कि कुछ लेखकों ने दिखाने की चेष्टा की है। संस्कृत वर्णमाला, ब्राह्मी लिपि और संस्कृत शब्द-भण्डार ने इस प्रश्न को बहुत दूर तक सरल बना दिया है।

## ५. भारतवर्ष की मौलिक एकता

देश की भौगोलिक विविधता, जातीय भिन्नता, भाषा सम्बन्धी अनैक्य और राजनैतिक विभाजन आदि देखकर साधारण लोगोंकी दृष्टि से इसकी मौलिक एकता ओझल सी हो जाती है और उनके मन में सन्देह सा होने लगता है कि क्या अनेक विविधताओं से भरे इतने बड़े भूखंड को एक देश माना जा सकता है और इसका इतिहास एक देश के इतिहास के समान लिखा जा सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' है। भारतवर्ष की विविधता विशालता के कारण है और उसकी एकता का विरोध नहीं करती, अपितु उसके जीवन की समृद्धि और शक्ति में सहायक है। वास्तव में 'एकता' का अर्थ 'एकरूपता' नहीं, 'एकसूत्रता' है और भारतवर्ष ने सदा विविधता में एकसूत्रता अथवा एकता देखने की चेष्टा की है। बाहर से विषमता दिखाई पड़ने पर भी भारतीय देश, जीवन और इतिहास में एक सुदृढ़ मौलिक एकता है।

(१) भौगोलिक एकता—इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश के भीतर कई प्रकार के भूखंड, जलवायु, वनस्पतियाँ, जीवजन्तु आदि हैं। परन्तु ध्यान से देखने पर स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि प्रकृति ने बहुत साफ और दृढ़ रीति से भारतवर्ष को एक देश बनाया है। इसके उत्तर, पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर में दुर्गम हिमालय और उसकी भुजाओं की स्थलसीमा है। इस सीमा ने भारत को एशिया के अन्य देशों से साफ तौर पर अलग किया है। दक्षिण में समुद्र की जल सीमा ने भी इसको अच्छी तरह से घेर रखा है और एशिया के दूसरे

दक्षिणी प्रायद्वीपों से अलग कर दिया है। प्रकृति ने इस भौगोलिक इकाई को इतनी दृढ़ता से बनाया है कि यह देश के आन्तरिक विभाजनों को अच्छी तरह से ढक देती है।

भारतवर्ष की भौगोलिक एकता केवल भौतिक धरातल पर ही नहीं, अपितु जनता की बुद्धि और भावना में भी सुदृढ़ हो गई है। बहुत प्राचीन काल में इसका नाम भारतवर्ष पड़ चुका था और साहित्य में इसकी सीमायें निश्चित थीं। विष्णु पुराण के अनुसार हिमालय के दक्षिण और समुद्र से उत्तर का सारा भूखंड एक देश 'भारतवर्ष'[1] माना जाता था। हिन्दुओं की प्रार्थना, स्नान और तीर्थयात्रा से भारतवर्ष की जो मूर्ति अंकित होती है उसमें इसके सभी भागों की प्रमुख नदियों[2]—गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी और बड़े-बड़े पर्वतों[3]—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य, पारियात्र—का समावेश है। इसी प्रकार मुख्य तीर्थों में अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारावती की गणना है।[4] देश के बौद्धिक नेताओं ने भी भारत की एकता स्पष्ट रूप से स्वीकार की है। केरल में उत्पन्न शंकराचार्य ने अपने चार पीठों को बदरी-केदार (हिमालय में), द्वारिकापुरी और शृंगेरी (मैसूर में) स्थापित किया था। भारतवर्ष की इस समष्टि-प्रतिमा को भारतीयों ने देवनिर्मित[5] कहा है और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी ऊँचा माना है।[6]

(२) राजनैतिक एकता—भारतवर्ष की मौलिक एकता

---

१ उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः।

२ गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

३ महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

४ अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

५ भारतं देवनिर्मितं देशम्।

६ जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

के विरोध में सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि यह देश कभी एक शासन-सूत्र से बंधा हुआ नहीं था और सैकड़ों राज्यों में बंटा रहता था; केवल ब्रिटिश छत्र-छाया में ही एक शासन के अन्तर्गत आ सका। यह आक्षेप ऐतिहासिक दृष्टि से बिल्कुल गलत है। प्राचीन भारतवासी देश में राजनैतिक एकता और केन्द्रीकरण के आदर्श और संस्थाओं से भलीभाँति परिचित थे। उनका सदा से यह प्रयत्न रहा है कि देश का अधिक-से-अधिक भाग एक छत्र के नीचे आ जाय। बहुत पुराने साहित्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऐसे शब्द आये हैं जिनसे पता लगता है कि देश में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति उस समय वर्तमान थी और समुद्र-पर्यायी और सार्वभौम साम्राज्य का प्रयोग हो चुका था। एकराट, सम्राट्, सार्वभौम, राजाधिराज आदि राजाओं की उपाधियाँ थीं। प्रत्येक महत्वाकांक्षी सम्राट् दिग्विजय करके अपने आधिपत्य की प्रतिष्ठा करने के लिए अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञ करता था। पुराणों और महाकाव्यों में ययाति, मान्धाता, सगर, रघु, युधिष्ठर, जनमेजय आदि सम्राटों के दिग्विजयों के वर्णन मिलते हैं। बौद्ध धर्म के उदय के पीछे भी कई एक साम्राज्यवादी राजवंशों की स्थापना देश में हुई। सर्वक्षत्रान्तक नन्दों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। मौर्यों ने उससे भी बड़ा साम्राज्य बनाया। अशोक का साम्राज्य आसाम से लेकर हिन्दूकुश और पामीर से लेकर सुदूर दक्षिण तक विस्तृत था और इस देश के ऐतिहासिक काल में सब से बड़ा था। मौर्यों के बाद भी शुंगों, आन्ध्रों, गुप्तों तथा पुष्यभूतियों ने इस परम्परा को सजीव रखा। मध्ययुग में भी अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर प्रतिहार, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, पाल, चाहुमान आदि ने इस प्रवृत्ति को जारी रखा। तुर्क और मुगल आक्रमण के बाद भी यह प्रवृत्ति नष्ट नहीं हुई। मुगलों और मराठों ने इस दिशा में सफलता के साथ प्रयत्न किया। यद्यपि भारतवर्ष में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के बाद चलती रही हैं और यह नियम दूसरे देशों में भी लागू रहा है, फिर भी भारत की राजनैतिक एकता के आदर्श और उसके लिए प्रयत्न का कभी परित्याग नहीं हुआ है।

**(३) सांस्कृतिक एकता**—भारतवर्ष की मौलिक एकता सबसे अधिक उसके सांस्कृतिक जीवन में व्यक्त हुई है। इस संस्कृति

को एक शब्द में भारतीय-संस्कृति कह सकते हैं। यह कोई सम्प्रदाय नहीं, किन्तु विविध सम्प्रदायों और जातियों के आचार-विचार, विश्वास और आध्यात्मिक साधन का समन्वय है। यह कहने में कोई अतिरञ्जन नहीं है कि भारत और भारतीय-संस्कृति में वही सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा में। भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में यह भारतीयता समान रूप से पायी जाती है।

(क) धार्मिक जीवन— भारत के सभी धार्मिक सम्प्रदाय वेदों और आगमों को प्रमाण मानते हैं। कुछ मतभेद होते हुए भी बहुत-से दार्शनिक सिद्धान्त और प्रायः सभी नैतिक सिद्धान्त सभी को समान रूप से मान्य हैं। ईश्वर, आत्मा, अवतार, तीर्थंकर, बुद्ध, बोधिसत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, योग, भक्ति आदि भारत की समान रूप से सम्पत्ति हैं। यम, नियम, शील, तप और सदाचार पर सभी का आग्रह है। सन्त, महात्मा और महापुरुषों का सम्मान और अनुगमन बिना किसी प्रान्तीय भेद-भाव के सर्वत्र होता है। पूजा-पद्धति भी प्रायः सभी स्थानों में एक-सी है। धार्मिक कर्मकाण्ड और संस्कार एक तरह से किये जाते हैं। गौ, ब्राह्मण, स्त्री और बालक के प्रति सहानुभूति और आदर समान रूप से भारतवर्ष में पाये जाते हैं। भारतीयों के तीर्थस्थान, पवित्र नदियाँ और पर्वत सम्पूर्ण भारत में फैले हैं। कुछ स्थानीय भेदों को छोड़कर धर्मभावना और विश्वास समान रूप से पाये जाते हैं।

(ख) समाज-रचना—प्रायः सम्पूर्ण भारत में समाज की रचना एक ही प्रकार की पाई जाती है। देश के सभी निवासी वर्ण, आश्रम और जाति व्यवस्था को मानते हैं। इस व्यवस्था ने विभिन्न वर्गों में गृहयुद्ध और संघर्ष न उत्पन्न कर सहयोग और सेन्द्रिय एकता पैदा करने की चेष्टा की है। बाहर से आनेवाली सभी जातियों ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया था। मुसलिम और ईसाई भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे। विवाह, खान-पान, शिष्टाचार, आमोद-प्रमोद मनोरंजन, पर्व, उत्सव, मेले आदि भी सारे देश में बहुत मिलते-जुलते हैं।

(ग) साहित्य और कला—भारतीय साहित्य और कला का उद्गम सभी प्रांतों में एक ही है। वह है धार्मिकता, नैतिकता,

रहस्यानुभूति और प्रतीकवाद। साहित्य और कला के आधार कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण अलंकार, रस आदि समान हैं। प्रान्तीय विशेषता होते हुए भी स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और रंगमंच सब में भारतीयता की एक ही परिपाटी और झलक है।

(घ) भाषा—भारतीय संस्कृति का माध्यम और भारत के प्रायः सभी सम्प्रदायों की धर्मभाषा संस्कृत है। धर्म, दर्शन और सांस्कृतिक विचारों का प्रचार और आदान-प्रदान इसी भाषा के द्वारा होता रहा है। राजनैतिक अध्ययन और शासन में भी इसी भाषा का व्यवहार किया जाता रहा है। अंग्रेजी भाषा के प्रचार के पहले अन्त-र्प्रान्तीय उपयोग की भाषा भी संस्कृत ही थी। अंग्रेजी अपने उत्कर्ष काल में भी संस्कृत का सहज अधिकार न छीन सकी। प्राचीन और मध्ययुग में जितने भी आकर-ग्रंथ लिखे गए हैं, वे सभी संस्कृत में ही हैं। भारतीय धर्म, दर्शन, विज्ञान, भाषा, इतिहास, साहित्य सभी के स्रोत संस्कृत भाषा में ही हैं और इनका अध्ययन करने के लिए संस्कृत का ही सहारा लेना पड़ता है। प्रान्त, जाति, सम्प्रदाय, बोली आदि का अतिक्रमण कर संस्कृत ने सभी भारतीयों को एक सांस्कृतिक सूत्र में बांध रखा है। आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं और साहित्यों को अनुप्रेरणा और प्रचुर सामग्री इसीसे मिलती है। शब्दकोष, व्याकरण, रीति-शास्त्र कथा-प्रसंग, विचार-धारा आदि के लिए हम सभी भारतीय संस्कृत के बहुत ही ऋणी हैं।

एकता की शक्ति और सीमा—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय जीवन के कई ऐसे सूत्र हैं जो बहुत ही पुष्ट हैं और बहुत दिनों से भारत की एकता को बनाये हुए हैं। भारत-वर्ष की विविधता के पीछे पारस्परिक सहनशीलता और उदारता है जो एकरूपता पर जोर न देकर एकसूत्रता पर बल देती है। यही भारत की वास्तविक शक्ति रही है। इसी उदारता और लचक ने भारतीय संस्कृति, सभ्यता और जीवन को बल और दीर्घायु प्रदान की है, जो अनेक आक्रमणों और संकटों को सह कर आज भी विद्यमान हैं। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि देश की विशालता और विविधता ने भारतीय जीवन में एक शैथिल्य भी उत्पन्न कर दिया है। एकरूपता का अभाव कई स्थानों और परिस्थितियों में भिन्नता और विषमता उत्पन्न कर

देता है और सामाजिक जीवन ठोस और दृढ़ नहीं हो पाता है। इसीलिए देखा गया है कि भारतीयों में बाहरी आक्रमणों और संकटों को सहने और पुनर्जीवित होने की शक्ति तो है किन्तु वे उनको रोकने में कई बार असफल होते पाये गये हैं। इसलिए विविधता, उदारता और सहनशीलता के साथ-साथ समष्टि भावना, दृढ़ता तथा अन्याय के प्रति असहिष्णुता की भावना को जागृत रखने की बराबर आवश्यकता पड़ी है।

## ६. भारतीय इतिहास की सामग्री

भारतवर्ष के प्राचीन निवासी लेखन-कला से अच्छी तरह परिचित थे और उन्होंने अनेक विषयों पर उत्तम कोटि के ग्रंथ लिखे थे। परन्तु आधुनिक ढंग से लिखा हुआ इतिहास पर कोई भी प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसका यह कारण नहीं कि भारतीय लोग इतिहास का ज्ञान नहीं रखते थे अथवा उसका महत्व नहीं समझते थे। इतिहास का आदर सदा से भारत में होता आया है और उसको पाँचवाँ वेद माना गया है। फिर भी उनकी इतिहास की कल्पना आजकल से भिन्न थी। वे पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्म-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र सभी को इतिहास के अन्तर्गत समझते थे। साथ ही वे तिथिक्रम की अपेक्षा युग-परम्परा को और घटनाओं की अपेक्षा विचार-धाराओं को अधिक महत्व देते थे। देश के सहस्रों वर्षों के इतिहास में तिथियों और तारीखों का कोई महत्व नहीं था। इसलिए तिथिक्रम से लिखा हुआ कोई इतिहास नहीं मिलता। ऐतिहासिक व्यक्तियों का स्थान सत्य, सिद्धान्त, रूपक आदि ले लेते थे। इसलिए केवल युग-प्रवर्तक पुरुषों के ही संबंध में विशेष रूप से कुछ लिखा मिलता है। परन्तु यह सब होते हुए भी भारत के प्राचीन साहित्य में इतिहास की बहुत सामग्री भरी हुई है। पुरातत्ववेत्ताओं ने अपने अथक परिश्रम और खोजों से इतिहास के बहुत-से साधन ढूँढ़ निकाले हैं, जिनके आधार पर आधुनिक ढंग के ग्रंथ लिखे जा सकते हैं और भारत के अतीत पर काफी प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय इतिहास के साधनों को मोटे तौर पर चार भागों में बाँटा जा सकता है:—(१) साहित्य और अनुश्रुति (२) ऐतिहासिक तथा समसामयिक ग्रंथ (३) पुरातत्व और (४) विदेशी लेखकों और यात्रियों के विवरण।

## (१) साहित्य और अनुश्रुति

यह विभाग सम्प्रदाय भेद से तीन उप-विभागों में बँटा हुआ है—(क) ब्राह्मण (ख) बौद्ध और (ग) जैन।

**(क) ब्राह्मण-साहित्य और अनुश्रुति**—ब्राह्मण-साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ वेद हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। ये मुख्यतः धार्मिक ग्रंथ हैं, किन्तु प्रसंग से इनके द्वारा सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। वेदों के बाद ब्राह्मण-ग्रंथ आते हैं। इनमें यज्ञों का सविस्तर वर्णन और वैदिक मंत्रों का प्रयोग, व्याख्या और उनके ऊपर आख्यान मिलते हैं। स्थान-स्थान पर राजनीति, नीति और सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यकों में सबसे पहले स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया गया है। वैदिक साहित्य का अंतिम स्तर उपनिषदों में है। इनमें दार्शनिक समस्याओं पर सविस्तर विचार किया गया है।

वैदिक साहित्य के पश्चात् सूत्र साहित्य प्रारम्भ होता है। सूत्रों के तीन विभाग हैं—(१) कल्पसूत्र (२) गृह्यसूत्र और (३) धर्मसूत्र। कल्पसूत्रों में वैदिक यज्ञों का शास्त्रीय ढंग से वर्गीकरण और वर्णन किया गया है। गृह्यसूत्र में गृहस्थ से सम्बन्ध रखने वाले संस्कारों, कर्मकाण्ड और मौसमी यज्ञों का विधान है। सामाजिक और धार्मिक जीवन पर इनसे बहुत प्रकाश पड़ता है। धर्मसूत्रों में सामाजिक, राजनैतिक और वैधानिक व्यवस्था दी हुई है। भारतीय इतिहास में कानूनी साहित्य का श्रीगणेश यहीं होता है। सूत्रसाहित्य के साथ-साथ वेदाङ्गों को भी रखा जा सकता है जो सूत्ररूप में ही लिखे गए हैं। वेदाङ्ग छः हैं—(१) शिक्षा (शुद्ध उच्चारण का शास्त्र) (२) कल्प (यज्ञीय विधि-विधान) (३) निरुक्त (शब्दों की उत्पत्ति और निर्माण का शास्त्र) (४) व्याकरण (शुद्ध बोलने और लिखने का शास्त्र) (५) छन्द (पिंगल) और (६) ज्योतिष। विभिन्न शास्त्रों और विद्याओं का इतिहास पहले-पहल इन्हीं ग्रन्थों में मिलता है।

सूत्रों के बाद अपने वर्तमान रूप में रामायण और महाभारत दो भारतीय महाकाव्य आते हैं। रामायण के रचयिता वाल्मीकि ने अपने नायक राम के चरित्र के आधार से तत्कालीन राजनीति, समाजनीति,

धर्म और दूसरे अनेक विषयों का चित्रण किया है। मूल महाभारत के रचयिता व्यास जी थे, किन्तु इसके कम-से-कम तीन संस्करण हुए हैं—जय, भारत और महाभारत। यह ग्रन्थ वर्तमान रूप में प्राचीन इतिहास, आख्यान और उपदेशों का आकर(खान)है। मनुष्य की दिलचस्पी का शायद ही ऐसा कोई विषय हो जिस पर इससे प्रकाश न पड़ता हो। साधारण परिभाषा में रामायण आदि काव्य और महाभारत इतिहास माना जाता है। इन दोनों ग्रन्थों के साथ ही पुराणों का उल्लेख करना आवश्यक है। शायद रचना-क्रम में ये अपने मुख्य भागों में महाकाव्य के ही समकालीन हैं, परन्तु विषय की दृष्टि से भारतीय इतिहास के आदिमकाल से लेकर गुप्त काल तक की सामग्री इनमें संगृहीत है। पौराणिक परिभाषा के अनुसार इनमें पाँच विषय हैं—(१) सर्ग ( सृष्टि ) (२) प्रतिसर्ग (३) वंश ( देवताओं का ) (४) मन्वन्तर और (५) वंशानुचरित ( राजवंशों का क्रमिक इतिहास )। राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से वंशानुचरित बड़े काम का है। वास्तव में ये पुराण पुरानी शैली के विश्वकोष हैं, जिनमें विविध विषयों का वर्णन है।

संस्कृत-साहित्य के धर्मशास्त्र (स्मृतियाँ) और उन के भाष्य, टीका और उनके आधार पर लिखे हुए निबन्ध ग्रन्थों का विस्तार बड़ा बिशाल है। कानून, न्याय और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के इतिहास के लिए धर्मशास्त्र में प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों, नाटकों, आख्यानों और कथा-साहित्य से भी भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

(ख) बौद्ध-साहित्य—इस साहित्य का सबसे पुराना स्तर जातकों का है। इनमें भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथायें हैं। काल्पनिक होने पर भी ये अपने समय और उसके पहले के समाज का चित्र हमारे सामने उपस्थित करती हैं। त्रिपिटकों में भगवान् बुद्ध के वचनों और सिद्धांतों का संग्रह है। त्रिपिटक तीन हैं—(१) सुत्तपिटक (२) अभिधम्मपिटक और (३) विनयपिटक। महावंश और दीपवंश लंका के पाली महाकाव्य हैं। इनमें लंका के इतिहास के साथ-साथ, धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण, भारतीय इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। मिलिन्द-प्रश्न में यूनानी राजा मिलिन्द (मीनाण्डर) और बौद्ध महात्मा

नागसेन का सम्वाद है। प्रसंगतः तत्कालीन राजनैतिक अवस्था, समाज, धर्म, व्यापार आदि का अच्छा वर्णन इसमें मिलता है। महावस्तु, ललितविस्तर और बुद्ध चरित में भगवान् बुद्ध के जीवन के साथ-साथ जीवन के सामयिक पहलुओं पर भी रोशनी पड़ती है। दिव्यावदान में दो अवदान अशोक और कुणाल के ऊपर हैं जिनमें मौर्यवंश के इतिहास की सामग्री मिलती है। मञ्जुश्री मूलकल्प नामक ग्रंथ में प्राचीन राजवंशों का संक्षिप्त और गूढ संकेतों में इतिहास मिलता है। दूसरी-तीसरी शताब्दी के बाद का सारा बौद्ध साहित्य प्रायः संस्कृत में है जिसमें धर्म, दर्शन और काव्य पर अनेक बहुमूल्य ग्रंथ हैं।

(ग) जैन-साहित्य—भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए जैन साहित्य से भी काफी सामग्री मिलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ आचार्य हेमचन्द्र लिखित परिशिष्ट-पर्वन् है। इसमें जैन साहित्य की बिखरी हुई ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित कर दी गई है। जैन साहित्य का दूसरा उपयोगी ग्रंथ भद्रबाहु-चरित्र है। इसमें जैनाचार्य भद्रबाहु के जीवन के साथ चन्द्रगुप्त मौर्य (द्वितीय) के जीवन की घटनाएं दी हुई हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कथाकोष, लोक-विभाग, पुण्याश्रव-कथाकोष, त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, आवश्यक-सूत्र, भगवती-सूत्र, कालिका-पुराण और अनेकों निबंध-ग्रन्थ आदि जैन रचनायें ऐतिहासिक अध्ययन के लिए आवश्यक हैं। दुर्भाग्य से जैन साहित्य के अभी बहुत-से ग्रन्थ अप्रकाशित हैं और उनका हिन्दी या अन्य प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद नहीं हुआ है। इसलिए भारतीय इतिहास के लिखने में इन ग्रन्थों का अभी तक उपयोग नहीं हो सका है।

## (२) ऐतिहासिक तथा समसामयिक ग्रंथ

भारतीय लेखन-शैली के अनुसार इतिहास-पुराण के वर्ग में बहुत-से ग्रन्थ आ सकते हैं, परन्तु आधुनिक शैली से मिलता-जुलता ऐतिहासिक ग्रंथ संस्कृत भाषा में कल्हण-रचित राजतरङ्गिणी ही है। इसमें प्राचीन काल से लेकर बारहवीं-शताब्दी तक का काश्मीर का इतिहास दिया हुआ है। साहित्यिक शैली और किम्वदन्तियों के मिश्रण से इसका ऐतिहासिक मूल्य कुछ कम हो जाता है, फिर भी भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए यह बहुत उपयोगी ग्रंथ है। दूसरे समसाम-

यिक ग्रंथों में भी जीवन-चरित्र और इतिहास के साथ-साथ जनश्रुतियों का मिश्रण है, परन्तु इनमें ऐतिहासिक अध्ययन के लिए बहुत सामग्री भरी पड़ी है। इनमें से निम्नलिखित विशेष महत्व के हैं। वाण-रचित हर्षचरित नामक ग्रंथ में हर्षवर्धन के प्रारम्भिक जीवन और तत्कालीन राजनीति, समाज तथा धर्म का आलंकारिक चित्रण है। वाक्पति-राज के प्राकृत काव्य गौडवहो में कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के दिग्विजय का सविस्तर वर्णन है। पद्मगुप्त परिमल द्वारा लिखे हुए नवसाहसांक चरित से परमारवंश के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। काश्मीरी पण्डित विल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित नामक ग्रंथ ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में लिखा, जिसमें कल्याणी के चालुक्य-वंश के इतिहास पर रोशनी पड़ती है। इसी प्रकार सन्ध्याकर नन्दी के रामचरित, जयानक-रचित, पृथ्वीराजविजय और आनन्दभट्ट-लिखित वल्लालचरित क्रमशः पाल, चौहान और सेनवंश के इतिहास के लिए उपादेय हैं। मुसलिम आक्रमण और शासन के इतिहास के लिए चचनामा, तारीखे यामिनी तारीखस्सुबुक्तगीन, तारीखे अल्फी, तारीखे नासिरी, तबकाते अकबरी, अकबरनामा, आइने-अकबरी, तुजुक जहाँगीरी, इकबालनामा जहाँगीरी, बादशाहनामा, आलमगीरनामा, बहादुरशाहनामा, आदि ग्रन्थ उपयोगी हैं। इस काल के लिए फिरिश्ता द्वारा संकलित इतिहास भी बड़े काम का है। आधुनिक काल के लिए लिखित सामग्री मराठों, सिक्खों और मुसलिम शासकों और अंग्रेजों के सरकारी कागजात, पत्र-व्यवहार, संस्मरण, जीवन-चरित्र और इतिहास के रूप में पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। इधर की सामग्रियों में यह दोष है कि ये विदेशी आक्रमणकारियों और शासकों की दृष्टि से लिखी गई हैं और प्रायः घटनाओं का एक ही पक्ष अच्छी तरह हमारे सामने रखती हैं।

### (३) पुरातत्व

भारतीय इतिहास के निर्माण में पुरातत्व का एक बड़ा स्थान है। पुरातत्व की खोजों और खनन से मिली हुई ऐतिहासिक सामग्री चार भागों में बाँटी जा सकती है:—(१) खनन और उससे निकली सामग्री (२) उत्कीर्ण लेख (३) मुद्रायें अथवा सिक्के और (४) स्मारक ( भवन, मूर्तियां आदि )।

(क) खनन—प्राचीन अवशेषों, खंडहरों और स्थानों की

खुदाई और उससे मिली वस्तुओं—ईंट, हथियार, औजार, बर्तन आदि—से उस काल पर प्रकाश पड़ता है, जिसका कोई लिखित इतिहास नहीं है। प्रागैतिहासिक भारत का सारा इतिहास इन्हीं के आधार पर लिखा जा सकता है। ऐतिहासिक काल के बीच-बीच में भी ऐसे समय हैं जिनका लिखित इतिहास नहीं मिलता। ऐसे समयों का इतिहास भी इन्हीं सामग्रियों की अपेक्षा रखता है।

(ख) उत्कीर्ण लेख—उत्कीर्ण या खुदे हुए लेखों के, सामग्री के आधार पर, कई भेद हैं:—(१) गुफा लेख (२) शिला लेख (३) स्तम्भ-लेख और (४) ताम्र-पत्र। विषय-भेद से कुछ राजशासन, कुछ प्रशस्ति, कुछ दान-पत्र, कुछ समर्पण-पत्र और कुछ स्मारक हैं। इन लेखों से राजाओं तथा व्यक्तियों के नाम, उनके वंश, तिथि, कृतियां, सामयिक घटनायें, देश की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाओं पर काफी प्रकाश पड़ता है।

(ग) मुद्रा—भारत का प्राचीन इतिहास लिखने में सिक्के और मुहरें भी बड़े काम की सिद्ध हुई हैं। बहुत पुराने सिक्कों पर स्थानीय और धार्मिक चिह्न बने हुए हैं। मौर्यकाल के बाद के सिक्कों पर शासकों (कभी-कभी उनके पिता के भी) नाम, उनकी उपाधियाँ और मूर्तियाँ अंकित होती हैं। कुछ सिक्कों पर तिथियाँ भी खुदी होती हैं। राजाओं की वंशावलियाँ, उत्तराधिकार और तिथि-क्रम ठीक करने में इन मुद्राओं से बड़ी सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त देश के सांस्कृतिक जीवन पर भी इनसे प्रकाश पड़ता है।

(घ) स्मारक—इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के भवनों और मूर्तियों का समावेश है। भवन में राजप्रासाद, सार्वजनिक हाल, साधारण लोगों के मकान, मठ, चैत्य, स्तूप, विहार, मंदिर, समाधि, मसजिद, मकबरा रौजे, ईदगाह आदि आ जाते हैं। मूर्तियों में हिन्दू, बौद्ध और जैन देवी-देवताओं की प्रतिमायें और यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, पशु-पक्षी आदि की मूर्तियां सम्मिलित हैं। स्मारकों के अध्ययन से न केवल स्थापत्य और मूर्तिकला पर ही प्रकाश पड़ता है, किन्तु उस समय के धार्मिक विश्वास, पूजा-पद्धति और सामाजिक जीवन पर भी रोशनी पड़ती है। पुराने भवनों और मूर्तियों के बहुमूल्य नमूने काल और

बर्बर आक्रमणकारियों की नृशंसता से नष्ट हो गए, परन्तु उनके खंडहर और अवशेष अब भी मिलते हैं। राजपूत और मुस्लिम काल की बहुत-सी इमारतें और मूर्तियाँ अपने मूल रूप में अब भी मिलती हैं। उनसे तत्कालीन कला का चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है।

## (४) विदेशी लेखकों और यात्रियों के विवरण

भारतवर्ष जिन-जिन देशों के व्यापारिक,राजनैतिक और सांस्कृतिक या धार्मिक सम्पर्क में आया वहां के कुछ लोग सुनी-सुनाई बातों के आधार पर भारत का वृत्तान्त लिखते रहे; कुछ लोग उत्सुकता या जिज्ञासा से इस देश में यात्रा के लिए आये और अपने निरीक्षण तथा अनुभव को पुस्तक-रूप में लिख गये; कुछ लोग विदेशी राजाओं के दूत बन कर भारतीय राजाओं की सभा में आये और इस देश की राजनीति, समाचार, धर्म, आचार, व्यवहार आदि पर अपने निरीक्षण लेखबद्ध कर गये। विदेशी होने के कारण भारत के सम्बन्ध में इनका ज्ञान और निरीक्षण बहुत-से स्थानों पर भ्रामक है, फिर भी सावधानी के साथ उनका उपयोग किया जा सकता है।

सबसे पुराने लेखक और यात्री यूनानी थे। कालक्रम से इनके तीन वर्ग बन सकते हैं :—(१) सिकन्दर-पूर्व (२) सिकन्दर-कालीन और (३) सिकन्दर के परवर्ती। सिकन्दर के पूर्ववर्ती लेखकों के विवरण भारत के साथ घने सम्पर्क के अभाव में बहुत प्रामाणिक नहीं हैं। सिकन्दर के समकालीन और अनुयायियों में अरिस्टोबुलस, निआर्कस, चारस और युमेनीस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपनी आंखों-देखी घटनाओं और वस्तुओं का वर्णन किया है। सिकन्दर के परवर्ती लेखकों में मेगस्थनीज़, डायमेकस, प्लिनी, टाल्मी, डायोडोरस एरियन, प्लुटार्क, कर्टियस, जस्टिन, स्ट्रैबो आदि के नाम लिये जा सकते हैं। मेगस्थनीज़ सिल्यूकस निकेटर का राजदूत होकर चन्द्रगुप्त की सभा में छः वर्ष रहा और इण्डिका नामक ग्रन्थ में अपने अनुभवों और निरीक्षणों को लिख गया।

दूसरे खेवे के विदेशी यात्री और लेखक चीनी थे। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार होने से चीन और भारत के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। भारत से कितने उपदेशक और आचार्य बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए चीन गये। चीन से कई एक श्रद्धालु बौद्ध भारत

में तीर्थाटन, पुस्तकान्वेषण और बौद्ध विद्यापीठों में अपनी ज्ञान-पिपासा तृप्त करने के लिए आये। इनमें से चार के यात्रा-वर्णन भारतीय इतिहास के निर्माण के लिए विशेष महत्व के हैं। फाहियान नामक चीनी यात्री ने ३६६ ई० में कठोर और लम्बी यात्रा करके पश्चिमोत्तर से भारत में प्रवेश किया और चौदह वर्ष तक इस देश में घूमता रहा। इसका यात्रा-वर्णन गुप्त-कालीन इतिहास के लिए उपयोगी है। सुंगयुन नामक दूसरा चीनी यात्री ५१८ ई० में पुस्तकों की खोज करने भारतवर्ष में आया और तीन वर्ष की यात्रा करके एक सौ सत्तर पुस्तकों के साथ चीन लौट गया। चीनी यात्रियों में हुयेनसंग का स्थान सबसे ऊंचा है। वह ६२६ ई० के लगभग, जब हर्षवर्धन कान्यकुब्ज में राज्य कर रहा था, भारत में आया और सोलह वर्षों तक बौद्ध तीर्थस्थानों, मठों, विहारों, विश्वविद्यालयों और राज-सभाओं में घूमता रहा। कान्यकुब्ज ( कन्नौज ) और नालन्दा में वह विशेष रूप से रहा। इसके यात्रा-वर्णन में भारतीय धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन के अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है। इत्सिंग नामक चीनी यात्री सातवीं शताब्दी के अंत में भारत में आया। पतनोन्मुख नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों और तत्कालीन परिस्थितियों पर इसके यात्रा-वर्णन से प्रकाश पड़ता है।

मध्यकालीन अरबी यात्रियों और लेखकों में अलबेरूनी, सुलेमान, अबूजईद, इब्न खुर्दादबा, इब्न मसूदी, इब्न हौकन, इब्न बतूता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से अलबेरूनी का तहकीके-हिन्द नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। यह महमूद गजनवी के साथ हिन्दुस्तान में आया और बहुत ध्यान और विद्वत्तापूर्वक भारतीय जीवन का अध्ययन किया। इस ग्रंथ से तत्कालीन भूगोल, राजनीति, धर्म, दर्शन समाज, विद्या, रीति-रिवाज, आचार आदि पर काफी प्रकाश पड़ता है। उत्तर मध्यकालीन और आधुनिक समय में बहुत-से मुस्लिम और यूरोपीय यात्री इस देश में आये। इनके यात्रा-वर्णन तत्कालीन उपलब्ध सरकारी कागज-पत्रों और इतिहासों के पूरक हैं।

# दूसरा अध्याय

## प्रागैतिहासिक भारत

### मनुष्य और सभ्यता का उदय

यह बात अभी विवादग्रस्त है कि सबसे पहले पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति कहाँ हुई। कई विद्वानों का कहना है कि मनुष्य की सृष्टि सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुई। चाहे जो हो इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष उन प्राचीनतम देशों में है जहाँ पर मनुष्य जाति ने पहले-पहल अपनी जीवन-लीला प्रारम्भ की। परन्तु मनुष्य शुरू में अपने को पशु-धरातल से बहुत ऊपर न उठा सका। इस धरातल से ऊपर उठकर सभ्य बनने में उसे सहस्रों वर्ष लगे। इस प्रयास का कोई लिखित इतिहास नहीं है। इस लम्बे काल का चित्र विद्वान् लोग जीव-शास्त्र, मानव-शास्त्र तथा पुरातत्व के आधार पर खींचने की चेष्टा करते हैं। इतने बड़े काल का विभाग उन पदार्थों के नाम पर किया गया है जिनके औजार और हथियार बनाकर मनुष्य अपनी रक्षा और जीवन-निर्वाह करता था। ये पदार्थ पाषाण और धातुएं हैं। इसीलिए प्रागैतिहासिक काल को प्रायः निम्नलिखित विभागों में बाँटा गया है:— (१) पूर्व पाषाण-काल (२) उत्तर पाषाण-काल और (३) धातुकाल।

### १ पूर्व पाषाण-काल

(क) बर्बर मनुष्य और उसके साधन—पूर्व पाषाण-काल का मनुष्य बर्बर था। उसका जीवन प्रायः पशुओं का-सा था और उन्हीं के संघर्ष में उसको अपना जीवन बिताना पड़ता था। हिंसक पशुओं के भय से उसका जीवन सदा संकट में रहता था। वह स्वयं भी हिंसक ही था। अपनी रक्षा और जीविका दोनों के लिए उसे हथियारों और औजारों की आवश्यकता थी। असभ्य मनुष्य को इनके बनाने की सबसे सुलभ सामग्री उसके रास्ते में इधर-उधर पड़े हुए पत्थर के टुकड़ों

में मिली। इन्हीं को तोड़-फोड़ और कुछ पैने कर उसने कुल्हाड़ी, तीर के फल, भाले और काटने, खोदने, फेंकने, छेद करने, कूटने तथा छीलने के औज़ार बनाये। साथ-ही-साथ वह जानवरों की हड्डियों और पेड़ की टहनियों का भी उपयोग करता था। इस युग के मनुष्य के सभी औज़ार और हथियार भद्दे और सौंदर्य से रहित थे।

(ख) निवासस्थान और जीविका—इस काल के मनुष्य को अपना घर बनाना नहीं आता था। इसलिए धूप, वर्षा और शीत से बचने के लिए वह पर्वत की कन्दराओं और नदियों या झीलों के छोड़े हुए कगारों की शरण लेता था। ऐसे स्थानों में तत्कालीन जीवन के बहुत-से अवशेष मिले हैं। इन स्थानों से निकल कर मनुष्य अपना निर्वाह जंगल में फल इकट्ठे करके तथा जानवरों के शिकार से करता था। हिरन, भैंसे, सूअर और दूसरे छोटे-छोटे जानवरों का शिकार वह करता था। सम्भवतः आग का उपयोग उसे मालूम न था; इसलिए वह पशुओं की तरह कच्चा भोजन करता था।

(ग) सामाजिक और धार्मिक भाव—मनुष्य स्वभाव से ही छोटे-छोटे झुण्डों में रहता था। इसी काल में उसको लज्जा का भाव भी उत्पन्न हुआ। गुह्य अंगों को उसने ढकना शुरू किया। उसके आदिम वस्त्र पेड़ के पत्ते और छाल थे। छाल को वह कमर में लपेटता और पत्तों की माला बनाकर कटि-प्रदेश से नीचे लटका देता था। पीछे से पशुओं का चमड़ा भी पर्दे का काम देने लगा। अतिभौतिक सत्ता का चाहे कुछ आभास मनुष्य को हो चुका हो, किन्तु धार्मिक भावनाओं का स्पष्ट उदय अभी तक नहीं हुआ था। वह अपने मुर्दों को खुले मैदान में छोड़ देता था, जिनको या तो जंगली जानवर खा जाते अथवा वे स्वयं सड़-गल जाते थे।

(घ) सभ्यता के केन्द्र—इस युग के मानव-जीवन के केन्द्र कई स्थानों में पाये जाते हैं। पुरातत्व विशारदों ने इनका पता मदुरा, तंजोर, त्रिचनापली, मैसूर, बिलारी, धारवार, गुजरात, रीवा, बुन्देलखण्ड, राजपूताना आदि प्रान्तों में लगाया है। उत्तर-पूर्व भारत में एतत्कालीन सभ्यता के चिह्न कम मिलते हैं, क्योंकि यहाँ की नदियों ने या तो इन चिह्नों को अपनी लाई हुई मिट्टी से बहुत नीचे ढक दिया

या बहाकर समुद्र में फेंक दिया।

## (२) उत्तर पाषाण-काल

मनुष्य ने अपने इतिहास के कई हजार वर्ष पूर्व पाषाण-काल में बिताये। परन्तु धीरे-धीरे उसके मस्तिष्क और ग्रहण-शक्ति का विकास होता गया। उसने अपनी स्मृति, अनुभव और परम्परा से लाभ उठाया और उत्तर पाषाण-काल में प्रवेश किया। यद्यपि इस काल में भी उसके औजार और हथियार पत्थर के ही थे, किन्तु उनके निर्माण में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विविधता, कुशलता और सौंदर्य पाये जाने लगे। मनुष्य ने जीवन के दूसरे कई क्षेत्रों में भी काफी उन्नति कर ली। वास्तव में मानव-सभ्यता की आधारशिला इसी युग में रखी गयी।

(क) निवास-स्थान—प्रकृति के दिये हुए खोहों और कन्दराओं पर अवलम्बित न रहकर मनुष्य ने अपनी बुद्धि और हाथों से काम करना शुरू किया। गुफाओं और नदी के छोड़नों का त्याग कर उसने नदी-तट और पहाड़ियों की समतल पीठों पर अपना मकान बनाने का प्रयास किया। पत्थर के टुकड़े और मिट्टी के बड़े-बड़े ढेले एक दूसरे के ऊपर रखकर मकान की दीवारें बनायीं। फूस, पेड़ों की टहनियाँ, लकड़ी और जानवरों की हड्डियाँ जोड़कर मकान की छत तैयार की। ये मकान कई के झुंड में बनते थे जो मनुष्य की सामाजिकता और संघटन को प्रकट करते थे।

(ख) औजार और हथियार—इनमें आश्चर्यजनक विकास और विविधता पायी जाती है। शांति, युद्ध और विलासिता के लिये उपयोगी सभी प्रकार के औजार और हथियार मनुष्य बनाने लगा। इनके बनाने में सामग्री का चुनाव भी वह करने लगा और आकार की सुन्दरता और रंग के आकर्षण में रुचि भी उत्पन्न हुई। लकड़ी और हड्डी का अधिक उपयोग होने लगा। मिट्टी के सामान बनने भी आरम्भ हो गये। इनके सादे और अलंकृत सभी तरह के नमूने मिलते हैं।

(ग) उद्योग-धंधे—मनुष्य के व्यवसाय और उद्योग-धंधों में भी बड़ी उन्नति हुई। उसके पुराने व्यवसाय जंगल के फल-मूल का

एकत्र करना और शिकार तो जारी रहे। परन्तु अब उसने अनुभव किया कि शिकार से उसके जीवन की समस्या सरल नहीं हो रही थी। शिकार एक तो अनिश्चित था, दूसरे मारे हुये जानवरों का मांस दो-तीन दिन से अधिक चलता न था। इसलिए उसने पशुओं को केवल मारने के स्थान में उसने पशु-बन्धन, पशुचारण और पशुपालन का व्यवसाय शुरू किया। गाय, बैल और भैंस के साथ-साथ भेड़, बकरी और पक्षी भी पाले जाने लगे। इस समय के उद्योग-धंधों में सबसे क्रांतिकारी आविष्कार खेती का था। जंगलों में अपने आस-पास की भूमि साफ कर खेती होने लगी। इसके पहले मनुष्य प्रायः घुमक्कड़ था। खेती के द्वारा उसने एक स्थान पर जमकर रहना सीखा और मनुष्य की जनसंख्या और सभ्यता का विकास तेजी से होने लगा। बढ़ई, पत्थरकट, कुम्हार, बुनकर, रंगरेज आदि के काम भी शुरू हो गये।

(घ) भोजन और अग्नि का उपयोग—पूर्व पाषाण-काल में मनुष्य कच्चा भोजन भद्दे तरीके से करता था। भोजन पकाने की कला का आविष्कार नहीं हुआ था। उसने पत्थर टूटने से चिनगारियाँ, पेड़ों की डालों की रगड़ से आग लगना और कभी-कभी जगल की भयानक आग को देखा था। अकस्मात् उसने दावानल से जले-भुने जानवर का मांस खाया जो स्वाद में अच्छा लगा। इस अनुभव से उसने पत्थर या लकड़ी की रगड़ से आग पैदा करना और उससे खाना बनाना सीखा। खाद्य-पदार्थों में फल, मूल, मांस आदि थे। पेय-पदार्थों में दूध, ताड़ी और दूसरे पेड़ों और पौधों के रस सम्मिलित थे। दूध से दही बनाने और घी निकालने का ढंग भी इसी काल में मालूम हुआ।

(ङ) वस्त्र और आभूषण—पूर्व पाषाण-काल में पत्ते, छाल और चमड़े से मनुष्य अपना शरीर ढकता था। उत्तर पाषाण-काल में कपास का आविष्कार होने से बुनाई का काम भी प्रारम्भ हुआ। पशुओं के ऊन से भी कपड़े तैयार होने लगे। रंग का आकर्षण मनुष्य में स्वाभाविक था। वनस्पति से तैयार किये हुये रंगों से लाल, पीले, हरे और नीले कपड़े रंगे जाने लगे। कपड़ा पहनने का ढंग बड़ा सरल था। एक लम्बे कपड़े के आधे भाग को कमर में लपेट लिया जाता था और आधे को कंधों पर फेंक देते थे। पुरुष शिर पर

पगड़ी बांधते थे और स्त्रियाँ एक प्रकार का अधोवस्त्र (लहंगा जैसा) पहनती थीं। बाल संवारने की प्रथा भी जारी हो गयी थी। पत्थर, कौड़ी, सीप, हड्डी आदि की बनी हुई मालाओं, बालियों, अंगूठियों, कड़ों, बाजुओं और कंकणों से पुरुष और स्त्री—विशेषकर स्त्री—अपने शरीर का शृंगार करते थे।

(च) जाति और वर्ग—इस काल के मनुष्य कई समुदायों, जातियों और वर्गों में बंटने लगे। समुद्रतट, झील, वन, मैदान, पर्वत और रेगिस्तान के लोग एक दूसरे से अलग रहते थे और उनमें एक दूसरे के प्रति वर्जनशीलता (अलग रहने) की भावना जागृत हुई। उनके रहन-सहन और रीतिरिवाज में भी भिन्नता थी। वास्तव में जाति-प्रथा का जन्म यहीं पर हुआ, जो वर्ण-प्रथा से बहुत प्राचीन और इस देश की आदिम संस्थाओं में से है। विभिन्न व्यवसाओं के आधार पर एक ही प्रदेश में भी कई जातियाँ और वर्ग बनने लगे।

(छ) परिवार और नेता—पशुचारण और खेती के व्यवसाओं ने मनुष्य को बड़े परिवारों में रहने के लिये बाध्य किया, जिससे माता-पिता, भाई-बहन आदि के सम्बन्ध दृढ़ हो गये और परिवार के प्रति ममता उत्पन्न हुई। परिवार का सबसे बलवान और अनुभवी पुरुष परिवार का नेता होता था। पशुचारण में चरागाहों के लिये प्रायः लड़ाइयां हुआ करती थीं। इसलिये कई परिवारों के समूह के लिये एक योग्य नेता की आवश्यकता होती थी, जो किसी एक परिवार से चुन लिया जाता था। बहुत-से समाज-शास्त्रियों का मत है कि इसी प्रकार के नेता से राज-संस्था का विकास हुआ।

(ज) धार्मिक भावना—इस युग के मनुष्य ने धार्मिक जीवन में भी कई चरण आगे बढ़ाये। इस समय के धर्म को भूतवाद कहा जा सकता है, जिस के अनुसार मनुष्य भौतिक पदार्थों में एक प्रकार की जीवन-शक्ति का अनुभव करता था। यद्यपि किसी अतिभौतिक सत्ता के साथ इन जीवों का सम्बन्ध मनुष्य जोड़ न सका, किन्तु जीवन-मरण के सम्बन्ध में उसके विचार पहले से अधिक स्थिर हो गये। मृतकों की हड्डियां रखने के लिये अस्थि-पात्रों तथा शव के ऊपर बनी हुई समाधियों से स्पष्ट मालूम होता है कि इस समय के लोग जीवन-शृंखला और पुन-

जन्म में विश्वास करते थे और अपने पितरों की पूजा भी करते थे। भूतों से आविष्ट प्रस्तरखंडों की पूजा शुरू हुई जो क्रमशः लिंग पूजा के रूप में विकसित हुई। चढ़ावे में अन्न, दूध, मांस आदि पदार्थ अर्पित किये जाते थे। देश के निचले स्तर के लोगों के धार्मिक विश्वास और पूजा-पद्धति का ढांचा इस समय लगभग तैयार हो गया था।

(झ) भाषा और कला—सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने पदार्थों और भावों को व्यक्त करने की कला में भी उन्नति की। विभिन्न स्थानों में विविध जातियों और समूहों की बोलियाँ स्थिर होने लगीं और जीवन के विस्तार के साथ उनका शब्द-भाण्डार भी बढ़ने लगा। इस युग की कला की व्यञ्जना विशेषकर मिट्टी के बने हुए बर्तनों के ऊपर मिलती है। रंग का चुनाव, आकार की सजीवता और भाव का प्रत्यक्षीकरण—इन सबका सामञ्जस्य आदिम रूप में यहाँ प्राप्त होता है। शिलाओं और पर्वत-कन्दराओं की दीवारों पर रेखा-चित्र भी अंकित मिलते हैं। यद्यपि ये भद्दे तरीके के हैं, फिर भी मनुष्य के कलात्मक प्रयत्न के सबसे पुराने नमूने हैं। मनुष्य इन चित्रों में प्रकृति का अनुकरण और कहीं-कहीं स्वयं सृजन करता हुआ दिखाई पड़ता है।

## ३. धातु-काल

पाषाण-काल के अंतिम दिनों में ही धातुओं का आविष्कार और उनका थोड़ा उपयोग शुरू हो गया था। मनुष्य को सबसे पहले सोने का पता लगा, इसकी चमक में एक प्रबल आकर्षण था। इसकी खोज में मनुष्य प्रायः इधर-से-उधर घूमता रहा। परन्तु सोने का उपयोग केवल आभूषण के लिये होता था। इसलिये मनुष्य के साधारण जीवन के विस्तार में इससे कुछ सहायता नहीं मिली। भारतवर्ष सोने के सबसे पुराने उद्गमों में से है, किन्तु इससे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न होते देख मनुष्य ने अधिक मात्रा में मिलने वाली और उपयोगी धातुओं की खोज की। पाषाण-काल के बाद उत्तर भारत में ताम्र-काल परन्तु दक्षिण में लौह-काल प्रारम्भ होता है। इस देश के इतिहास में शुद्ध कांस्य-काल का अभाव-सा है। केवल सिन्ध में इस काल की कुछ विशेषतायें मिलती हैं। ताम्बे के साथ-साथ चाँदी का आविष्कार भी हो गया था।

इस काल की संस्कृति में कुछ नयी बातें उल्लेखनीय हैं। धातुओं के उपयोग ने मनुष्य की शक्ति और योग्यता को बढ़ाया। उसके औज़ार और हथियार पहले की अपेक्षा अधिक कड़े, तीक्ष्ण और स्थायी बनने लगे। एतत्कालीन पदार्थों के देखने से मालूम होता है कि इस समय के लोग केवल उपयोगिता पर ही ध्यान न देते थे, परन्तु सौंदर्य और कला का भी काफी ध्यान रखते थे। हथियारों के मुठियों पर स्वस्तिक और क्रॉस बने मिलते हैं, जो मनुष्य जाति के सबसे पुराने धर्म, कल्याण और शोभा के चिह्न हैं। कवच के नमूने भी पाये जाते हैं जिनसे तंत्र, मंत्र, जादू-टोने में विश्वास प्रकट होता है। मृतक-संस्कार प्रायः दाह-क्रिया से होता था, यद्यपि गाड़ने की प्रथा अभी जारी थी। नयी धातुओं के आविष्कार से आभूषणों के बनाने में भी उन्नति हुई। सोने के विजायठ, शिरोभूषण, मुकुट, हार, कलश आदि बनते थे और चाँदी, टिन, सीसा आदि धातुओं का उपयोग भी गहनों के बनाने में होने लगा।

## ४. सिन्धु-घाटी की सभ्यता

इसको सिन्धु-घाटी की सभ्यता इसलिये कहते हैं कि इसके अवशेष प्रायः सिन्धु नदी की घाटी में मिलते हैं। पुरातत्व-विभाग की ओर से जिन स्थानों में इस ओर खोदाई हुई है वे हैं हरप्पा (पंजाब के मांटगोमरी के जिले में), मोहेंजोदारो [1] (सिन्ध के लरकना जिले में) और नाल ( बलोचिस्तान में )। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इसके समान सभ्यता के अवशेष गंगा की घाटी में भी मिल सकते हैं। इसकी समानता सुमेर और अक्काद की सभ्यता से भी है। इस प्रकार सिन्धु घाटी की सभ्यता एक व्यापक सभ्यता की शृंखला है। इस सभ्यता को ताम्र-पाषाण कालीन सभ्यता भी कहते हैं, क्योंकि इसके अवशेषों में ताम्बे और पत्थर के बने सामानों की प्रधानता है। इसके सबसे पुराने अवशेष पाषाण और धातु-काल की सन्धि और संक्रमण के समय के हैं। इस समय तक मानव सभ्यता काफी विकसित हो चुकी थी, जिसका वर्णन नीचे की पंक्तियों में मिलेगा :

---

१ मोहेंजोदारो का अर्थ है 'मृतकों का ढूह'। इस स्थान का यह नाम उसके पुराने खंडहरों के कारण पड़ा।

(क) प्राचीन और आधुनिक सिन्ध—हरप्पा और मोहेंजो-दारो के अवशेषों के मिलने के पहले शायद कोई सोच भी नहीं सकता था कि ऐसे वीरान और रेगिस्तानी स्थानों में भी किसी समय एक बहुत उन्नत सभ्यता फूली-फली थी। परन्तु बड़े-बड़े नगरों के मिले हुए अवशेषों ने अब सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन काल में इस प्रान्त का जलवायु और उपज आजकल से बहुत अच्छी थी। यहाँ काफी वर्षा होती थी। इस बात के प्रमाण मकानों की गहरी नीव, दीवारों की बनावट और नगर से पानी निकालने की मोरियों की जाल हैं। महाभारत-काल तक सिन्धु-सौवीर का धनी प्रदेश यहीं पर था। सिकन्दर के समय तक यहाँ अच्छी बस्ती थी। जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों और नदी-पथ की तबदीलियों ने इस प्रदेश को वीहड़ रेगिस्तान और सभ्यता के लिये अयोग्य बना दिया।

(ख) इस सभ्यता का समय—सिन्धु घाटी की सभ्यता ताम्रकालीन सभ्यता से उत्पन्न है। ऐतिहासिकों ने इसकी प्राचीनता ईसापूर्व तीन और चार हजार वर्ष के बीच आँकी है। यहाँ की खोदाई में जल के धरातल तक प्राचीन नगरों के खंडहरों के, एकके ऊपर दूसरे सात स्तर मिले हैं। मोटेतौर पर यदि एक नगर के बसने, पनपने और गिरने के लिये पाँच सौ वर्ष का समय दिया जाय तो पूर्वापर सात नगरों के बसने, विकसने और गिरने के लिये लगभग पैंतीस सौ वर्ष लगे होंगे। सबसे नीचे का स्तर भी सभ्य नगर का अवशेष है जिसके पूर्व सभ्यता विकसित हो चुकी थी और यदि भूगर्भ का पानी बीच में बाधा न डालता तो सातवें स्तर के नीचे भी खंडहरों के स्तर मिल सकते हैं। इस प्रकार सिन्धु-घाटी की सभ्यता कम-से-कम ईसा-पूर्व चार हजार वर्ष की है।

(ग) इस सभ्यता के निर्माता—इस सभ्यता के निर्माता कौन थे, यह प्रश्न काफी विवाद-ग्रस्त है। सिन्धु-घाटी में मिले हुए मानव शरीर के अवशेषों से यह समस्या हल नहीं होती। मनुष्यों की जितनी खोपड़ियाँ यहाँ मिली हैं उनके शिर की लम्बाई-चौड़ाई के माप के वर्गीकरण करने पर संसार की सभी जातियों का यहाँ बसना सिद्ध होता है। हो सकता है कि समृद्ध

व्यापारिक केन्द्र होने के कारण विभिन्न देशों के लोग यहाँ आते रहे हों। परन्तु प्रश्न यह है कि यहाँ की प्रधान जाति कौन थी। यह पहले कहा जा चुका है कि इस सभ्यता की शृंखला अक्काद और सुमेर तक फैली हुई थी। कुछ विद्वानों ने इस सभ्यता को आर्येतर और द्राविड माना है, परन्तु इसके उचित प्रमाण नहीं मिलते। वेदों और पौराणिक अनुश्रुतियों से यह पता लगता है कि मध्यदेश से अपने प्रसार में आर्यों को पश्चिमोत्तर भारत में असुरों से काफी लड़ना पड़ा था। असुर जाति, भाषा और संस्कृति में, प्रायः आर्यों के समान थी। युद्ध में आर्यों से पराजित होकर यह ईरान, अक्काद, सुमेर, असीरिया आदि में जा बसी। सिन्धु-घाटी की सभ्यता के निर्माता ये ही थे। सिन्धु और सुमेर की सभ्यताओं में समानता की व्याख्या इस प्रकार आसानी से हो जाती है।

(ग) नगर और भवन-निर्माण—सिन्धु-घाटी की सभ्यता का पहला अंग जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करता है वह है नगर-रचना और भवन-निर्माण। मोहेंजोदारो और हरप्पा के अवशेषों को देखने से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि इस सभ्यता के निर्माता नगर-रचना की कला से परिचित थे और नगर-योजना के अनुसार बसाये गये थे। नगर की सड़कें और गलियाँ सीधी बनी हुई और एक दूसरे को समकोण पर काटती हैं। मकानों के रुख प्रायः सड़कों की ओर हैं। मकानों की बनावट और सामग्री भी बड़ी मनोरंजक हैं। उनकी नीवें गहरी और चौड़ी और दीवारें मोटी और पुष्ट ईंटों की बनी हुई हैं। घर की फर्श पक्की और ईंट की है। प्रत्येक घर में दरवाजे और खिड़कियाँ हैं। ऊपर जाने के लिये सीढ़ियों के टूटे अंश अब भी दिखाई पड़ते हैं, जिससे मालूम होता है कि नगरों के बहुत से मकान दो या अधिक तल्ले वाले थे। प्रायः हरेक मकान में कूआं पाया जाता है। प्रत्येक घर में स्नानागार, अग्निकुंड, गंदे पानी और वर्षाजल निकलने की मोरियां और कूड़ा रखने के घिरौने बने हुए हैं। इन सब बातों के देखने से जान पड़ता है कि घरों के बनाने में आराम, वायुप्रवेश, और सफाई का पूरा ध्यान रखा जाता था। सब मकानों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(१) नागरिकों के रहने के मकान (२) सार्वजनिक भवन (३) सार्वजनिक स्नान-कुंड (४) मंदिर और धर्मस्थान।

मोहेंजोदारो में एक विशाल स्नान-कुंड मिला है। यह बड़े चौकोर आंगन के बीच स्थित है। इसके चारों ओर बरामदे, रास्ते और कमरे हैं। पानी में उतरने के लिए सीढ़ियां और नहाने के लिये चबूतरे हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस कुंड का धार्मिक महत्व था और विशेष पर्वों पर इसमें स्नान किया जाता था; कुछ के मत में यह तैरने और मनोविनोद का साधन था। एतत्कालीन मकानों में सजावट का अभाव-सा है; विशेष ध्यान मजबूती और स्थायित्व पर दिया गया है।

(घ) आर्थिक जीवन—इस विकसित सभ्यता का आर्थिक आधार काफी दृढ़ था। मोहेंजोदारो और हरप्पा जैसे नगरों के व्यापार और विलासमय जीवन को संभालने के लिए उनके पृष्ठभाग में कई प्रकार के व्यवसाय और उद्योग-धंधे होते थे। पहला व्यवसाय खेती का था। खोदाई से कोयले के रूप में गेहूं और जौ के नमूने मिले हैं। फलों में खजूर भी निकला है। खेती के साथ पशुपालन भी अच्छी तरह प्रचलित था। जानवरों के मिले हुए अस्थि-पंजरों से मालूम होता है कि गाय, बैल, भैंस, भेड़, हाथी, ऊँट, जबरा, सूअर, मुर्गाबियाँ आदि पाले जाते थे। घोड़ों और कुत्तों की हड्डियां भी मिली हैं। जंगली जानवरों में हरिण और नेवले आदि की हड्डियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त बनगाय, बाघ, बन्दर, भालू की छोटी-छोटी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। खेती और पशुपालन के विकास के साथ कई एक उद्योग-धंधे भी प्रचलित हो गये थे। कपड़ा बुनने का काम लोगों को अच्छी तरह से मालूम था। खोदाई के समय कपड़े के टुकड़े कोयले की शकल में मिले थे। सिन्ध आज भी अपने कपास के लिए प्रसिद्ध है। पत्थर, लकड़ी, धातु के काम और गहने बनाने का रोजगार भी होता था। मिट्टी के बर्तन बनाने की कला इस समय काफी विकसित हो चुकी थी। सिन्धु-घाटी के निवासी दुकानदारी और व्यापार में भी प्रवीण थे।

(ङ) सामाजिक जीवन—खोदाई से निकले हुए नागरिकों के मकान प्रायः एक समान है। इससे अनुमान होता है कि नगरों में ऊपरी मध्यम श्रेणी के लोग बसते थे। उनमें न कोई बहुत धनी और न निर्धन था। उनकी शासन-प्रणाली में भी जनतन्त्र का ही आभास

मिलता है। दूसरी सामाजिक संस्थाओं का ज्ञान अवशेषों से नहीं होता। लोगों के भोजन में अन्न, फल, माँस, अंडे, दूध आदि शामिल थे। मूर्तियों के निरीक्षण से पता लगता है कि ऊपर के वस्त्र में शाल या चादर कंधे से लटकती थी। पुरुष दाढ़ी और मूंछें रखते थे और स्त्रियाँ केशों का प्रसाधन करती थीं। शृंगार के लिये दर्पण काम में आते थे जो धातु पर चमकती हुई पालिश करके बनाये जाते थे। लोगों को आभूषण धारण करने का बड़ा शौक था; स्त्री और पुरुष दोनों गहने पहनते थे। हार, बाजू, और अंगूठियों को स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। करधनी, कान की बालियाँ, कड़े और पायकल प्रायः स्त्रियाँ पहनती थीं।

(च) कला—सिन्धु-घाटी के नगरों और भवनों की बनावट में यद्यपि सजावट का अभाव-सा है फिर भी कला के कई क्षेत्रों में प्रगति दिखाई पड़ती है। भवन-निर्माण या वास्तुकला की चर्चा हो चुकी है। इसमें बाहरी तड़क-भड़क की कमी अवश्य है, किन्तु इमारतों के सुन्दर और सुडौल होने में सन्देह नहीं। मूर्तिकला का पहला प्रयास यहाँ दिखाई पड़ता है। छोटे आकार की मानव और पशु-मूर्तियां बड़ी संख्या में मिली हैं। इनमें से कुछ शारीरिक संगठन और सौंदर्य के अच्छे नमूने हैं। मुहरों और ताबीजों पर मूर्ति-अंकन के उदाहरण मिले हैं जो मिट्टी की मूर्तियों से अधिक सुन्दर हैं। चित्रकला के नमूने प्रायः नहीं मिलते। मिट्टी के बर्तनों पर बनी चित्रकारी से इसका कुछ आभास मिलता है। काँसे की बनी हुई एक नर्तकी की मूर्ति मिली है जो कटिप्रदेश पर एक हाथ रखे, त्रिभंगी-मुद्रा में खड़ी हुई नाचने के लिए पाद-प्रक्षेप करने को उद्यत है। इस नृत्य-कला के साथ संगीत भी अवश्य ही प्रचलित रहा होगा। इन सभी कलाओं से सूक्ष्म लेखन-कला का आविष्कार भी हो गया था। लेख के नमूने मुद्रा, मुहर, ताबीज, बर्तन, तख्तियों और चूड़ियों पर मिलते हैं। लिपि प्रायः चित्रलिपि की अवस्था में है। लिखने की दिशा दायें से बांये की है। यह लिपि प्राचीन सुमेर, अलम और मिश्र की लिपियों से मिलती जुलती है।

(छ) धार्मिक जीवन—किसी लिखित साहित्य और प्रायः धार्मिक स्मारकों के अभाव में इस काल के धार्मिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करने

के लिये मिट्टी और पत्थर की बनी छोटी मूर्तियों, मुद्रा, मुहर, तख्तियों आदि पर बने चित्रों का सहारा लेना पड़ता है। यह आश्चर्य की बात मालूम होती है कि इतने प्राचीन काल में भी अर्वाचीन हिन्दू धर्म के कई मुख्य अंग इस समय के धर्म में वर्तमान थे। बहुत सी मूर्तियां मातृशक्ति के प्रतीक हैं, जिसकी पूजा लोगों में प्रचलित थी और जो आज भी काली अथवा दुर्गा के रूप में पूजी जाती है। शिव की कल्पना मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों में की गयी थी। पशुपति और योगी शिव की मूर्तियां और अमूर्तरूप में लिंग और योनि की पूजा होती थी। वृक्ष और पशु-पूजा का अस्तित्व भी मुद्राओं और तख्तियों पर बने चित्रों से सिद्ध होता है। नाग की पूजा भी जारी थी। सिन्धु-घाटी के निवासी जल की पवित्रता में विश्वास करते थे और विशेष पर्वों पर नदी और कुंडों में स्नान कर पुण्य कमाते थे। बहुत-से घरों में छोटे-छोटे अग्नि-कुंड भी पाये जाते हैं, जिनसे अग्नि-पूजा और यज्ञादि का अस्तित्व भी प्रकट होता है।

इस समय का मृतक-संस्कार भी काफी मनोरंजक था। भूतवाद और पुनर्जीवन में विश्वास तो उत्तर पाषाण काल में ही उत्पन्न हो गये थे। ताम्र-प्रस्तर काल में ये विचार और विश्वास और दृढ़ हो गये। मरे हुए व्यक्ति की मरणोत्तर यात्रा सुखपूर्वक बीते इसलिये मृतक-संस्कार विधिवत् होता था। इसके दो प्रकार थे—(१) पूरे शव को पृथ्वी के सुपुर्द करना या गाड़ना और (२) शव का दाह करना और दाह के बाद हड्डियों को चुनकर उनको किसी पात्र में रखकर पृथ्वी में गाड़ देना। दोनों प्रकार के नमूने सिन्धुघाटी में पाये गये हैं। समूचे शव के साथ आराम की सभी सामग्रियाँ भी गाड़ी जाती थीं। ऐसा जान पड़ता है कि गाड़ने की प्रथा धीरे-धीरे कम और दाहकर्म की प्रथा उत्तरोत्तर बढ़ रही थी।

# तीसरा अध्याय

## आर्यों का उदय और उनका प्रसार

### १. आर्यों की आदि भूमि

(१) भारतीय साहित्य और अनुश्रुति की साख—प्राचीन भारतीय साहित्य वेद, परवर्ती संस्कृत साहित्य और पुराणों में सुरक्षित पुराने इतिहास के अनुसार आर्य लोग इसी देश के मूल निवासी थे। उनका आदि निवास-स्थान मध्यदेश (वर्तमान संयुक्त प्रान्त और बिहार) था। उनके मुख्य केन्द्र अयोध्या, प्रतिष्ठान (प्रयाग के पास भूसी) और गया थे। यहीं से ये लोग भारत के विभिन्न भागों में फैले और उनकी कुछ शाखायें पश्चिमोत्तर दर्रों के रास्ते मध्य और पश्चिमी एशिया तक पहुँची। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में एक भी संकेत नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारतीय आर्य कहीं बाहर से आये। भारतीय अनुश्रुति या जनश्रुति में कहीं इस बात की गन्ध भी नहीं पायी जाती कि भारतीय आर्यों की पितृ-भूमि या धर्म-भूमि इस देश के कहीं बाहर थी। भारतीय साहित्य और अनुश्रुति की इस साख को असंगत या झूठ मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

(२) मध्य-एशिया और युरोपीय आदि-भूमि-सम्बन्धी मत—यूरोप के भाषा विज्ञानियों और उनके भारतीय अनुयायियों में से कुछ के अनुसार आर्यों की आदि भूमि मध्य एशिया में थी और कुछ के मत में युरोप[1] में थी। उनकी मुख्य दलील यह है कि गंगा-घाटी से लेकर आयरलैंड तक की भाषायें एक (आर्य-) परिवार की हैं और उनके बोलनेवालों के पूर्वज आदिम काल में किसी एक स्थान में रहते थे।

---

१. आर्यों की आदि भूमि होने के लिये युरोप के कई देशों में होड़ है।

सभी भाषाओं में पाये जाने वाले शब्दों के अध्ययन से अनुमान होता है कि यह स्थान या तो मध्य एशिया था अथवा युरोप। इसी आदिम स्थान में मूलत: बसनेवाली आर्य जाति एक थी और उसकी शाखायें विभिन्न देशों में फैलीं। इस सम्बन्ध में निवेदन किया जा सकता है कि भाषा-विज्ञान बहुत कुछ अनुमान और कल्पना के ऊपर अवलम्बित है और उसके बहुत-से निष्कर्ष विवादग्रस्त हैं। इसलिये स्पष्ट, निश्चित और लिखित अनुश्रुति और परम्परा के विरोध में भाषा-विज्ञान के अनुमान मान्य नहीं। आजकल प्राय: सभी विद्वान मानने लगे हैं कि भाषा की समता जाति की एकता नहीं सिद्ध करती। इसलिये युरोपीय गौराङ्गों के साथ भारतीय आर्यों को जोड़ना आवश्यक नहीं। शब्दों का आदान-प्रदान सम्पर्क से हो जाता है। भारतीय लिखित अनुश्रुति के अनुसार भारतीय आर्यों की कई शाखायें मध्य और पश्चिमी एशिया में गयीं। वे अपने साथ संस्कृत भाषा भी ले गयीं जिसकी धारायें और लहरें उधर की भाषाओं से मिल गयीं।

(३) आर्य और ध्रुव प्रदेश—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में वर्णित कुछ प्राकृतिक दृश्यों—लम्बी उषा, छ: महीने के दिन-रात आदि—के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि आर्य-लोग मूलत: ध्रुवप्रदेश में रहते थे और वहां हिमप्रलय होने से क्रमश: धीरे-धीरे भारतवर्ष में पहुंचे। उनके तर्क पाण्डित्यपूर्ण और मनोरंजक हैं, किन्तु भाषा-विज्ञान से कम आनुमानिक और काल्पनिक नहीं। साहित्य में केवल पास के अथवा देखे हुए ही दृश्यों का वर्णन होता है, यह कहा नहीं जा सकता। भारतीय आर्यों का ज्ञान केवल उनके बसे भूखंड तक ही सीमित था, यह कैसे मान लिया जाय? यदि भारतीय आर्य ध्रुवप्रदेश से आये होते तो उनके साहित्य में कहीं भी तो इसकी चर्चा होनी चाहिये।

(४) आर्य और सप्तसिन्धु—डॉ० अविनाशचन्द्र दास और बाबू सम्पूर्णानन्द ने ऋग्वेद के भूगोल और संकेतों के आधार पर सप्तसिन्धु (पंजाब और सीमान्त) को आर्यों की आदि भूमि माना है। इन विद्वानों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि ऋग्वेद आर्यों के उदय के समय नहीं लिखा जा सकता था, किन्तु आर्य-भाषा और परम्परा के काफी विकसित होने पर इसकी रचना हुई होगी। पौरा-

णिक अनुश्रुति के अनुसार ऋग्वेद का राजनैतिक और भौगोलिक वर्ण्य विषय, ययाति के वंशजों और आगे चलकर पाञ्चाल के भारतों के विस्तार और संघर्ष से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद में सप्तसिन्धु का प्राधान्य है अवश्य, किन्तु यह दृश्य मध्यदेश से आर्यों के पश्चिमोत्तर विस्तार का है। अतः सप्तसिन्धु आर्यों की आदि भूमि न होकर उनका विजित उपनिवेश था।

## २. भारतीय आर्यों के मूल वंश और उनका विस्तार

(१) मानव अथवा सूर्यवंश—भारतीय अनुश्रुति के अनुसार आज से लगभग छः हज़ार वर्ष पहले उत्तर भारत के बीच (मध्यदेश) में मनु और उनके वंशजों का उदय हुआ। मनु इस देश के पहले राजा थे जिन्होंने राज-संस्था स्थापित की और राज्य के संचालन के लिये नियम बनाया। उनके पहले न कोई राजा था, न शासन और न कोई व्यवस्था। इसीलिये मनु धर्मशास्त्र के प्रवर्तक माने जाते हैं। कुछ ही पीढ़ियों में मनु के पुत्रों और वंशजों ने मध्यदेश से निकल कर उत्तर, पश्चिमोत्तर और पश्चिम-दक्षिण भारत को अपने अधीन किया। मनु के बड़े पुत्र इक्ष्वाकु अयोध्या के सिंहासन पर बैठे और उनसे मूल मानव अथवा सूर्यवंश चला। मनु के दूसरे पुत्र नाभानेदिष्ट ने वैशाली (मुजफ्फरपुर), कारूष ने दक्षिण-पश्चिम बिहार, धृष्ट ने पंजाब, नाभाग ने यमुना के दक्षिण, शर्याति ने आनर्त (उत्तर-गुजरात), और इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने विदेह (पूर्वोत्तर बिहार) में अपने-अपने राज्य स्थापित किये। मनु के पुत्र नरिष्यन्त के वंशज पश्चिमोत्तर दर्रों से मध्य एशिया की तरफ चले गये। मनु के वंशजों में कुछ दण्डकारण्य (दक्षिण), उत्तरापथ (उत्तर) और मेरु (सुमेर) की तरफ भी गये।

(२) ऐल अथवा चन्द्रवंश—मानवों के सजातीय और मनु के नाती ऐल पुरूरवा ने प्रतिष्ठान (प्रयाग के पास भूसी) में एक दूसरे राजवंश की स्थापना की। उसके वंश का विस्तार आगे चलकर मानव वंश से भी अधिक हुआ। उसका बड़ा लड़का आयु प्रतिष्ठान का राजा हुआ। उसके शेष पुत्रों में से अमावसु ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) और उसके पौत्र क्षत्रवृद्ध ने काशी में अपना राज्य स्थापित किया। आयु का पौत्र और नहुष का पुत्र ययाति बहुत बड़ा विजेता और भारतीय इतिहास

का पहला सम्राट् हुआ। उसने अपने साम्राज्य को अपने पाँच पुत्रों में बाँटा, जिनके वंशजों ने ऐलों के प्रभाव और साम्राज्य को और बढ़ाया। ययाति का सबसे छोटा लड़का पुरु प्रतिष्ठान के सिंहासन पर बैठा। उसके पुत्र यदु ने चम्बल, बेतवा और केन की घाटियों का प्रदेश, तुर्वसु ने दक्षिण-पूर्व का प्रान्त (इसके वंशज आगे चलकर पश्चिमोत्तर चले गये), द्रुह्यु ने पश्चिम और अनु ने गंगा के दोआबे का उतरी भाग पाया। ययाति के इन्हीं पाँचों पुत्रों के वंशजों की चर्चा कई बार ऋग्वेद में आयी है।

(३) सौद्युम्न-वंश—मानवों और ऐलों से सम्बद्ध एक तीसरे आर्य राजवंश की स्थापना दक्षिण बिहार में हुई। इस वंश के संस्थापक थे सुद्युम्न। इनके तीन पुत्र थे—गय, उत्कल और हरिताश्व। गय की राजधानी गया थी। उत्कल ने उत्कल (वर्तमान उड़ीसा) में अपने राज्य की स्थापना की, हरिताश्व के बारे में कुछ विशेष नहीं मालूम है। प्राचीन काल में इस वंश का अधिक विस्तार न हुआ और वह मानव और ऐल वंश से दबा रहा। संभवतः इसी वंश से नागवंश की उत्पत्ति हुई जिनका प्रभाव छठवीं, पाँचवी शताब्दी ई० पू० से विशेष दिखाई पड़ता है।

## ३. आर्यों का अग्रिम विस्तार और उनके प्रसिद्ध पुरुष

(१) सम्राट् मान्धाता—मानववंश में इक्ष्वाकु से बीसवीं पीढ़ी में मान्धाता नाम के राजा हुए। वे स्वयं बड़े शक्तिमान थे। यादव राजा शशविन्दु की लड़की से विवाह कर उन्होंने अपनी शक्ति और बढ़ा ली। उन्होंने बड़े पैमाने पर दिग्विजय किया और आस-पास के सब राज्यों को अपने अधीन कर लिया। वे अपने युग के सबसे बड़े चक्रवर्ती सम्राट् थे। "सूर्य जहाँ से उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, वह सम्पूर्ण देश यौवनाश्व मान्धाता का क्षेत्र कहलाता था।" मान्धाता ने कान्यकुब्ज, पाञ्चाल, पूर्वी पंजाब और दक्षिण में हैहयों के राज्य का भाग जीत लिया। दक्षिण-विजय के स्मारक में उनके वंशजों ने पारियात्र और ऋक्ष पर्व के चरणों में मान्धाता नाम की नगरी बसायी। मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स की रानी नर्मदा के नाम पर रेवा नदी का नाम नर्मदा पड़ा। मान्धाता केवल चक्रवर्ती सम्राट् ही नहीं किन्तु विद्या और शास्त्र में भी पारंगत थे। वे ऋषि थे और उन्होंने वैदिक

ऋचाओं की रचना भी की थी।

**(२) पंजाब और सीमान्त में आर्य-राज्य**—मान्धाता के दिग्विजय ने ययाति के वंशजों को मध्यदेश में पराजित कर उनको पश्चिमोत्तर में ढकेल दिया। द्रुह्यु वंश के राजा गांधार ने सिन्धु नदी के दोनों तटों पर गांधार राज्य की स्थापना की। आनवों के उशीनर नाम के प्रसिद्ध राजा ने दक्षिण-पश्चिम पंजाब को अपने अधीन किया। उशीनर के पुत्र शिवि चक्रवर्ती राजा हुए। आनवों की कई शाखायें हुईं। इनमें मद्र, केकय, अम्बष्ठ और सौवीर शाखायें प्रसिद्ध हुईं। इस प्रकार सम्पूर्ण पंजाब, सीमान्त, सिन्ध, और पूर्वी अफगानिस्तान के प्रदेश आर्यों की अधीनता में आ गये। आर्यावर्त की सीमा मध्यदेश से बढ़कर पश्चिम में काबुल (सं. कुभा) तक पहुँच गयी।

**(३) दक्षिण में हैहय-वंश**—यादवों की एक शाखा हैहय नाम से दक्षिण में नर्मदा के किनारे जा बसी थी। इसमें माहिष्मन्त नाम का एक वीर राजा हुआ। उसने मान्धाता नगरी पर अपना अधिकार कर लिया और माहिष्मती नगरी अपने नाम पर बसायी। उत्तर में बढ़कर उसने मध्यदेश पर कई बार आक्रमण किया। उसके पुत्र भद्रश्रेण्य ने काशी को भी जीत लिया। इसी समय दक्षिण में राक्षसों की शक्ति बढ़ती हुई दिखायी पड़ती है। क्षेमक नामक राक्षस ने काशी के राजा दिवोदास को हराकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। पुण्यजन राक्षसों ने आनर्त (गुजरात) में शार्यातों की राजधानी कुशस्थली छीन ली और उनको तितर-बितर कर दिया। परन्तु कुछ ही दिनों में हैहयों ने राक्षसों को दबा दिया। हैहय-वंश में कार्तवीर्य अर्जुन बड़ा प्रतापी और विजेता हुआ। उसने नर्मदा के दक्षिण से लेकर हिमालय पर्वत तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। रावण नाम के एक राक्षस राजा को पकड़ कर उसने माहिष्मती के दुर्ग में बंदी रखा। अर्जुन बड़ा अभिमानी और उद्दण्ड था। उसने अपने पुरोहित भार्गव ब्राह्मणों से झगड़ा किया और जमदग्नि का बड़ा अपमान किया। जमदग्नि के पुत्र परशुराम की ननिहाल अयोध्या के सूर्यवंश में थी। उन्होंने अयोध्या और कान्यकुब्ज की सहायता से हैहयों को पराजित किया और कार्तवीर्य अर्जुन को मार डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि हैहय कुछ दिनों के लिये दब गये।

**राजा सगर और मानवों का पुनरुत्थान**—हैहयों और उनके वंशज तालजंघों के आक्रमण से अयोध्या का मानववंश दुर्बल पड़ गया था। इक्ष्वाकु से तैंतीसवीं पीढ़ी में हरिश्चन्द्र नाम के एक बड़े सत्य-वादी और धर्मात्मा राजा हुए, परन्तु मानवों की शक्ति इनसे नहीं बढ़ी। इकतालीसवीं पीढ़ी में बाहु का पुत्र सगर प्रसिद्ध विजेता और चक्रवर्ती राजा हुआ। उसका जन्म भार्गव ऋषि अग्नि के आश्रम में हुआ था और उन्हीं की देख-रेख में उसकी शिक्षा हुई। युवा होकर उसने हैहय-तालजंघों से अयोध्या को मुक्त किया। फिर उसने अपनी शक्ति बढ़ाकर हैहयों के मूलराज्य पर आक्रमण किया और उनको इतनी गहरी हार दी कि वे बहुत दिनों तक फिर न संभल सके। इसके बाद उसने विदर्भ पर आक्रमण किया। वहां के राजा ने अपनी कन्या केशिनी का सगर से विवाह कर उससे मैत्री कर ली। पुराणों के अनु-सार सगर ने अश्वमेध यज्ञ किया और उनके बहुसंख्यक पुत्रों ने समस्त भारत का पर्यटन कर समुद्र तक अपनी सेना घुमायी। इसलिये समुद्र सगर के नाम पर सागर कहलाया। सगर का राज्य-काल बड़ा लम्बा और उसमें प्रजा बड़ी सुखी थी।

**(५) मध्य, पूर्व और दक्षिण भारत में यादवों और आनवों के कुछ नये राजवंश**—यादव राजा परावृट् के वंशजों ने विन्ध्य और ऋक्ष पर्वत के पूर्वी भाग में मेकल और उसके दक्षिण में विदर्भ राज्य की स्थापना की। काशी के राजा प्रतर्दन के बेटे वत्स ने प्रयाग के आस-पास वत्स राज्य की नींव डाली। विदर्भ के राजा चिदि के वंशजों ने चंबल और केन के बीच चेदि राज्य स्थापित किया। इसी बीच में आनवों के वंशज उत्तर पाञ्चाल से बिहार के पूर्वोत्तर में आ गये थे। आनव राजा बलि के पुत्र अंग ने अंग राज्य की नींव डाली। अंग के चार और भाई वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुह्म थे। इन चारों ने पूर्व तथा दक्षिण में बढ़कर अपने नाम के राज्यों की स्थापना की। इस तरह पूर्व में वंग और कलिंग और दक्षिण में विदर्भ तक आर्य-राज्यों का विस्तार हो गया।

**(६) चक्रवर्ती भरत और भारतवंश**—इस समय तक पौरव लोग प्रतिष्ठान का अपना राज्य खो चुके थे। सगर की मृत्यु के कुछ समय बाद उनके वंशजों में से दुष्यन्त ने गंगा-यमुना दोआब के उत्तरी

भाग में फिर पौरव राज्य स्थापित किया। वह बड़ा प्रतापी किन्तु रसिक राजा था। उसने ऋषि कण्व की धर्मपुत्री शकुन्तला से विवाह किया। शकुन्तला के गर्भ से एक मेधावी और वीर बालक उत्पन्न हुआ। युवा होकर वही सम्राट् भरत हुआ। उसने सरस्वती(पंजाब में) से लेकर अयोध्या की सीमा तक का प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया और दिग्विजय करके अपने समकालीन राज्यों को अधीन किया। भरत चक्रवर्ती, सम्राट और सार्वभौम कहलाया। उसका राज्य सभ्यता, विद्या और कला की दृष्टि से आदर्श था। यहां की संस्कृति भारती सारे देश में फैली और इसी कारण से सारा देश भारतवर्ष कहलाया। भरत के तीन पुत्र छोटी अवस्था में मर गये। अतः उसे एक उत्तराधिकारी पुत्रकी आवश्यकता थी। ऋषि दीर्घतमा के परामर्श से बृहस्पति के वंशज भारद्वाजों में से विदथी भारद्वाज को एक यज्ञ कर उसने अपना उत्तराधिकारी चुना। भरत का वंश इसी के द्वारा चला। भरतवंश की कई शाखायें बहुत दिनों तक उत्तर भारत में राज्य करती रहीं। वैदिक साहित्य और सभ्यता के विकास और विस्तार में उनका बहुत बड़ा हाथ था। इसी वंश में हस्ति हुए जिन्होंने हस्तिनापुर बसाया। हस्ति के पुत्र अजमीढ़ के वंशजों ने गंगा-यमुना के दोआबे के उत्तरी भाग में उत्तर पाञ्चाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिणी भाग में दक्षिण पाञ्चाल जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी, बसायी।

**(७) मानव वंश और राम दाशरथि**—सगर के बाद मानव अथवा सूर्यवंश में भगीरथ और अम्बरीष दो चक्रवर्ती राजा हुए। इसके पश्चात् काफी समय तक सूर्य-वंश का इतिहास धूमिल हो गया। इक्ष्वाकु से साठवीं पीढ़ी में दिलीप नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ। उसके समय में मानवों का भाग्य फिर चमक उठा। दिलीप का पौत्र रघु बहुत बड़ा दिग्विजयी था। इसी के नाम पर मानव-वंश रघुवंश कहलाने लगा। रघु के पुत्र अज और अज के दशरथ भी बड़े प्रतापी हुए। दशरथ के पुत्र राम दाशरथि अथवा रामचन्द्र हुए। इनका आविर्भाव इक्ष्वाकु से पैंसठवीं पीढ़ी में हुआ।

रामचन्द्र युगनिर्माता और मर्यादा-पुरुष थे। आज उनके नाम सेभारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। उनके पिता दशरथ की तीन

रानियां थीं—कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौसल्या से राम, कैकेयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उत्पन्न हुए। चारों ही भाई लड़कपन से ही बड़े होनहार थे। दक्षिण से राक्षसों के आक्रमण दक्षिण-पश्चिम बिहार पर आरम्भ हो गये। विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण की सहायता से सुबाहु, मरीचि आदि राक्षसों को वहां से मार भगाया। रामचन्द्र का विवाह स्वयंवर-प्रथा के अनुसार विदेह के राजा सीरध्वज जनक की पुत्री सीता से हुआ। महाराजा दशरथ अपनी वृद्धावस्था में रामचन्द्र को राज्य देकर विश्राम करना चाहते थे। परन्तु कैकेयी के षड्यंत्र से रामचन्द्र को चौदह वर्ष का वनवास हुआ और उनके साथ सीता और लक्ष्मण भी जंगल चले गये। रामचन्द्र गंगा के उस पार निषादों से मैत्री करके चित्रकूट, पञ्चवटी आदि में कई वर्ष बिताते हुए दण्डकारण्य के छोर पर जनस्थान पहुँचे। रास्ते में शबर आदि जातियों से उनकी मित्रता हुई। जनस्थान में लंका के राक्षसों का उपनिवेश था। यहां पर रामचन्द्र और राक्षसों से अनबन हो गयी। लंका के राक्षस राजा दशग्रीव रावण ने सीता का अपहरण किया। राम सीता की खोज करते हुए किष्किंधा (वर्तमान हैदराबाद के दक्षिणी भाग में) पहुंचे। यहाँ बालि नाम का वानर राजा राज्य कर रहा था। उसने अपने भाई सुग्रीव को निर्वासित कर दिया था। राम की सुग्रीव और उसके सहायक हनुमान से संधि हो गयी। उन्होंने बालि को मारकर सुग्रीव को राजा बनाया। दक्षिण की वानर और ऋक्ष जातियाँ भी लंका के राक्षसों से तंग थीं। उनकी सहायता से राम ने लंका पर आक्रमण किया और सीता को वापस लिया। दशग्रीव रावण का भाई विभीषण राम का मित्र था। उसको लंका का राज्य देकर वे अयोध्या वापस आ गये।

राम के पहले भी अगस्त्य आदि ऋषि आर्य-सभ्यता के प्रचारक होकर दक्षिण में जा चुके थे। द्राविड अनुश्रुति के अनुसार तामिल भाषा का व्याकरण उन्होंने ही बनाया। ऐसा मालूम होता है कि दक्षिण के निवासी आर्य-संस्कृति का स्वागत करते थे, किन्तु राक्षस लोग उसका विरोध। राक्षसों को पराजित कर राम ने इस बाधा को दूर किया और लंका तक आर्य-संस्कृति का घेरा फैला दिया।

राम के भाई भरत को उनके नाना से केकय(पश्चिमी पंजाब) का

राज्य मिला। उन्होंने सिन्ध को भी अपने अधिकार में कर लिया। भरत के बेटे तक्ष और पुष्कर ने पश्चिमोत्तर में गाँधार का राज्य जीता और तक्षशिला तथा पुष्करावती नाम की नगरियां बसायीं। शत्रुघ्न ने यादवों से मथुरा के आस-पास का प्रदेश जीता जो शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम पर शूरसेन कहलाया। लक्ष्मण के बेटे अंगद ने वर्तमान बस्ती जिले में अंगदीया नगरी बसायी और चन्द्रकेतु ने गोरखपुर- देवरिया में मल्ल-राष्ट्र की स्थापना कर चन्द्रकांता को अपनी राजधानी बनाया। राम के पुत्र कुश ने कुशावती (कुशीनगर) और लव ने और पूर्व में शरावती नगरी बसायी।

रामचन्द्र आदर्श राजा और उत्तम चरित्र के व्यक्ति थे। वे मर्यादा-पुरुषोत्तम और विष्णु के अवतार माने जाते हैं। राम के सम-कालीन भृगुवंशी मुनि वाल्मीकि हुए। उन्होंने अपने आदि काव्य रामायण में राम के चरित्र को अमर बना दिया। राम के बाद मानव वंश का गौरव मन्द पड़ गया। उनके पश्चात् हजारों वर्ष तक यादवों और पौरवों की ही भारतीय इतिहास में प्रधानता रही।

(८) सुदास और पाञ्चाल का प्राधान्य—यह लिखा जा चुका है कि रामचन्द्र के बाद यादवों और पौरवों का ही प्राधान्य हुआ। यादवों की अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर आदि कई शाखायें मथुरा से लेकर द्वारका तक राज्य करती थीं। विदर्भ और दक्षिण में भी उनके राज्य थे। पौरवों में पाञ्चाल का राज्य इस समय चमक उठा। उत्तर पाञ्चाल में दिवोदास, मित्रायु, सृंजय, च्यवन और सुदास प्रसिद्ध राजा हुए। इनमें सुदास सबसे बड़ा प्रतापी और विजेता था। यह अयोध्या के इक्ष्वाकु के बाद अस्सठवीं पीढ़ी के राजा अतिथि का समकालीन था। इसके समय में पाञ्चाल उत्तर भारत का सर्वप्रधान राज्य हो गया। इसने हस्तिनापुर के राजा संवरण को हराकर यमुना के पश्चिमी तट तक अपने राज्य को बढ़ाया। इस घटना से पश्चिमोत्तर भारत के राज्यों में आतंक छा गया। उनका एक संघ बना जिसमें पौरव संवरण, मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि, पक्थ, भलान, अलिन, विषाणी आदि राज्य और जातियाँ सम्मिलित थीं। सुदास ने पंजाब में घुसकर इस संघ का सामना किया। युद्ध परुष्णी (रावी) के किनारे हुआ। इसमें संघ परा-जित होकर टूट गया और सुदास की धाक जम गई। इस 'दाशराज्ञ-

युद्ध' का वर्णन ऋगवेद और महाभारत दोनों में मिलता है। सुदास अपने पूर्वजों के ही समान वैदिक साहित्य, धर्म और संस्कृति का प्रसारक था।

सुदास के कुछ ही दिनों बाद पाञ्चाल का पलड़ा उलट गया। उसका पुत्र सहदेव तथा पौत्र सोमक दोनों ही दुर्बल थे। सुदास के शत्रु संवरण ने न केवल अपना राज्य वापस लिया, किन्तु उत्तर पाञ्चाल को भी जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। संवरण का पुत्र कुरु हुआ। वह बड़ा विजेता था। उसने दक्षिण पाञ्चाल को भी जीत कर अपने राज्य की सीमा पूर्व में प्रयाग तक बढ़ा लिया। उसी के नाम पर उसका वंश कौरव वंश और यमुना और सरस्वती के बीच का प्रदेश कुरु-क्षेत्र कहलाने लगा। थोड़े ही समय बाद हस्तिनापुर का राज्य दुर्बल होगया। कुरु की पाँचवीं पीढ़ी में वसु नाम का एक राजकुमार हुआ। उसने यादवों के चेदि राज्य को जीतकर केन के किनारे शुक्तिमती नगरी को अपनी राजधानी बनाया। उसकी उपाधि चैद्योपरिचर (चेदियोंके ऊपर चलने वाला) थी। इसके पश्चात् उसने विजय करके मत्स्य से लेकर मगध तक के प्रदेश को अपने अधीन किया। इसीलिये वह सम्राट् चक्रवर्ती कहलाया। उसका साम्राज्य उसके पाँच पुत्रों में बंट गया और उसके पाँच भाग हो गये :—(१) मगध (२) कौशाम्बी (३) कारूष (४) चेदि और (५) मत्स्य। इसी समय यादव राज्यों में एक महत्वपूर्ण घटना हुई। अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर आदि ने राज-तंत्र छोड़कर और गणतन्त्र को अपनाकर अपना एक संघ बना लिया। उनका संघ-मुख्य निर्वाचित होता था।

(९) कौरव-वंश और महाभारत युद्ध—हस्तिनापुर के राजा कुरु के वंश में उनके बाद चौदहवीं पीढ़ी में प्रतीप नामक राजा हुए। उनके दो पुत्र थे— देवापि और शन्तनु। देवापि ने ऋषि होकर अपना राज्याधिकार छोड़ दिया और शन्तनु राजसिंहासन पर बैठा। प्रतीप और शन्तनु के समय में हस्तिनापुर के कौरव-राज्य का काफी उत्थान हुआ। शन्तनु के सबसे बड़े पुत्र भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लिया और उनके दो लड़के चित्रांगद और विचित्रवीर्य असमय में ही क्षयरोग से मर गये। शन्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु हुए। धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे, इसलिये पाण्डु राज्य के अधिकारी हुए। परन्तु पाण्डु के

मरने के बाद कौरव राज्य धृतराष्ट्र के संरक्षण में चला गया। धृतराष्ट्र के गान्धारी आदि स्त्रियों से दुर्योधन, दुःशासन वगैरह कई पुत्र थे जो कौरव कहलाये। पाण्डु के कुन्ती से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्री से नकुल और सहदेव पाँच पुत्र थे जो पिता के नाम पर पाण्डव कहलाये।

बड़े होने पर पाण्डवों ने अपने पिता का राज्य वापस मांगा। इस समय तक दुर्योधन ने राज्य पर पूरा प्रभाव जमा लिया था। वह पाण्डवों को कुछ भी नहीं देना चाहता था। परन्तु बहुत कहने-सुनने से यह निश्चय हुआ कि कुरुक्षेत्र के दक्षिण का खांडव-वन पांडवों को दे दिया जाय। खाण्डव-वन साफ करने में पाण्डवों का नाग-जाति से वैर हो गया। जंगल काट करके इन्द्रप्रस्थ नाम का नगर बसाया गया जिसकी सूचना दिल्ली के पास इन्दरपत से अब भी मिलती है। इन्द्रप्रस्थ थोड़े ही समय में एक समृद्ध नगर हो गया, जहाँ मय नामक दानव कारीगर ने अद्भुत राजप्रसादों की रचना की। पाण्डव बड़े महत्वाकांक्षी थे। उन्होंने राजनैतिक प्रसार की योजना तैयार की। उनके बड़े मित्र और सलाहकार वृष्णि-संघ के प्रमुख कृष्ण थे। इस समय मगध का राजा जरासंध चेदि के राजा शिशुपाल और शूरसेन के कंस की सहायता से निरंकुश साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। पाण्डवों ने कृष्ण की सहायता से जरासंध का वध करके मगध-साम्राज्य की योजना का विघटन किया। इसके बाद उनकी धाक जम गई और उन्होंने राजसूय करके भारत के प्रायः सभी राज्यों से अपना आधिपत्य स्वीकार करा लिया। यह बात जरासंध के सहायकों को अच्छी नहीं लगती थी। इसी कारण शिशुपाल और कृष्ण में अनबन हो गयी और कृष्ण ने शिशुपाल को मार डाला।

धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव पाण्डवों की उन्नति से मन-ही-मन जलते थे। दुर्योधन के मामा शकुनि ने पाण्डवों को जूए के लिये निमंत्रित किया, जिसको उस समय की प्रथा के अनुसार वे अस्वीकार नहीं कर सकते थे। जूआ खेलने में पाण्डव अपना राज्य हार गये और यह निश्चय हुआ कि पाण्डवों को बारह वर्ष बनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़ेगा। अवधि समाप्त करने पर पाण्डवों ने अपना राज्य वापस मांगा, किन्तु दुर्योधन ने देने से इनकार किया।

कृष्ण ने बड़ा प्रयत्न किया कि समझौते से पाण्डवों को राज्य मिल जाय, किन्तु वे असफल रहे। अन्त में दोनों तरफ से युद्ध की तैयारी होने लगी। इस गृहयुद्ध की आग ऐसी फैली कि सारे भारत के राजा दो दलों में बँट गये। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अठारह दिन तक भीषण युद्ध हुआ। अन्त में पाण्डवों का विजय हुआ। कुरु-राज्य उनको वापस मिला और वे सारे देश के सम्राट् माने गये। उन्होंने अश्वमेध करके अपने आधिपत्य की स्थापना की।

महाभारत युद्ध लगभग चौदह सौ वर्ष ई० पू० हुआ था। यह बहुत विध्वंसकारी था और इसमें जन-धन की बड़ी हानि हुई। इसका उद्देश्य आर्य-राज्य और संस्कृति का प्रसार नहीं था; यह आर्य-राज्यों के पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थ से हुआ था। यद्यपि कृष्ण ने युद्ध में पाण्डवों की सहायता की थी, परन्तु स्वयं वे बड़े खिन्न थे। युद्ध द्वारा सबसे अधिक नैतिक पतन उनके सजातीय यादवों का हुआ। वे परस्पर कलह और मद्य आदि व्यसन से आपस में लड़कर नष्ट हो गये। थोड़े ही दिनों बाद कृष्ण का देहावसान हो गया। महाभारत युद्ध एक युगान्तरकारी घटना थी। इसके बाद भारतीय इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है।

## ४. भारत की आर्येतर जातियां और आर्यों का उनसे सम्बन्ध

आर्यों के राज्य अपनी आदि-भूमि में सरलता से स्थापित हो गये। परन्तु इसके बाहर अपने प्रसार में उनको कई जातियों के सम्पर्क और संघर्ष में आना पड़ा। इन जातियों के नाम वैदिक साहित्य और पुराणों में पाये जाते हैं, जैसे, असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, निषाद, शबर, किरात, वानर, ऋक्ष आदि। भिन्नता और संघर्ष के कारण इनमें से कई जातियों का वर्णन पीछे संगृहीत भारतीय अनुश्रुति में मनुष्येतर प्राणियों के रूप में पाया जाता है। कभी-कभी उनको घृणास्पद दास और दस्यु आदि शब्दों से भी संबोधित किया जाता है। परन्तु वास्तव में वे मनुष्य जातियाँ थीं और उनसे आर्यों का विवाह-सम्बन्ध होता था। असुर, दानव और दैत्य जातियां प्रायः पश्चिमोत्तर भारत में बसती थीं। आर्यों के साथ संघर्ष में उनमें से बहुत लोग ईरान आदि पश्चिमी एशिया के देशों में जा बसे और जो इस देश में रह गये वे

आर्यों में ही घुल-मिल गये। वानर और ऋक्ष भी मानव जातियाँ थीं। वानर और ऋक्ष उनके धर्मचिह्न थे। वानर, ऋक्ष, शबर और निषाध जातियों ने आर्यों की मैत्री स्वीकार कर ली। द्रविड और आग्नेय जातियों का बहुत बड़ा भाग इनमें सम्मिलित था। राक्षस जो बड़े प्रचण्ड और रक्तपिपासु थे, संभवतः द्रविडों के ही समुद्री भाई-बन्धु थे, जिनसे दक्षिण भारत के द्रविड स्वयं त्रस्त थे। आर्यों से इनका संघर्ष हुआ और पीछे इन लोगों ने भी आर्य-संस्कृति स्वीकार की। भारत की मूल प्रवृति स्वार्थी और जातियों के समन्वय की रही है। प्रारम्भिक संघर्ष के कुछ ही समय बाद जातीय समन्वय की प्रक्रिया इस देश में प्रारम्भ हो गयी।

प्रायः देखा जाता है कि विजयी जातियाँ विजित जातियों के प्रति तीन प्रकार की नीतियों का अवलम्बन करती हैं—(१) विजित जाति को निर्मूल करने की नीति (२) दास बनाने की नीति और (३) कुछ भिन्नता और अयोग्यता के साथ समाज में रखने की नीति। आधुनिक युग में युरोप की गौरांग जातियों ने अमेरिका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि देशों में प्रायः प्रथम दो नीतियों को बरता है। भारतीय आर्यों ने अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण तीसरी नीति का व्यवहार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में आर्यों का प्राधान्य होते हुए भी यहाँ की राजनीति, जीवन और संस्कृति में सभी जातियों का समावेश और देन है।

# चौथा अध्याय

## प्रारम्भिक आर्यों की सभ्यता और संस्कृति : वैदिक काल

प्रारम्भिक आर्यों के उदय और राजनैतिक प्रसार का इतिहास हमको पुराणों की अनुश्रुतियों में मिलता है, जिसका समर्थन वेदों के प्रासंगिक संकेतों से भी होता है। परन्तु आर्यों के समूचे जीवन—उनकी सभ्यता और संस्कृति—का चित्र खींचने के लिये उस समय के साहित्य 'वेद' का सहारा लेना पड़ता है। इसी साहित्यिक अर्थ में इस युग को वैदिक काल कह सकते हैं। यह काल पुराणों के अनुसार पंचानवे पीढ़ियों अथवा लगभग दो हजार वर्षों का है। इतने लम्बे काल में आर्यों के जीवन के विकास की कई सीढ़ियाँ बीतीं। इसलिये उनके जीवन की एक ही बात सभी सीढ़ियों के लिये लागू नहीं है।

### १. साहित्य : वैदिक ऋचा और संहिता

इस काल के आर्यों ने भौतिक और अतिभौतिक जगत को जैसे देखा, समझा और अनुभव किया उसका उद्गार प्राय: गीतों में हुआ। उन सबका सामूहिक नाम वेद है। 'वेद' का अर्थ है 'ज्ञान'। वास्तव में आर्यों के ज्ञान का संग्रह वेद में है। वेद के तीन भाग हैं—(१) ऋचा या साधारण पद्य (२) साम या यज्ञ के अवसरों पर लय के साथ गाने-योग्य गीत और (३) यजुष् अर्थात यज्ञ की विधियों से सम्बन्ध रखने वाले गद्य भाग। इन सबको मिलाकर मंत्र भी कहते हैं। श्रद्धालु हिन्दू मानते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं और उसका कोई कर्त्ता नहीं है; उनका साक्षात्कार ऋषियों को हुआ था, जिनके नाम वैदिक सूक्तों के साथ लगे हुए हैं। सच बात तो यह है कि वैदिक मंत्रों की रचना करनेवाले ऋषियों (= प्राचीन कवियों) को ही मंत्र-द्रष्टा कहा गया है। पुराणों में अयोध्या की जो वंशावली दी हुई है उसकी, अठारहवीं-उन्नीसवीं

पीढ़ी से प्रायः वैदिक मंत्रों की रचना प्रारम्भ हो गयी थी और अरसठवीं पीढ़ी ( राजा सुदास ) और उनके दो-तीन पीढ़ी बाद तक यह कार्य होता रहा। अभी तक वैदिक साहित्य छन्दों में बिना क्रम के था। ऋषियों के परिवार की स्मृति से ही उसका संरक्षण होता था। इसी समय वर्णमाला और लिपि का आविष्कार हुआ। इसकी सहायता से वैदिक मंत्रों का संग्रह प्रारम्भ हो गया। यह प्रक्रिया महाभारत युद्ध तक जारी रही। वेदों का अंतिम संकलन, संपादन और वर्गीकरण महर्षि वेदव्यास ने किया जो महाभारत युद्ध के समय जीवित थे। उनके वर्गीकरण के अनुसार (१) ऋक् (२) साम (३) यजुष् को मिलाकर 'त्रयी' तथा (४) अथर्ववेद और (५) इतिहास को लेकर पाँच वेद हैं। वेदों में अधिकांश देवताओं की स्तुतियाँ, प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन, रूपक शैली में विश्व के रहस्य का उद्घाटन और कहीं-कहीं 'नाराशंसी' (प्रसिद्ध व्यक्तियों के गुणगान) हैं। वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है। इसमें ऋषियों की प्रतिभा गीतरूप में उस समय मुखरित हुई थी, जब संसार के कई देशों में बोलियों का भी ठीक तरह से विकास नहीं हुआ था।

## २. राजनैतिक जीवन का विकास

राजनैतिक जीवन के विकास की कई सीढ़ियां वेदों में पायी जाती हैं। मूल राजनैतिक इकाई कुल या परिवार था। इससे बड़ी इकाई कई कुलों से बनी 'गोत्र' थी। गोत्र से बड़ी जन, जन से विश और सम्पूर्ण विशों से विकसित राष्ट्र था। इस प्रकार आर्य लोग राष्ट्र की कल्पना और निर्माण कर सके, परन्तु अभी तक इसका स्वरूप जातीय था। राष्ट्र की कल्पना के बाद का छलांग साम्राज्य, चक्रवर्ती-राज्य या सार्वभौम राज्य की कल्पना और स्थापना थी, जिसके कई उदाहरण पाये जाते हैं।

## ३. राजनैतिक संस्थायें

(१) राजा—युद्ध के वातावरण में सेना और जाति का नेतृत्व करने के लिये राज-संस्था का उदय हुआ। प्रारम्भ में राष्ट्र की सारी प्रजा मिलकर राजा का चुनाव करती थी। पीछे यह पद पैतृक होने लगा, फिर भी सिंहासन पर बैठने के लिये प्रजा की अनुमति आवश्यक थी। राज्यारोहण संस्कार होता था। इस अवसर पर राजा को प्रजा-

ण की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। अयोग्य और दुराचारी राजा अपने
से अलग किया जा सकता था। राजा के कर्तव्य तीन प्रकार के
—(१) सैनिक (२) शासनसम्बन्धी और (३) न्यायसम्बन्धी।
ा युद्ध के समय सेना का नेतृत्व और शांति के समय उसका संग-
करता था। राज्य के कामों की देख-भाल और शासन उसी के हाथ में
। सभा में बैठकर न्यायाधीश का काम भी वह करता था।

(२) समिति और सभा- आर्य जातियों की दो जन-तांत्रिक
थायें थीं—(१) समिति और (२) सभा। समिति समस्त विश या
ा की संस्था थी, जिसमें सभी महत्वपूर्ण राजनैतिक और सामाजिक
नों पर विचार होता था। राजा का चुनाव इसी में होता था। राजा
इसके अधिवेशनों में जाता था। इसका एक सभापति होता था
सको 'ईशान' कहते थे। सभा समिति से छोटी संस्था थी जिसमें
ा के विशों में से चुने हुए सलाहकार होते थे। उनकी सहायता से
ा अपना दैनिक कार्य और अभियोगों का निर्णय करता था। इन
ों संस्थाओं का राजा के ऊपर पहले बड़ा नियंत्रण था, किन्तु ज्यों-
ों राजा के हाथ में शक्ति संगृहीत होने लगी त्यों-त्यों समिति के
धिकार भी संकुचित होने लगे। महाभारत के समय तक वह बहुत
; परामर्शदात्री समिति के रूप में रह गयी थी।

(३) राज्य के कर्मचारी—राज्य के कर्मचारियों में सबसे
ले पुरोहित का नाम आता है। वह शांति और युद्ध दोनों अवस्थाओं
ाजा का मित्र, दार्शनिक और पथप्रदर्शक था। शान्ति के समय वह
य के धार्मिक कृत्य कराता और राजा को धार्मिक मामलों में सलाह
; युद्ध के अवसर पर राजा की रक्षा और विजय के लिये प्रार्थना
ता और रणक्षेत्र में सैनिकों का उत्साह बढ़ाता। दूसरा प्रधान
चारी सेनानी जिसको पीछे की भाषा में सेनापति कहा जा सकता
तीसरा अधिकारी ग्रामणी था जो सैनिक, आर्थिक और सामाजिक
ो मामलों में ग्राम का प्रमुख था। अन्य कर्मचारी भी अवश्य रहे
, किन्तु वेदों में उनका उल्लेख नहीं मिलता।

४. अराजक राष्ट्र—आर्यों में कई जातियाँ थीं, जिनमें राष्ट्र का
खराजा नहीं होता था, इसके बदले उनमें गण-तांत्रिक-शासन-प्रणाली
ालित थी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् ययाति ने अपने

पुत्र यदु को शाप दिया था कि उसके वंश में कोई राजा न होगा। यह शाप सम्पूर्ण यदु-वंश के लिये सत्य सिद्ध नहीं हुआ,किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यादवों में कई अराजक राष्ट्र हुए। अथर्ववेद में वीतिहव्यों के गणतंत्र का उल्लेख है, जो हैहयों की एक शाखा में थे। महाभारत के पूर्व तो कई यादव-राज्य गणतांत्रिक हो गये थे। इनमें से अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर प्रसिद्ध थे। इनमें अंधक-वृष्णि का एक संघ था, जिसके संघ-प्रमुख का चुनाव होता था। भगवान कृष्ण ऐसे ही एक संघ-मुख्य थे।

## ५. सामाजिक जीवन

(१) समाज की रचना—वैदिक काल का भारतीय समाज आर्य और आर्येतरों की कई जातियों से मिलकर बना था। ऋग्वेद में अकसर पञ्चजनाः और पञ्चकृष्टयः की चर्चा आती है जो आर्यों की प्रमुख पांच जातियों का द्योतक है। आर्येतरों की भी कई जातियां थीं, जिनका उल्लेख हो चुका है। जाति के आधार पर समाज में पहले दो ही वर्ग थे—(१)आर्य और(२)आर्येतर। किंतु आर्थिक और सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ कई वर्गों की उत्पत्ति हुई। इनमें आर्यों और आर्येतरों का भेद नहीं था। इसका आधार समाज की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये श्रमविभाग था। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में इस विकास का आलंकारिक वर्णन दिया हुआ है। विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, उसकी बाहुओं से राजन्य(=क्षत्रिय), उसकी जंघाओं से विश् (=वैश्य) और पांवों से शूद्र उत्पन्न हुए। इस तरह समाज के एक ही विराट शरीर से धार्मिक और बौद्धिक काम करने के लिये ब्राह्मण, सैनिक और राजनैतिक काम के लिये राजन्य (=क्षत्रिय), समाज के स्तम्भ आर्थिक काम, कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि के लिये विश् (=वैश्य) और केवल शारीरिक श्रम के लिये शूद्र उत्पन्न हुए। किन्तु ये वर्ग अभी पैतृक नहीं बने थे, व्यवसायों का परिवर्तन सम्भव था और एक ही परिवार में कई वर्ग या वर्ण के लोग रह सकते थे। सामाजिक वर्गों में परस्पर मिलना-जुलना था। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रारम्भिक सरलता बहुत दिनों तक स्थिर न रह सकी और समाज में अकड़न और जटिलता आने लगी, यद्यपि उससे समाज के प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी।

(२) परिवार—समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार था। उत्तर पाषाण-काल में परिवार तरल अवस्था में था। परन्तु स्थायी बस्तियों और आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ परिवार-संस्था भी दृढ़ हो गयी। इसमें पति, पत्नी, बच्चे और यदि जीवित रहे तो पति के माता-पिता और उसके अविवाहित भाई-बहन शामिल होते थे। परिवार के सभी व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध के नाम और उनके काम निश्चित थे। पति कर्मनिष्ठ गृहस्थ था। वह अपने परिवार का मुखिया होता था और सभी लोग उसके संरक्षण और अधिकार में रहते थे। पत्नी का महत्व इतना अधिक था कि वही गृह (घर) कहलाती थी (जायेदस्तम्)। वह पति के समान गृहस्वामिनी होते हुए भी सभी घरेलू धंधों को करती थी। वैदिक दम्पति संतान की उत्कट कामना करते थे। पुत्रों की आवश्यकता केवल वंश को जीवित रखने के ही लिये नहीं, किंतु परिवार की आर्थिक समृद्धि, सैनिक बल और पितरों की आध्यात्मिक तृप्ति के लिए भी आवश्यक था। पुत्र का जन्म के समय बड़ा अभिनन्दन होता था। पुत्री के जन्म के समय उतना उल्लास नहीं होता था, जिसका कारण उसके विवाह की कठिनाइयाँ थीं। परन्तु पिता पुत्र-पुत्री सभी संतानों के पालन-पोषण और शिक्षा का समान ध्यान रखता था। पुत्री को दुहिता कहते थे, क्योंकि गोधन-प्रधान आर्य-परिवार में उसका काम दूध दुहना था। लड़कियों को भाई के साथ पिता की सम्पत्ति में भाग मिलता था। आजीवन कुमारी लड़कियों के भरण-पोषण का भार परिवार के ऊपर था। कुटुम्ब में वृद्ध माता-पिता श्रद्धा और आदर के पात्र थे और भाई-बहनों में परस्पर बड़ा प्रेम रहता था। सुखी और आदर्श परिवार का चित्र वेदों में अंकित मिलता है।

(३) विवाह-संस्था—आदिम काल में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्थिर न था। स्त्रियाँ स्वतन्त्र थीं। किसी के साथ भी अपनी इच्छा के अनुसार वे रह सकती थीं। परन्तु वैदिक काल में विवाह की मर्यादा अच्छी तरह से स्थापित हो गयी। अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध के उदाहरण प्रायः नहीं के बराबर हैं। अन्तर्वर्ण-विवाह होते थे। सवर्ण और असगोत्र विवाह की प्रथा अभी नहीं चली थी। किन्तु निकट सम्बन्ध में विवाह नहीं होते थे। विवाह के समय वर और कन्या

दोनों प्रौढ़ होते थे और विवाह के निर्धारण और निर्वाचन में अपना मत दे सकते थे। पर्दा-प्रथा के अभाव में परस्पर चुनाव के लिए यज्ञों, समनों, मेलों और दूसरे सामाजिक अवसरों पर चुनाव के लिये काफी मौके मिलते थे। वर-कन्या को चुनाव का अधिकार होने पर भी अभिभावकों की स्वीकृति की आवश्यकता समझी जाती थी। दहेज तय करने की प्रथा न थी, किन्तु कन्या के साथ कुछ दिया जाता था और सदोष कन्याओं के पिता या भाई को दहेज देकर अपना पिण्ड छुड़ाना पड़ता था। विवाह के कई प्रकार के दृष्टान्त मिलते हैं। पैशाच और राक्षस-विवाह के उदाहरण कम हैं। गान्धर्व विवाह के दृष्टांत दिखायी पड़ते हैं। परन्तु सर्वप्रचलित विवाह ब्राह्म था। यह विवाह मध्यस्थ के द्वारा वर-कन्या के प्रस्ताव और स्वीकृति तथा अभिभावकों की अनुमति से होता था। इसका नमूना ऋग्वेद में सूर्या और सोम का विवाह है।

समाज में एक विवाह की प्रथा ही अधिक प्रचलित थी। बहु-विवाह अपवाद था, जिसकी चलन धनिकों और राजाओं तक सीमित थी। बहु-पतित्व की प्रथा शायद आदिम काल में रही हो, किन्तु इस समय पीछे छूट गयी थी। द्रौपदी का पाँचों पाण्डवों से विवाह इसका एक विचित्र अपवाद है, किन्तु समाज में इसका आदर न था। यम-यमी के सम्वाद में भाई-बहन का विवाह भी आदिम-काल का एक संस्मरणमात्र ही है। पति या पत्नी के मरने पर दूसरा विवाह होता था। विधवा-विवाह और नियोग दोनों प्रथायें चालू थीं। कुछ समय के लिये भी विवाह सम्बन्ध करने के उदाहरण मिलते हैं,जैसे पुरुरवा और उर्वशी का प्रतिबद्ध विवाह।

(४) **समाज में स्त्रियों का स्थान**—सम्पूर्ण वैदिक काल में स्त्रियों का आदर था। कन्या, स्त्री और माता के रूप में उसकी प्रतिष्ठा थी। कन्या के रूप में वह लालित-पालित होती थी और उस समय उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार उसको था। घोषा, लोपामुद्रा, विश्ववारा आदि वैदिक स्त्रियों की गिनती ऋषियों में थी और उन्होंने वैदिक सूक्तों की रचना की थी। स्त्री रूप में वह घर की सम्राज्ञी थी और उसके धार्मिक और सामाजिक अधिकार पति के समान थे। वह पर्दे के भीतर नहीं रखी जाती थी और उसको घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता थी। कुछ

स्त्रियाँ रणकुशल होती थीं और पति के साथ युद्ध-स्थल में जाती थीं। सभा और समिति में भी स्त्रियाँ जाती थीं, परन्तु गर्म प्रश्नों पर वाद-विवाद के समय वहाँ उनका जाना अनुचित समझा जाता था। परिवार पितृ-सत्तात्मक होने के कारण स्त्रियों का आर्थिक अधिकार पुरुषों के बराबर नहीं था, परन्तु गृहस्वामिनी होने के कारण पति की सम्पत्ति का वह पूरा उपयोग करती थी।

## ६. आर्थिक जीवन

(१) आर्थिक जीवन के आधार—वैदिक काल में आर्थिक जीवन का केन्द्र अभी तक गोधन था। पशुपालन की कला में बहुमुखी विकास हुआ। कई प्रकार के जानवर पाले जाते और उनसे विभिन्न प्रकार के काम लिये जाते थे। गाय, बैल, घोड़े, गधे, खच्चर, कुत्ते, भेड़, बकरियाँ विशेषकर पाली जाती थीं। पशुओं पर अपना स्वाम्य प्रकट करने के लिये उनके कान रंगे जाते थे। पशुओं का व्यापार होता था और गाय अभी तक विनिमय का माध्यम थी। गोपालन के साथ-साथ कृषि में भी काफी उन्नति हुई। खेती के योग्य ज़मीन को उर्वरा या क्षेत्र कहते थे। कई बैलों से खींचे जाने वाले हल से खेत जोते जाते थे। खेती की सब प्रक्रियायें—जुताई, बुआई, सिंचाई, कटाई, दँवाई आदि मालूम थीं। खेती की उपज बढ़ाने के लिये खाद का भी उपयोग होता था। कूंये, झील, नहर, नदी आदि से सिंचाई होती थी। अनाजों में जौ, गेहूँ, मसूर, माष, (उड़द) तिल, धान आदि की खेती होती थी। इस युग में शिकार जीविका का आवश्यक साधन नहीं था, परन्तु मांस, चमड़े, खेल या मनोविनोद के लिये जंगली जानवर मारे जाते थे। ज्यों-ज्यों आर्थिक जीवन का विकास होता गया त्यों-त्यों उपरोक्त पेशों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उद्योग-व्यवसायों की सृष्टि हुई। इनमें से कुछ के नाम ये हैं:—तक्षन् (बढ़ई), कर्मार (धातु के काम करने वाले), हिरण्यकार (सुनार) चर्मकार (चमार), वाय (जुलाहा), भिषज् (वैद्य), उपल प्रक्षिणी (पथरकट) आदि।

(२) आर्थिक जीवन का संगठन और विनिमय—स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। व्यापार के मार्ग, व्यापारी, विनिमय, मोलभाव, सिक्के, व्याज आदि की चर्चा वैदिक साहित्य

में मिलती है। सिक्के का प्रचार कम था। निष्क नामक सोने
सिक्का चलता था, जो गहने की तरह धारण भी किया जाता थ
विनिमय में सामानों का आदान-प्रदान होता था। हाँ, कभी-कभी ग
विनिमय का माध्यम होती थी। ब्याज पर ऋण देने की प्रथा थी। ब्य
की दर मूलधन का आठवां या सोहलवां भाग था। ऋण चुका
धार्मिक दृष्टि से भी आवश्यक समझा जाता था। ऋण के बदले
दास होने की प्रथा भी चालू थी। किन्तु इसका समय निश्चित थ
अवधि बीतने पर ऋणी स्वतंत्र हो जाता था।

## ७. वस्त्र, शृंगार और आभूषण

कपड़ा बुनने में वैदिक कालीन लोग बड़े कुशल थे, किन्तु उन
वेश में सादगी थी। अपने शरीर को वे दो-तीन वस्त्रों से ढकते थे
इनमें से एक नीवी (अधोवस्त्र = धोती या साड़ी), दूसरा अधिवा
(उत्तरीय = चादर या ओढ़नी) और तीसरा पेशस् (काम किया हु
अंगरखा या चोली) था। वस्त्र काटने और सीने की कला मालूम थ
पुरुष उष्णीश या पगड़ी भी बांधते थे। कपड़े कपास, ऊन और रेश
के बनते थे। लोग अजिन (मृगचर्म) और दूसरे चमड़े भी काम
लाते थे। पुरुषों में कुछ लोग मुँह के बाल छुरे से कटवाते और कु
दाढ़ी भी रखते थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही बालों में कंघी और प्रस
धन करते थे। आभूषण पहनने का शौक स्त्री-पुरुष दोनों को था। कर
शोभन (कर्णफूल या बालियाँ), निष्कग्रीव (कंठहार), खादि (कंगन
कड़े), रुक्मवक्ष (छाती पर लटकने वाला भूषण), मणिग्रीव (मो
का हार) आदि गहनों के नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं।

## ८. भोजन और पेय

आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में यह लिखा जा चुका है कि प
पालन और कृषि दोनों ही काफी विकसित अवस्था में थे। इसलि
वैदिक काल के भोजन में दोनों की उपजों की प्रधानता थी। अना
शाक, फल, दूध, दही, घी, मांस आदि पदार्थ भोजन में शामिल थे
गाय अपने आर्थिक महत्व के कारण वेदों में 'न मारने योग्य'(अघ्न्य
कही गयी है, किन्तु विवाह, आदरणीय अतिथि के आगमन आदि अव
सरों पर मांस के लिये उसका वध होता था। बछड़ा, बछिया बांझ गा
(वेहत्),अजा (बकरी) भेड़ आदि जानवर मांस के लिये मारे जाते थे

## ९. विनोद के साधन

जीवन के प्रति लोगों की उदासीनता न थी। वे जीवन में पूरा रस लेते थे। उन्होंने आमोद-विनोद के कई साधनों का आविष्कार किया था। आर्य लोग घोड़े पालते थे। घुड़दौड़ और रथदौड़ उनका जातीय मनोविनोद हो गया था। वेदों में जूआ की निन्दा की गयी है, फिर भी लोगों में इसकी लत थी। संगीत का विकास हो चुका था। नृत्य (नाच), गान (गाना) और वाद्य (बाजे) तीन तरह का संगीत प्रचलित था। ताड़ने, फूंकने और तारवाले बाजों का प्रयोग होता था। दुंदुभि, कर्करि (बाँसुरी), वीणा, नावि, शृंग, नृणव, शंख, आदि बाजे बजते थे। मेलों और त्यौहारों के अवसर पर भी मन-बहलाव की काफी सामग्री जुटती थी।

## १०. धार्मिक जीवन

धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य से काफी सामग्री मिलती है, क्योंकि जहाँ भौतिक जीवन के साधन समय पाकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गये वहाँ धर्म-परायण आर्य जाति ने अपने धार्मिक साहित्य को बड़े परिश्रम से सुरक्षित रखा। वेद धार्मिक जीवन की निधि है। वेदों के पढ़ने से मालूम होता है कि आर्यों का धार्मिक जीवन आदिम अवस्था से काफी आगे बढ़ चुका था और भूतवाद तथा पत्थर, कुन्दों आदि की पूजा पीछे छूट चुकी थी। आर्यों ने असभ्य अंध विश्वासों से ऊपर उठकर एक नये जीवन के उमंग में प्रकृति की दिव्य विभूतियों का दर्शन किया। प्रकृति के दृश्यों में उनके लिये एक विचित्र आकर्षण, कुतूहल, अनुराग और श्रद्धा थी। प्राकृतिक दृश्यों के भीतर उनको दिव्य सत्ता का स्पर्श और अनुभव हुआ। फिर इन्हीं दृश्यों को प्रकट करने वाले देवताओं की कल्पना हुई, जिनकी स्तुति और उपासना से वेद भरा हुआ है।

(१) देव-मण्डल—देव अथवा देवता का अर्थ है 'प्रकाश, ज्ञान या दान देने वाला'। प्रकृति के जो दृश्य प्रकाश या ज्ञान देते हैं अथवा किसी प्रकार से मानव जीवन के लिये उपयोगी हैं, उनकी कल्पना देवता के रूप में की गयी। कुछ देवताओं की गणना नीचे की जाती है:—(१) द्यावा-पृथिवी (क्षितिज के छोरों को छूनेवाला आकाश

और विस्तृत धरती ) (२) वरुण ( व्यापक आकाश और जल के अधिपति, नैतिक देवता ) (३) इन्द्र ( वर्षा के अधिपति और आर्यों के राजसत्ता और सैनिक बल के आदर्श, (४) आदित्य (सूर्य के कई रूप—सवितृ, मित्र, पूषन, विष्णु आदि) (५) रुद्र और शिव (प्रकृति के संहारक और सौम्य रूप) (६) मरुत्, वायु, वात ( वायु के भिन्न-भिन्न रूप ) (७) पर्जन्य (बादल) (८) अश्विन् (प्रातः और सायं, संध्या का धुँधला प्रकाश ) (९) उषस् (अरुणोदय के पहले का प्रकाश ) (१०) अग्नि (११) सोम ( सोम-लता और चन्द्रमा ) (१२) भावात्मक देवता—अदिति, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, विराट पुरुष, श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) वाक् आदि ।

इस देववाद के युग में बहुत-सी देवेतर योनियों को भी देवता का पद मिला। ऋभु और अंगिरस जो कभी मानव ऋषि थे, देवता माने गये । अप्सरायें और गन्धर्व भी अर्द्ध-देवयोनि में आ गये । नदी-वृक्षों का भी दैवीकरण हुआ, सरस्वती नदी न रहकर वाक् और विद्या की अधिष्ठात्री देवी हो गयी । देव-मण्डल के साथ-साथ राक्षस तथा निशाचर-मण्डल की भी कल्पना हुई । प्रकृति की अन्धकारमयी और विनाशकारिणी शक्तियों की कल्पना इन रूपों में की गयी ।

(२) धार्मिक कृत्य—देवताओं और उनके पुजारियों के बीच का सम्बन्ध कई प्रकार के धार्मिक कृत्यों से स्थापित था । पहला धार्मिक कृत्य प्रार्थना या स्तुति थी । देवताओं के सामने लोग उनकी स्तुति करते और अपने मनोभावों को प्रकाशित करते थे। उनका विश्वास था कि प्रार्थनायें देवताओं तक पहुँचती हैं । वे उनसे प्रसन्न होते थे। दूसरा धार्मिक कृत्य यज्ञ था। यज्ञ में भोजन के पदार्थ अग्नि में, वृक्ष के नीचे या खुले आकाश में देवताओं को अर्पित किये जाते थे। यज्ञ की विधि शुरू में बड़ी सादी थी, पीछे पेचीदी होने लगी । अभी न तो देवताओं की मूर्तियाँ बनी थीं और न उनकी स्थापना के लिये मंदिरों का निर्माण हुआ था। अभी लोगों का प्रकृति के साथ सम्बन्ध ताजा, प्रत्यक्ष और सजीव था, इसलिये किसी प्रतिमा या प्रतीक की आवश्यकता न थी। हाँ, आर्येतर लोगों में प्रस्तर-लिंगों की पूजा होती थी, जिसको आर्य लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे । पितरों

की पूजा प्रचलित थी। कुशाओं के आसन पर भोजन-सामग्री रखकर श्रद्धा के साथ उनको आमंत्रित किया जाता था। मृतकों की अन्त्येष्टि-क्रिया भी विधिवत् की जाती थी। भक्तिमार्ग के भी कुछ तत्व वैदिक धर्म में पाये जाते हैं। वरुण और विष्णु की कल्पना और स्तुति में भक्तिभाव पाया जाता है। यादवों की एक शाखा सात्वतों में यह मार्ग विशेष रूप से प्रचलित था जो हिंसाप्रधान यज्ञ का विरोधी और अहिंसा और भक्ति का प्रेमी था।

(३) मरणोत्तर जीवन में विश्वास---मृत्यु के बाद पुनर्जन्म की स्पष्ट कल्पना वैदिक काल के प्रारम्भ में नहीं हो पायी थी। फिर भी लोगों का यह विश्वास था कि भौतिक शरीर के विनाश के साथ जीवन का अन्त नहीं होता; मनुष्य में एक ऐसा तत्व है जो मृत्यु के बाद भी बना रहता है; वह इस लोक को छोड़कर यम-लोक या पितृ-लोक को जाता है। इस यात्रा और इन लोकों का सजीव चित्र ऋग्वेद में मिलता है। स्वर्ग-नरक की कल्पना भी पायी जाती है। पीछे परलोक के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी जोड़ दिया गया, जिसके अनुसार जीव बार-बार जन्म लेता और मरता है। इस युग में स्वर्ग का ही आकर्षण अधिक था, मुक्ति की चिन्ता कम थी।

# पाँचवाँ अध्याय

## उत्तर वैदिक काल

महाभारत-युद्ध के बाद का इतिहास पुराणों के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र-ग्रंथों से जाना जाता है। ये ग्रंथ महाभारत के समय वैदिक संहिताओं के बनने के पश्चात् रचे गये थे। इसका साफ प्रमाण है, ब्राह्मणों और उपनिषदों में परीक्षित, जनमेजय, जनक, उग्रसेन, प्रवाहण जैवलि आदि राजाओं का उल्लेख, जो महाभारत के पीछे हुए थे। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्-ग्रंथ परम्परा के अनुसार वैदिक साहित्य के ही अंग माने जाते हैं; इसलिये इस काल को उत्तर वैदिक काल कहा जा सकता है।

### १. राजनैतिक अवस्था

(१) महाभारत-युद्ध का प्रभाव——सारे देश के ऊपर महाभारत युद्ध का बुरा प्रभाव पड़ा, परन्तु इसने विशेष रूप से मध्यदेश और पंजाब के राज्यों को क्षीण कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नागजाति, जिसको यादवों और पाण्डवों ने मथुरा और इन्द्रप्रस्थ के पास से खदेड़ दिया था और जिसने पश्चिमोत्तर सीमा में शरण ली थी, इस समय प्रबल हो गयी। इसने गान्धार पर अधिकार करके सारे पंजाब पर आतंक जमाते हुए कौरव राज्य पर आक्रमण किया और युधिष्ठिर के उत्तराधिकारी ( अर्जुन के पौत्र ) परीक्षित को मार डाला। नागों के उपद्रव से पंजाब और मध्यदेश त्रस्त था। परन्तु नागों की यह सफलता स्थायी नहीं थी। परीक्षित का पुत्र जनमेजय बड़ा शक्तिमान् राजा हुआ। इसने नागों को हराया और गान्धार से भी इनको निकाल बाहर किया। जनमेजय ने कौरवों की दुर्बल शक्ति को एक बार फिर जगा दिया। नागों के दब जाने पर केकय ( पश्चिमी पंजाब ) में अश्वपति नामक राजा ( जनमेजय का सहायक और मित्र ) हुआ जो अपनी उत्तम शासन-व्यवस्था और

ज्ञान के लिये सारे देश में प्रसिद्ध था। जनमेजय का पुत्र शतानीक और शतानीक का अश्वमेधदत्त हुआ। इनके समसामयिक क्रमशः विदेह के राजा जनक उग्रसेन और पाञ्चाल के राजा प्रवाहण जैवलि हुए। ये दोनों ही ब्रह्मवादी और दार्शनिकों के आश्रय-दाता थे। ऐसा जान पड़ता है कि महाभारत युद्ध ने उत्तर भारत के राज्यों की राजनैतिक उत्तेजना शान्त कर दी थी। लोग भौतिक जीवन के संघर्ष और नश्वरता को समझकर जीवन के अदृश्य और ऊँचे प्रश्नों पर विचार करने लगे।

(२) प्रसिद्ध राज्य और जातियाँ—इस समय नीचे लिखे प्रसिद्ध राज्यों और जातियों के उल्लेख मिलते हैं :—

(क) गान्धार
(ख) केकय
(ग) मद्र
(घ) मत्स्य
(ङ) कुरु
(च) पाञ्चाल
(छ) काशी
(ज) कोसल
(झ) विदेह
(ञ) मगध
(ट) कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)
(ठ) अवन्ति (आधुनिक मालवा)
(ड) अश्मक राष्ट्र—इसकी राजधानी गोदावरी की घाटी में पौदन्य थी।
(ढ) मूलक-राष्ट्र—इसकी राजधानी गोदावरी-घाटी में ही प्रतिष्ठान थी।
(ण) विदर्भ (बरार)
(त) विन्ध्य-मेखला और उसके दक्षिण में आंध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूषिक आदि जातियाँ।

ऊपर की सूची देखने से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली यह है कि पाण्डव साम्राज्यके टूट जाने पर देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। गुजरात, काठियावाड़, सिन्ध, दक्षिणी-पश्चिमी पंजाब के राज्यों का उल्लेख भी ऊपर की सूची में नहीं है। इसका कारण यह है कि इसी समय इन प्रदेशों में गणतांत्रिक राज्यों की स्थापना हुई और उनके अराजक होने के कारण, पिछले ब्राह्मण-साहित्य में उनका माहात्म्य कम हो गया। इस समय की एक और प्रसिद्ध राजनैतिक घटना कुरु और पाञ्चाल राज्यों का एक में मिल जाना था। टिड्डियों के आक्रमण से कुरुराज्य ऊजड़ हो गया और गंगा की बाढ़ हस्तिनापुर को बहा ले गयी। इससे कौरव लोग पाञ्चाल और वत्स में आ बसे। संयुक्त

कुरु-पाञ्चाल राज्य इस काल का प्रसिद्ध राज्य हो गया और इस काल की विद्या और सभ्यता का केन्द्र था।

## ३. राजनैतिक संस्थायें

(क) राज्यों के प्रकार—देश में कई प्रकार के राज्य थे। ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, समन्तपर्यायी, सार्वभौम आदि राज्यों के नाम आते हैं जो भिन्न-भिन्न प्रांतों में प्रचलित थे। राज्य एकतांत्रिक राज्य को कहते थे। साम्राज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य, समन्तपर्यायी और सार्वभौम साम्राज्यवादी बड़े-बड़े राज्य थे। भौज्य, स्वाराज्य और वैराज्य, अराजक लोकतांत्रिक राज्य थे। प्रायः लोकतांत्रिक राज्य भारत के पश्चिमोत्तर और पश्चिम में प्रचलित थे। साम्राज्य अकसर देश के पूर्वी भाग में स्थापित होते थे। सम्राट् साम्राज्य की स्थापना करके ऐन्द्र महाभिषेक, अश्वमेध, राजसूय और वाजपेय आदि राजनैतिक यज्ञ करता था।

(ख) राजा और उसके अधिकार—इस काल में राजा का पद पैतृक था और वह बहुत कुछ स्वछन्द हो चला था। फिर भी वह निरंकुश नहीं था। उसके ऊपर कई प्रतिबन्ध और नियंत्रण थे। अभी उसके निर्वाचन का सिद्धान्त नष्ट नहीं हुआ था और उसके उतराधिकार के ऊपर राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों का प्रभाव था। राज्याभिषेक के समय वह इस बात की प्रतिज्ञा करता था कि वह धर्मानुकूल प्रजा का पालन करेगा। समिति, सभा और मंत्रि-मण्डल का भी उसके ऊपर प्रभाव था।

(ग) शासन-व्यवस्था—राजा मंत्रियों की सहायता से राज्य का शासन करता था। मन्त्री लोग राजा के कृपा-पात्र और आश्रित नहीं होते थे; इनका पद परम्परा और जनमत से अनुमोदित था। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इनकी सूची निम्नलिखित है—

(अ) पुरोहित—राजा के राजनैतिक और धार्मिक मामले में उसका प्रधान मन्त्री।

(आ) राजन्य—यह राजवंश और शासकवर्ग का प्रतिनिधि था।

(इ) महिषी—पटरानी।

(ई) वावाता—प्रिय रानी।

(उ) परिवृक्ती—परित्यक्ता रानी।

(ऊ) सूत—बन्दी, चारण या पौराणिक सूत।

(ऋ) सेनानी—सेना का प्रधान अधिकारी।

(ॠ) ग्रामणी—यह गाँवों का सैनिक और मालगुजारी वसूल करने वाला अधिकारी था।

(ऌ) क्षत्रि—यह राजप्रासादों का रक्षक था।

(ए) संगृहितृ—कोषाध्यक्ष।

(ऐ) भागदुघ—राजकर वसूल करने वाला प्रमुख अधिकारी।

(ओ) अक्षावाप—जूआ-विभाग का अध्यक्ष।

(औ) गोनिकर्तन—शिकार का प्रमुख अधिकारी।

(अं) पालागल—दूत या संदेश-वाहक।

(अः) रथकार—(रथ-निर्माण विभाग का प्रधान) और तक्षन (राजबढ़ई)।

ऊपर के मन्त्रियों में कुछ राज-परिवार के व्यक्ति और कुछ शासन-विभाग के अध्यक्ष थे; परन्तु राज्य-संचालन में सभी राजा की सहायता करते थे। इनके अतिरिक्त राज्य का एक और अधिकारी था जो स्थपति कहलाता था। यह प्रांत-पति या न्यायधीश था। कई राज्यों की शासन-व्यवस्था बहुत उत्तम थी और उनमें अपराध बहुत कम होते थे। केकय देश के राजा अश्वपति छान्दोग्य उपनिषद् में गर्व के साथ कहते हैं।

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्न चाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(मेरे राज्य में कोई चोर, ठग, शराबी, कर्महीन और मूर्ख नहीं है; न कोई व्यभिचारी पुरुष, फिर व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कहाँ?)

## २. सामाजिक अवस्था

पूर्व वैदिक काल में आर्य जातियों के विस्तार के बाद ज्यों-ज्यों उनके उपनिवेशों और राज्यों में स्थिरता आने लगी त्यों-त्यों उनका सामाजिक जीवन भी स्थिर होने लगा। समाज में कई वर्गों और व्यवसायों की उत्पत्ति हो चुकी थी, किन्तु वे अभी तरल अवस्था में थे और उनमें परिवर्तन सरलता से संभव था। उत्तर वैदिक काल में उनको 'संस्था' अथवा स्थायी वर्ग का रूप मिला। ऋग्वेद के वर्ण गुण-कर्म पर अवलम्बित थे, परन्तु इस काल का वर्ण जन्म पर अवलम्बित होकर पैतृक हो गया। वर्ण एक आदर्शवादी सामाजिक व्यवस्था थी। उसके ऊपर आदिम संस्था जाति का प्रभाव, जिसका आधार जन्म था, स्पष्ट दिखायी पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ण भी जातियों के रूप में बदलने लगा। इस नये विकास के कई कारण जान पड़ते हैं। आर्थिक जीवन के विस्तार के साथ-साथ नये व्यवसायों का उदय, प्रजा में आर्येतर तत्व की वृद्धि, अपने व्यवसाय में विशेषता प्राप्त करने के लिये उनका पैतृक होना, वर्गगत ममता, अहंकार और स्वार्थ आदि की गणना इन कारणों में हो सकती है।

(१) वर्ण-व्यवस्था—समाज के संगठन का आधार वर्ण था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों का उल्लेख पूर्व वैदिक-काल में भी हो चुका है। ब्राह्मण वर्ण के स्थिर हो जाने पर इसके कई वर्ग बने, जैसे साधारण पुरोहित, राजपुरोहित, राजमन्त्री, शिक्षक, उपदेशक, आचार्य और ऋषि। प्राचीन राजाओं से राजन्य या राजवंश की परम्परा चल निकली और इसके भी कई उपविभाग हो गये, जैसे शुद्ध राजवंश, राजपुरुष, शासक और सैनिक। विश् या साधारण प्रजा से वैश्य वर्ण का विकास हुआ। गोपालन, कृषि, व्यापार और दूसरे उद्योगों के विस्तार से वैश्यों के अनेक वर्ग एक दूसरे से अलग होते गये। शूद्रों की संख्यावृद्धि से पारिवारिक दास या नौकर, वैश्यों के मजदूर और दूसरे हीन व्यवसाय करने वाले बहुत-से वर्ग उत्पन्न हुए। जातियाँ तो पहले से ही भारतीय समाज में थीं। 'वर्ण' उनको नष्ट न कर स्वयं उनका शिकार हो गया। क्रमशः बहुत-सी जातियाँ और उपजातियाँ उत्तरोत्तर दृढ़ और एक दूसरे से अलग होकर बढ़ने लगीं। इस प्रक्रिया में बहुत बड़ी सहायता भारतीय समाज और राष्ट्र से मिली,

जो एकरूपता पर जोर नहीं देते और विविधता के प्रति बहुत उदार हैं।

(२) आश्रम-व्यवस्था—वर्ण के साथ-साथ इस काल में आश्रम-व्यवस्था का भी विकास हुआ। चिंतनशील समाजशास्त्रियों ने जीवन के चार विभाग किये जो चार आश्रम कहलाये। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य था, जिसमें मनुष्य कठोर नियमों का पालन करता हुआ विद्या और ज्ञान की प्राप्ति में गुरुकुल में अपने जीवन के पहले पच्चीस वर्ष बिताता था। इसको समाप्त कर वह दूसरे आश्रम गार्हस्थ्य में प्रवेश करता था। इसमें धर्मानुसार अर्थ का उपार्जन कर, काम का उपभोग करता हुआ पुरुष अपने सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करता था। गार्हस्थ्य में दूसरे पच्चीस वर्ष बिताकर वह तीसरे आश्रम वानप्रस्थ को अपनाता था। इसमें गृहस्थी का भार अपने पुत्रों को सौंप कर क्रमशः मनुष्य सांसारिक जीवन से अलग होता था और त्याग, तपस्या तथा साधना का जीवन बिताता था। इतनी तैयारी हो जाने पर जीवन के चौथेपन में वह चतुर्थ आश्रम परिव्राजक अथवा सन्यास को ग्रहण करता था। इसमें सारे सांसारिक बन्धनों का त्याग कर, केवल ब्रह्मचिन्तन करता हुआ मनुष्य मुक्ति की तैयारी करता था। मानव-जीवन के महान् पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की क्रमशः प्राप्ति के लिये चारों आश्रमों का विकास हुआ था। वास्तव में मनुष्य के इतिहास में उसके जीवन के वैज्ञानिक विभाजन का यह पहला प्रयास था।

(३) सामाजिक सम्बन्ध—यद्यपि इस समय सामाजिक संस्थायें रूढ़ हो रही थीं, किन्तु अभी समाज में जड़ता न आकर गति बनी हुई थी। सवर्ण विवाह प्रचलित होते हुये भी अन्तर्जातीय विवाह अभी संभव था और व्यवसायों का परिवर्तन अभी होता था। वैसे समाज की कल्पना तो सेन्द्रिय थी, परन्तु व्यवहार में ब्राह्मण-क्षत्रियों के अभिजनवाद का उदय होने लगा। व्यवसाय और श्रम में अधिक सम्बन्ध होने के कारण वैश्य और शूद्र एक दूसरे के निकट आने लगे। इस प्रकार समाज के ऊपरी और निचले स्तरों में भेद होने लगा। इस युग में कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से ब्राह्मणों का समाज में प्राधान्य था।

## ३. धर्म और दर्शन

(१) वेदवाद और कर्मकाण्ड—उत्तर वैदिक काल के जीवन में एक विशेष परिवर्तन हुआ। वैदिक युग में धार्मिक जीवन बड़ा सरल था। प्रकृति के सजीव दृश्यों से प्रभावित हो लोग उनके अधिष्ठाता देवताओं की स्तुति करते और सादगी के साथ उनको बलि भी चढ़ाते थे। इस पूजा-पद्धति में आत्मसमर्पण और भक्ति की भावना प्रधान थी। उत्तर वैदिक काल में यह मनोवृत्ति बदली। मनुष्य ने प्रकृति से कुछ स्वतन्त्र होकर अपने अहंकार और शक्ति को संभाला। अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये देवताओं को मंत्रों के बल से अपने वश में करना चाहा। इसलिये वैदिक मन्त्रों का महत्व बढ़ा। इस युग को वेदवाद का युग कहा जा सकता है। वेदवाद के साथ-साथ कर्मकाण्ड का भी विस्तार हुआ। कई प्रकार के लम्बे, पेचीदे और खर्चीले यज्ञ होने लगे। इनके लिये बहुत-से पुरोहितों और अधिक सामग्री की आवश्यकता पड़ती थी। यज्ञ में पशु भी बड़ी संख्या में मारे जाने लगे। सारा कर्मकाण्ड एक बाहरी आडम्बर का रूप धारण कर रहा था और उसके विस्तार के नीचे धर्म की आत्मा दब-सी गयी थी।

(२) देव-मण्डल—इस समय देव-मण्डल प्रायः वही था जो पूर्व वैदिक काल में, परन्तु इसमें कई देवताओं का उत्थान और पतन हुआ। वरुण, इन्द्र आदि की प्रधानता जाती रही। उनके स्थान पर प्रजापति, विष्णु, और शिव की प्रधानता हो गयी। ऋग्वेद के समय में प्रजापति एक अव्यक्त देवता थे, किंतु इस समय ये यज्ञों के स्वामी हो गये। इनका रूप भी अधिक मूर्त हो गया, जिससे पौराणिक ब्रह्मा का विकास हुआ। विष्णु ऋग्वेद में सूर्य के एक स्वरूपमात्र छोटे देवता थे, परन्तु इस काल में ये प्रधान यज्ञ-पुरुष हो गये। ऋग्वेद के भयंकर रुद्र ने अपना शिव-रूप धारण किया और यज्ञों में इनका भी प्रमुख स्थान हो गया। देवमण्डल के साथ अप्सरा, नाग आदि अर्द्ध देवयोनियों की कल्पना भी विकसित हुई।

(३) दर्शन का उदय—अभी तक मनुष्य बहिर्मुख था। उसके सामने जीवन और जगत् की समस्यायें उठ चुकी थीं, किंतु वह उनका

उत्तर प्राकृतिक जगत में ढूँढ़ता था। इसी प्रयास में वैदिक देवमण्डल और कर्मकाण्ड की कल्पना हुई। परन्तु विचारशील व्यक्तियों को देवता, यज्ञ और उससे प्राप्त होने वाला स्वर्ग सभी नश्वर तथा क्षणिक दिखायी पड़ने लगे। भौतिक दृष्टिकोण को महाभारत युद्ध ने बड़ा धक्का दिया। मनुष्य अधिक ध्यान से सोचने लगा और अन्तर्मुख हो गया। वह जीवन और विश्व के गम्भीर प्रश्नों पर अनासक्ति और विवेक के साथ विचार करने लगा। इसी चिन्तन का फल आरण्यकों और उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धांतों के रूप में प्रकट हुआ। विश्व की विविधता में एकता की खोज तो ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों में शुरू हो गयी थी और सत् के रूप में उसका पता भी लग गया था। वही अद्वितीय सत्ता उपनिषदों में अधिक व्यापक रूप से ब्रह्म की कल्पना में अनुभूत हुई। वह केवल सत् ही नहीं किन्तु सत्-चित्‌ और आनन्दमय दिखायी पड़ा। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, निर्गुण और निर्विकल्प है। विश्व का उदय, धारण और प्रलय उसी से होता है। वही एक वास्तविक सत्ता है, उसके अतिरिक्त विश्व में कुछ और नहीं। आत्मा ब्रह्म की ही ज्योति है और उससे भिन्न नहीं। व्यक्ति केवल अज्ञानवश अपने को ब्रह्म से भिन्न और शरीर तक सीमित समझता है। अज्ञान में पड़ा हुआ आत्मा अपने शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार कर्म के सिद्धांत से संचालित होकर बार-बार जन्म और मरण के चक्कर में पड़ता है। इस अज्ञान से छुटकारा और ब्रह्म-आत्मा में एकत्व की अनुभूति की अवस्था को मोक्ष बतलाया गया। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का साधन है ज्ञान और नैतिक आचरण। उपनिषद्कारों ने कर्मकाण्ड को बहुत ही गौण स्थान दिया है; उनका कहना है कि वे लोग मूर्ख हैं जो विश्वास करते हैं कि यज्ञों के द्वारा वे संसार से मुक्ति पा सकते हैं।

**(४) नीति का उदय**—ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड में यद्यपि बाहरी आडम्बर बहुत था, फिर भी उनमें नीति के सिद्धांत छिपे हुए थे। इसी युग में पञ्च महायज्ञों और तीन ऋणों की कल्पना हुई। पञ्चमहायज्ञ थे—(१) ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय) (२) देव यज्ञ (याग आदि) (३) पितृयज्ञ (संतान-उत्पत्ति और श्राद्ध आदि)(४)अतिथि यज्ञ (अतिथियों

की सेवा) और (५) भूत-यज्ञ (जीवधारियों का पालन)। इन यज्ञों के सिद्धांत में यह बतलाया गया है कि वह संसार में एकाकी और स्वतंत्र नहीं उत्पन्न होता है। समाज के प्रति उसके दायित्व और कर्तव्य हैं, जिनका पूरा करना उसका धर्म है। इसी प्रकार तीन ऋण—(१) देव-ऋण(देवताओं-भौतिक शक्तियों-के प्रति दायित्व) (२)ऋषि-ऋण(प्राचीन ज्ञान,विद्या और साहित्य के प्रति कर्तव्य) और (३) पितृ-ऋण (पूर्वजों के प्रति कर्तव्य)। इन ऋणों की कल्पना में भी समाज और संस्कृति के प्रति अपने कर्तव्य का बोध कराया गया है। इनके अतिरिक्त सत्य, ईमानदारी, यम, नियम, दया, मैत्री आदि गुणों की प्रशंसा भी की गयी है।

## ४. शिक्षा और विद्या

साहित्य की दृष्टि से यह युग रचनात्मक नहीं, किंतु आलोचनात्मक था। परंतु धर्म, विज्ञान, दर्शन और शास्त्र की दृष्टि से यह काल मानसिक विकास और विद्या के प्रचार के लिये प्रसिद्ध है। इसी युग में ब्राह्मण-ग्रंथ, आरण्यक और उपनिषद् लिखे गये और वेद की शाखाओं का विस्तार हुआ। सारा ब्राह्मण-साहित्य इस युग के अंत में विषयों के वर्गीकरण के अनुसार सूत्रों में लिखा गया। सूत्रों के तीन प्रकार थे— (१) श्रौतसूत्र (इनमें यज्ञों का वर्णन और विधान था) (२) गृह्यसूत्र (इनमें घरेलू संस्कारों का वर्णन) और (३) धर्मसूत्र (इनमें आचार, सामाजिक नियम, राजनैतिक और कानूनी नियमों का वर्णन है)। वेदाङ्गों का विकास भी इसी समय हुआ। इनकी गणना इस प्रकार है —(१) शिक्षा (शुद्ध उच्चारण का शास्त्र) (२) कल्प (कर्मकाण्ड) (३) निरुक्त (शब्दों की उत्पत्ति का शास्त्र) (४)व्याकरण (शुद्ध बोलने, लिखने और पढ़ने का शास्त्र) (५) छन्द (पद्यरचना) और (६) ज्योतिष (नक्षत्रों और ग्रहों की गति का शास्त्र)।

ब्रह्मचर्य आश्रम का विकास हो चुका था। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उपनयन के बाद पढ़ने के लिये गुरु या आचार्य के पास जाना पड़ता था। शिक्षा का उद्देश्य श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और मोक्ष की प्राप्ति थी। इस संसार में उन्नति और परमार्थ की उपलब्धि ही विद्या का आदर्श था। विद्या-प्रचार के साधन थे—गुरुकुल, आश्रम, परिषद्, सभा आदि। घूमने वाले चरक और परिव्राजक भी

विद्या का प्रचार करते थे। शिक्षण-पद्धति में पाठों का उच्चारण, उनका भाष्य, व्याख्या और वाद-विवाद सम्मिलित थे। छान्दोग्य-उपनिषद् के अनुसार पाठ्य-क्रम में निम्नलिखित विषय शामिल थे—(१) ऋग्वेद (२) सामवेद (३) यजुर्वेद (४) अथर्ववेद (५) इतिहास और पुराण (६) व्याकरण (७) पित्र्य (८) राशि (९) दैव (१०) निधि (११) वाकोवाक्य (१२) एकायन (१३) वेद विद्या (१४) ब्रह्म-विद्या (१५) भूत-विद्या (१७) नक्षत्र-विद्या (१८) सर्प-विद्या (१९) देवजन-विद्या। विद्यार्थी को पढ़ने के लिए कम-से-कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में रहना पड़ता था। गुरुकुल या आश्रम का जीवन कठोर और संयम-नियम का था। गुरु और शिष्य का सम्बंध बहुत ऊंचे ढंग का था। शिष्य गुरु का आदर और गुरु शिष्य से स्नेह करता था।

# छठवाँ अध्याय

## जनपदों का समय

### १. जनपदों का विकास

उत्तर वैदिक-काल तक आर्य-राज्यों का आधार जन या जाति थी। जो जाति या वंश जहाँ बसता था, उसके नाम पर प्रदेश या प्रान्त का नाम पड़ जाता था। ऐसे राज्यों को जान या जातीय राज्य कह सकते हैं। राज्य की कल्पना ही जातीय थी। राज्य में दूसरी जाति के लोग भी बसते थे, परन्तु उनका स्थान गौण था। उत्तर वैदिक काल के बाद राजनैतिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। भिन्न-भिन्न प्रदेश जातियों के स्थायी रूप से बस जाने के कारण 'जनपद' (जातियों के बसने के स्थान) कहलाने लगे। अब जाति या जन के स्थान पर जनपद या प्रदेश का महत्व बढ़ा। राज्य की कल्पना जातीय के बदले भौगोलिक हो गयी। अब लोग जनपद के नाम से पुकारे जाने लगे। इस युग में ऐसे कई जनपदों का वर्णन मिलता है। इनमें सोलह प्रधान थे। इसलिए 'षोडश महाजनपद' एक राजनैतिक मुहावरा हो गया। इनकी सूचियां बौद्ध, जैन और ब्राह्मण-ग्रंथों में पायी जाती हैं। प्रसिद्ध जनपदों का उल्लेख नीचे किया जायगा। बौद्ध और जैन-साहित्य में इनकी गणना अकसर पूर्व से शुरू होती है। इसीका अनुसरण यहां किया जायगा।

(१) अंग—यह जनपद बिहार के उत्तरी-पूर्वी भागमें स्थित था। इसकी राजधानी चम्पानगरी उसी स्थान पर थी जहां आजकल भागलपुर बसा हुआ है। यह व्यापार और सभ्यता का केन्द्र थी। अंग का पड़ोसी राज्य मगध के साथ संघर्ष चलता था। पहले अंग प्रबल था, किंतु पीछे मगध से पराजित हुआ।

(२) मगध—दक्षिण बिहार या गंगा के दक्षिण का भाग मगध कहलाता था। इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। यह भी

अपने वैभव के लिये प्रसिद्ध थी। पहले यहां बार्हद्रथ-वंश का राज्य था। पीछे हर्यङ्क या नागवंश वालों ने इस पर अपना अधिकार जमा लिया।

(३) काशी—यह जनपद आजकल के युक्तप्रांत के दक्षिण-पूर्व में था। इसकी राजधानी काशी या वाराणसी थी, जो अपने ज्ञान, शिल्प, व्यापार और समृद्धि के लिये प्रसिद्ध थी। काशी-राज्य इस समय का बड़ा शक्तिशाली राज्य था। इसने अपने राजा ब्रह्मदत्त के समय में 'अग्रराज' (प्रमुख राज्य) का पद प्राप्त किया था। इसका कोसल राज्य से संघर्ष था और पीछे इसीसे इसका पतन हुआ।

(४) कोसल—कोसल-जनपद आधुनिक अवध के प्रायः बराबर था। इस समय इसकी राजधानी अयोध्या न होकर और उत्तर में राप्ती के किनारे श्रावस्ती थी। यह प्रसिद्ध मार्ग और वणिक्-पथ पर स्थित थी। प्राचीन कोसल का पूर्वी भाग अलग होकर गण-राज्यों में बदल चुका था। काशी से कोसल की बराबर होड़ थी। अन्त में कोसल ने काशी को अपने राज्य में मिला लिया।

(५) वज्जि—यह जनपद प्राचीन विदेह और कोशल राज्यों के टूट जाने पर उन्हींके स्थान पर स्थित था। इसमें राजतंत्र के बदले गणतंत्र की स्थापना हुई। वज्जि-संघ में आठ गण-राज्य शामिल थे। इसका आधिपत्य उत्तरी बिहार पर था। इसकी राजधानी वैशाली (=प्राचीन विशाला) उसी स्थान पर थी जहाँ आजकल मुजफ्फर जिले में बसाढ़ नामक स्थान है।

(६) मल्ल—वज्जि-जनपद के पश्चिम-उत्तर में हिमालय की तराई (आधुनिक देवरिया-गोरखपुर) में मल्ल-जनपद स्थित था। यह प्राचीन कोसल का पूर्वी भाग था। मल्लों की दो मुख्य शाखायें थीं। एक की राजधानी कुशीनगर (वर्तमान कसया के पास अनुरुधवा) और दूसरे की राजधानी पावा (=अपापा—वर्तमान सठियाँव-फाजिरनगर, कसया से १० मील दूर) थी।

(७) वत्स वा वंश—काशी-जनपद के पश्चिम में वत्स-जनपद था। पुराणों के अनुसार हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने पर पौरव राजा निचक्षु ने यमुना के तटवर्ती प्रदेश पर इस जनपद की स्थापना की थी। इसकी

राजधानी यमुना के किनारे स्थित कौशाम्बी थी। व्यापार और युद्ध के मार्ग यहां से होकर जाते थे। वत्स का झगड़ा अपने पड़ोसी राज्य अवन्ति से चलता था।

(८) चेदि—वत्स के दक्षिण में चेदि जनपद था। इसकी राजधानी केन के किनारे शुक्तिमती थी। महाभारतकालीन शिशुपाल के बाद इसकी अवनति होती गयी। इसी काल में इसकी एक शाखा कलिंग में स्थापित हुई।

(९) कुरु—यमुना के तट पर इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के आस-पास के प्रदेश में कुरु-जनपद था। इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली के पास) थी। इस समय इसका प्राचीन राजनैतिक गौरव अस्त हो चुका था, परंतु यह अपने आचार और शील के लिये प्रसिद्ध था। जातक-ग्रंथों में कुरु-धर्म्म (कुरु-जनपद के चरित्र और शील) की अक्सर चर्चा आती है।

(१०) पांचाल—गंगा-यमुना के दो-आबे के पूर्वी भाग में यह जनपद स्थित था। इसके दो भाग थे—(१) उत्तर पाञ्चाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्र और (२) दक्षिण पाञ्चाल जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी।

(११) मत्स्य—आधुनिक जयपुर, भरतपुर, अलवर आदि राज्यों की भूमि पर मत्स्य-जनपद स्थित था। इसकी राजधानी विराटनगरी (जयपुर में आधुनिक वैराट) थी।

(१२) शूरसेन—कुरु-जनपद के दक्षिण और चेदि के पश्चिमोत्तर शूरसेन-जनपद प्रायः वर्तमान व्रजमण्डल के बराबर था। इसकी राजधानी मथुरा थी।

(१३) अवन्ति—इस जनपद की सीमायें वर्तमान मालवा के बराबर थीं। इसकी राजधानी उज्जयिनी नगरी थी। यहाँ प्रद्योत वंश राज्य करता था। इस राज्य की वत्स के साथ अकसर लड़ाई होती थी।

(१४) गान्धार—इस जनपद में अफगानिस्तान का पूर्वी भाग, सीमान्त प्रदेश, पञ्जाब का पश्चिमी भाग और काश्मीर का अधिकांश दक्षिणी भाग सम्मिलित थे। इसकी राजधानियां तक्षशिला और पुष्क-

रावती थीं। तक्षशिला उस समय विद्या का केन्द्र थी और दूर-दूर प्रान्तों के विद्यार्थी यहाँ शिक्षा-प्राप्त करने के लिये आते थे।

(१५) कम्बोज—काश्मीर का उत्तरी छोर और गान्धार के उत्तर का प्रदेश पामीर तथा बदख्शां तक कम्बोज में सम्मिलित था। कम्बोज की राजधानी राजपुर थी।

(१६) अश्मक—गोदावरी के तटवर्ती प्रदेश पर अश्मक जनपद स्थित था। इसकी राजधानी पोदन्य(वर्तमान पोतन या पोतलि) थी।

ऊपर के सोलह महाजनपदों के अलावा भारतवर्ष में और कई एक जनपद थे। आधुनिक पंजाब में केकय, मद्रक, त्रिगर्त, यौधेय आदि जनपद और सिन्ध में सिन्धु, सौवीर, शिवि, अम्बष्ठ आदि जनपद थे। ये अपने आस-पास के महाजनपदों से छोटे और शायद उनके राजनैतिक प्रभाव में थे। इसी प्रकार कोसल और मल्ल जनपद के बीच में शाक्य-जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। यह जनपद गणतन्त्री और मल्ल-संघ में सम्मिलित था, यद्यपि कभी-कभी कोसल का आधिपत्य भी इसे मानना पड़ता था। अश्मक के पूर्व में कलिंग और पश्चिम में मूलक (इसकी राजधानी पतिष्ठान या पैठन) और विदर्भ (बरार) नाम के प्रसिद्ध जनपद थे। भारत के पश्चिमी जनपदों में सौराष्ट्र और कच्छ तथा पूर्वी जनपदों में राढ (पश्चिमी बंगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल) और वंग (पूर्वी बंगाल) के उल्लेख भी मिलते हैं। महाजनपद अश्मक के आस-पास कई छोटे जनपद अन्ध्र, पुलिन्द, शबर, मूषिक आदि थे। इन सबके दक्षिण में दामिल-रट्ठ (तामिल-राष्ट्र) का भी नाम सुनायी पड़ता है। तामिल के भी दक्षिण में नागद्वीप (सिंहल = लंका) और कारद्वीप थे। इस तरह सारे भारतवर्ष में जनपद-राज्यों की स्थापना इस युग में हो गयी थी। लोगों को अपने स्थान से ममता थी और वे उसी नाम से पुकारे जाते थे।

## २. राजनैतिक अवस्था

जनपदों की सूची देखने से यह बात साफ दिखायी पड़ती है कि इस समय भारतवर्ष कई राज्यों में बंटा हुआ था। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अपनी सीमा पर पहुँच चुकी थी। ऐसा कोई राज्य नहीं था, जिसका आधिपत्य दूसरे राज्य मानते रहे हों। इससे यद्यपि जनपदों को अलग-

अलग विकास करने का अवसर मिला, किन्तु देश में किसी बड़ी शक्ति का संघटन न हो सका। यह परिस्थिति स्थानीय चेतना और स्थानीय स्वराज्य के अनुकूल थी। इस युग की दूसरी राजनैतिक विशेषता यह है कि इसमें कई प्रकार के राज्य वर्तमान थे - (१) राजतांत्रिक, जहाँ एक व्यक्ति राज्य का स्वामी होता था और राज्य का अंतिम अधिकार उसके हाथ में होता था और (२) गणतांत्रिक, जहाँ गण या समूह राज्य का शासन करता था और राज्यसत्ता प्रजा के हाथ में होती थी। पहले प्रकार में मगध, काशी, कोसल, वत्स, अवन्ति आदि प्रसिद्ध थे; दूसरे में वज्जि-संघ और मल्ल-संघ का उल्लेख हो सकता है। ये राज्य व्यक्तिगत रूप से या गुट बनाकर प्रायः आपस में लड़ा भी करते थे। इस समय की तीसरी विशेष बात है साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति का उदय। जनपद-युग के अन्त में यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। प्रत्येक शक्तिशाली राज्य अपने पड़ोस के राज्यों को जीतने और अपने राज्य को बढ़ाने के प्रयत्न में लगा हुआ दीख पड़ता है। यदि पूर्व से देखा जाय तो मगध और अंग में होड़ लगी हुई मिलती है, जिसमें मगध अंत में विजयी हुआ। कोसल और काशी का संघर्ष भी बहुत दिनों चला और अंत में कोसल सफल हुआ। इसी प्रकार अवन्ति दक्षिण के हैहय राज्यों का विनाश कर वत्स के साथ उलझा हुआ दिखायी पड़ता है। सबसे पीछे मगध, कोसल और अवन्ति में साम्राज्य स्थापित करने की प्रतियोगिता जारी रही।

# सातवाँ अध्याय

## धार्मिक सुधारणा

### १. उत्तर वैदिक काल के धर्म की प्रतिक्रिया

उत्तर वैदिक काल में धर्म का स्वरूप बहुत कुछ बाहरी, जटिल और दुरूह हो गया था। इसलिये इस प्रकार के धर्म से धीरे-धीरे जनता ऊबती गयी और कई विचारशील लोगों ने उसका विरोध करना शुरू किया। धर्म के उन पहलुओं का, जो जनता के धार्मिक और बौद्धिक विकास में बाधा डाल रहे थे, नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जाता है:

(१) वेदवाद—वेद भारतीयों के आदिम ग्रंथ थे, जिनमें उनके काव्य, धर्म और ज्ञान का संग्रह था। इसलिये वेदों के प्रति श्रद्धा स्वाभाविक थी। क्रमशः वेद सभी धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों पर प्रमाण माने जाने लगे और कुछ समय में मीमांसकों ने केवल वेद को ही प्रमाण माना। परम्परा के प्रति इस अति-अधिक श्रद्धा से मनुष्य का बौद्धिक विकास रुकने लगा। उसको अपनी बुद्धि और अनुभव के उपयोग का अवसर नहीं मिलता था और उसकी प्रतिभा वेद-वचन से टकरा कर बेकार हो जाती थी। ऐसी परिस्थिति में प्रतिभाशाली व्यक्तियों और धर्म के अन्वेषकों में असंतोष होना आवश्यक था।

(२) देववाद—धर्म की दूसरी रूढ़ि, जिससे प्रतिक्रिया हुई, देववाद थी। इसका अर्थ है देवताओं और ईश्वर की कल्पना और मानव-जीवन के ऊपर उनका आधिपत्य। पहले मनुष्य ने प्रकृति के दृश्यों और उनको नियमित करने वाली शक्ति को देवता और ईश्वर के रूप में देखा। मनुष्य का दोनों के साथ मैत्री का सम्बन्ध था। परस्पर सहयोग और सुख की भावना थी। किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य की सभी भावनाओं, शक्तियों और कमजोरियों का आरोप देवताओं और ईश्वर

के ऊपर हो गये। वे रक्त-मांस, राग-द्वेष से बने हुये व्यक्ति विशेष के रूप में हो गये। ईश्वर अनियंत्रित शासक और देवता उसके सामन्तों के समान माने गये। मनुष्य अब उनका मित्र नहीं, किंतु उनकी दया का भिखारी हो गया। वह अपना पुरुषार्थ, साहस, आत्मविश्वास और व्यक्तित्व खो बैठा। मनुष्य की इस दीन-दशा पर किस स्वाभिमानी चिंतनशील मानव को क्षोभ नहीं होता ?

(३) कर्मकाण्ड —यज्ञों का विस्तार भी घबड़ाने वाली बात थी। शुरू में यज्ञ सरल थे। कोई भी व्यक्ति श्रद्धा और प्रेम से, खुले आकाश या पेड़ के नीचे, देवताओं को अपना उपहार अपने आप अर्पित करता था। इसमें न तो किसी दूसरे की सहायता और न बहुत मूल्यवाली सामग्री की जरूरत पड़ती थी। परन्तु उत्तर वैदिक काल में अनेक प्रकार के यज्ञों का आविष्कार किया गया। कई यज्ञ बारह वर्ष तक चलते थे। उनमें दर्जनों यज्ञ कराने वाले पुरोहितों, अधिक और बहुमूल्य सामानों की आवश्यकता पड़ती थी। यह धर्म साधारण गृहस्थ के लिये असंभव हो गया, केवल राजा या श्रीमंत लोग ही यज्ञों का अनुष्ठान करा पाते थे। इन यज्ञों में एक भयंकर बात थी निरपराध पशुओं की बलि, जो किसी भी सहृदय व्यक्ति में करुणा और क्षोभ साथ-साथ उत्पन्न करती थी। इस समय का कर्मकाण्ड वाह्य क्रिया-कलापों से बोझिल, अस्वाभाविक, खर्चीला और घृणास्पद हो गया। वास्तव में धर्म की आत्मा इसके नीचे दब गयी और नैतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया। ऐसे धर्म के विरोध में एक सीधे-सादे, स्वाभाविक और सर्वसुलभ धर्म की खोज स्वाभावतः चल पड़ी।

धार्मिक सुधारणाओं के उदय के कारणों पर विचार करते हुए कुछ विद्वानों ने जातीय और सामाजिक कारण भी ढूँढ निकाला है। उनका कहना है कि ईसा से छः-सात सौ वर्ष पूर्व भारत में किरात (मङ्गोल) जाति के लोग आ गये और उन्होंने लोकतांत्रिक राज्य-प्रणाली और परम्परा-विरोधी धर्म का प्रवर्तन किया। किंतु इस मत के लिये कोई ठोस आधार नहीं मिलता। किरात जातियों का सम्बंध लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली और धार्मिक क्रांति से नहीं रहा है। लोकतांत्रिक भारतीय जातियों का स्पष्ट सम्बंध प्राचीन भारतीयों से लग जाता है और भारतीय जीवन के विकास में क्रिया-प्रतिक्रिया की धारा भी पहले से

साफ दिखायी पड़ती है। स्वयं बुद्ध आदि सुधारकों ने अपने धर्म को 'आर्यधर्म' और अपने सिद्धांतों को 'चत्वारि आर्य सत्यानि' कहा है। इस परिस्थिति में धार्मिक सुधारणा का मूल विदेशी तत्वों में ढूँढ़ना व्यर्थ है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरोध में सुधारक-धर्म चले थे।' किंतु यह मत भी ठीक नहीं है। सुधारक धर्मों ने 'वर्ण' का कहीं पर विरोध नहीं किया है; केवल उनका आग्रह था कि वर्ण गुण और कर्म पर अवलम्बित होना चाहिये। हाँ, यह स्वीकार किया जा सकता है कि सुधारवादी जन्ममूलक वर्ण को अवांछनीय समझते थे। वास्तव में सुधारवादियों की समस्यायें किसी देश विशेष के समाज की नहीं, किंतु मानव-जीवन की गम्भीर समस्यायें थीं और इनका मूल उस समय के भारतीय धर्म में था। अतः सुधारणाओं का मुख्य कारण सार्वभौम या धार्मिक था न कि जातीय या सामाजिक।

## २. सुधारक सम्प्रदायों का उदय

उत्तर वैदिक काल के धर्म से प्रतिक्रिया उसी युग में लिखे आरण्यक और उपनिषद् ग्रंथों में शुरू होगयी थी। उपनिषदों ने वेदों के प्रमाण के बदले अनुभव, व्यक्तिगत ईश्वर के स्थान में अमूर्त और अनिर्वचनीय ब्रह्म और यज्ञों की जगह नैतिक आचरण पर जोर दिया। परन्तु उपनिषदों की शैली दार्शनिक थी, जो जनसाधारण के लिये सुगम न थी; उनकी नीति समझौते और समन्वय की थी, इसलिये परम्परागत धर्म का जोरदार विरोध नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि उपनिषदों से किसी नये धार्मिक सम्प्रदाय का उदय नहीं हुआ। किंतु उपनिषदों के बाहर कई एक सम्प्रदाय हुए जो प्राचीन धर्म के कड़े आलोचक और उग्र तथा क्रांतिकारी विचारों के प्रवर्तक थे। इनमें से सबसे पहले चार्वाकों का उल्लेख किया जा सकता है, जो वैदिक प्रमाण और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी, भौतिक और भोगवादी थे। इनके अतिरिक्त प्रमाण, ईश्वर, मोक्ष, मार्ग-सम्बंधी विभिन्न विचार वाले, नास्तिक, संदेहवादी, भौतिक, भोगवादी, तपोमार्गी आदि सम्प्रदायों का उदय उत्तर-वैदिक काल से प्रारम्भ होकर जनपदों के समय तक होता रहा। इन सम्प्रदायों ने बौद्धिक और नैतिक जगत में

काफी उथल-पुथल मचा रखी थी। इन सबके अंत में ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी में दो ऐसे सम्प्रदायों का उदय हुआ जो पहले के सम्प्रदायों से अधिक स्पष्ट, संघटित और स्थायी हुए। ये सम्प्रदाय हैं जैन और बौद्ध। यह बात स्मरणीय है कि भारतवर्ष में जब जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक बुद्ध का जन्म हुआ उस समय संसार के दूसरे देशों में कई एक धार्मिक सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ, जैसे ईरान में जरथुस्त्र, चीन में कनफ्यूशस और लाओ-सी, यूनान में हिराक्लिटस आदि। इसलिये ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी का संसार के इतिहास में बड़ा महत्व है। किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि इन महात्माओं की सुधारणायें एकाएक उत्पन्न हो गयीं। वास्तव में इनके पीछे शताब्दियों के असंतोष, हलचल और प्रयत्न थे, जैसा आगे मालूम होगा कि महावीर और बुद्ध भारतीय संस्कृति की अविच्छेद्य कड़ियाँ हैं।

## ३. जैन धर्म और महावीर

(१) महावीर के पूर्व जैन धर्म—वैसे तो जैन धर्म को संघटित रूप महावीर ने ही दिया, किन्तु जैन साहित्य और परम्परा के अनुसार जैन धर्म बहुत ही प्राचीन है। महावीर अंतिम और चौबीसवें तीर्थंकर थे। इनके पहले तेईस और तीर्थंकर हो चुके थे। जैन-धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव अयोध्या के सूर्यवंश में उत्पन्न हुये थे। उनसे लेकर बाईसवें तीर्थंकर तक का संतोषजनक इतिहास अभी तक नहीं मालूम है। परन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में जैन-धर्म का इतिहास काफी प्रकाश में आ जाता है। वे महावीर से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले काशी के राजा अश्वसेन की रानी वामा की कोख से उत्पन्न हुये थे। वे बड़े लोकप्रिय थे। युवा होने पर उनका विवाह कुशस्थल (द्वारका) के राजा नरवर्मन् की लड़की प्रभावती से हुआ था। तीस वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ-जीवन बिताकर ये तपस्वी हो गये। तिरासी दिन के गम्भीर चिंतन के बाद इनको 'केवल'-ज्ञान प्राप्त हुआ। सौ वर्ष की अवस्था तक वे अपने ज्ञान का प्रचार करते रहे। इसके अन्त में सम्मेत पर्वत (पारसनाथ की पहाड़ियाँ, बिहार में) पर उनका निर्वाण हुआ। पार्श्वनाथ ने चार व्रतों पर विशेष जोर दिया। ये व्रत थे—(१) अहिंसा

(२) सत्य, (३) अस्तेय (चोरी न करना) और (४) अपरिग्रह (संग्रह का त्याग)। इन्हीं के अनुयायियों द्वारा श्वेताम्बर सम्प्रदाय का संघटन हुआ।

(२) महावीर का जीवन-चरित्र--महावीर का जन्म ईसा से लगभग ६०० वर्ष पहले वैशाली के पास कुण्डग्राम में हुआ था। कुण्डग्राम में ज्ञात्रिक नामक क्षत्रियों का गण-राज्य था। महावीर के पिता सिद्धार्थ उसीके गण-मुख्य थे। उनकी माता त्रिशला वैशाली के लिच्छवि गण-राजा चेटक की बहन थीं। महावीर का लड़कपन का नाम वर्धमान था। उनके कुल का गोत्र कश्यप था। उनका बिवाह कुण्डिन्य गोत्र की राजकुमारी यशोदा से हुआ था, जिससे अणोज्जा नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। अपने माता-पिता के मरने के बाद वे तीस वर्ष की अवस्था में अपने भाई नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर तपस्वी हो गये। तेरह वर्ष की घोर तपस्या के बाद जृम्भिकाग्राम के पास एक शाल (साखू) वृक्ष के नीचे उनको केवल (निर्मल) ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस समय उनको अर्हन् (योग्य) जिन (विजयी) और केवलिन (सर्वज्ञ) का पद मिला।

पूर्ण ज्ञानी होने के बाद महावीर अपने ज्ञान और अनुभव का प्रचार उत्तर भारत में करते रहे। वज्जि, अंग, मगध, राढ (पश्चिमी बंगाल), सुह्म (बंगाल का ही एक भाग), मल्ल, कोसल, काशी आदि जनपदों में पैदल घूमकर, कठोर शारीरिक कष्ट सहते हुये उन्होंने ज्ञान और सदाचार का उपदेश किया। महावीर बुद्ध के जेठ समकालीन थे। बौद्ध और दूसरे मतावलम्बियों से उनका वाद-विवाद भी होता था। उनके मत को मानने वाले निर्गन्थ (ग्रन्थियों या बन्धनों से रहित) अथवा मुक्त कहलाते थे। बहत्तर वर्ष की अवस्था में मल्लों की दूसरी राजधानी पावा (=अपापापुरी, देवरिया जिले में कुशीनगर के पास) में महावीर का निर्वाण हुआ।

(३) महावीर के सिद्धान्त और उपदेश--महावीर ने सत्य या वास्तविक सत्ता का पता लगाने में वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया। परन्तु अर्हतों के 'केवल' ज्ञान और उनके वचनों को प्रमाण माना। इन्हीं वचनों से जैन-सम्प्रदाय का आगम तैयार हुआ, जिसका जैनियों में वही महत्व है, जो वेदों का ब्राह्मण धर्मा-

वलम्बियों में। उन्होंने आत्मवादियों और नास्तिकों के एकांतवादी मतों को छोड़कर एक बीच के मार्ग को अपनाया, जिसको अनेकान्तवाद या स्याद्-वाद कहते हैं। इसके अनुसार सत्य के कई पहलू हैं और मनुष्य को परि-स्थिति भेद से उसका आंशिक ज्ञान होता है। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसी का विचार सत्य है और दूसरों का गलत। यह सिद्धांत उनकी बौद्धिक उदारता का परिचय देता है। वेदों के प्रमाण को न मानते हुये भी महावीर अनात्मवादी नहीं थे। वे आत्मा में विश्वास करते थे; जिसको जड़ कहा जाता है, उसमें भी वे जीव का अस्तित्व मानते थे। उनकी छः जीव-श्रेणियां थीं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस। प्रकृति और सृष्टि अनादि हैं और प्रवाह रूप से जारी रहती हैं। सृष्टि या संसार के प्रवाह को चलाने के लिये ईश्वर जैसी किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं। आत्मा अपने कर्मों से अपना शुद्ध स्वरूप भूलकर संसार-चक्र (जीवन-मरण के चक्कर) में पड़ा रहता है। जब वह अपनी साधना और तपस्या से ज्ञान प्राप्त करता है तो इस चक्कर से निकलकर मुक्त हो जाता है। ऐसा ही कैवल्य-प्राप्त आत्मा तीर्थंकर होता है और ऐश्वर्य (ईश्वर के पद) से युक्त समझा जाता है।

साधन या विनय के मार्ग में कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिये महावीर ने तीन साधन—(१) सम्यग्-ज्ञान (२) सम्यग्-दर्शन और (३) सम्यक्-चरित्र बतलाया, जिनको 'त्रिरत्न' (तीन रत्न) कहते हैं। सम्यग्-ज्ञान का अर्थ है सच्चा और पूरा ज्ञान जो सर्वज्ञ तीर्थंकरों के उपदेशों को ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से प्राप्त होता है। सम्यग्-दर्शन का अर्थ है तीर्थंकरों में पूरा विश्वास। किंतु केवल ज्ञान और श्रद्धा व्यर्थ हैं, जब तक कि उनका जीवन में उपयोग न हो। इसलिये सम्यक्-चरित्र या नैतिक सदाचारमय जीवन की आवश्यकता है। नैतिक जीवन बिताने के लिये सबसे अधिक जोर पांच महाव्रतों पर दिया गया है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने चार महाव्रत (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय और (४) अपरिग्रह का उपदेश किया था। महावीर ने पांचवां व्रत (५) ब्रह्मचर्य भी जोड़ दिया। परन्तु जैन धर्म में सबसे अधिक जोर अहिंसा पर ही दिया गया है। आत्मा में कर्मों के प्रवाह (आस्रव या पाप को रोकने के लिये पाँच महाव्रतों का पालन करना आवश्यक है। जैन साधना में

तपस्या का बहुत ऊंचा स्थान है। तपस्या के दो प्रकार बतलाये गये हैं:—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। पहले में अनशन, अवमोदरिका (चान्द्रायण व्रत), भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता (शरीर-सेवा) शामिल हैं। दूसरे में प्रायश्चित,विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (शरीर-त्याग) की गिनती है।

(४) जैन-धर्म का प्रचार—महावीर ने सभी वर्ग के लोगों में अपने धर्म का प्रचार करना चाहा। इनके अनुयायियों और सहायकों में मगध के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु जैसे शासक और लिच्छवि और मल्लों जैसी गण-जातियां थीं। परन्तु उनके प्रभाव का केन्द्र वैशाली और उसमें भी उनके मामा चेटक का परिवार था। चेटक की पांच लड़कियां मगध, वत्स, अंग, सिंधु-सौवीर और अवंति के राजाओं से ब्याही गयी थीं। उन्होंने अपने साथ जैन धर्म के प्रभाव को भी फैलाया। फिर भी जितना प्रचार महावीर के समकालीन बुद्ध की शिक्षाओं का हुआ उतना जैन धर्मका नहीं हुआ। इसके कई कारण थे। दार्शनिक विचारों में वैदिक दर्शन से मतभेद रखते हुए भी महावीर ने कुछ समझौते की नीति का अवलम्बन किया, जो मानसिक जगत् में क्रांतिकारी और आकर्षक नहीं मालूम हुआ। दूसरे जैन धर्म का आचार-मार्ग बहुत कठोर और कष्टसाध्य था। सामूहिक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र वर्ग को एकांत अहिंसा का पालन असम्भव था। अधिकांश वैश्य वर्गके लोगोंने ही इसको अपनाया,जिनका सम्बंध यज्ञ, युद्ध और श्रम से कम था और जिनका काम दूकान पर बैठे लेखे-जोखे से चल जाता था।

## ४. बुद्ध और बौद्ध धर्म

(१) बुद्ध का जीवन-चरित्र—बुद्ध का जन्म ईसा से ५६२ वर्ष पहले शाक्य-गण की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था। कपिलवस्तु का स्थान आजकल बस्ती जिले की पूर्वोत्तरी सीमा पर नेपाल राज्य की तराई में है। शाक्य लोग सूर्यवंशी क्षत्रिय और गौतम गोत्र के थे। इसीलिये बुद्ध को गौतम बुद्ध कहते हैं। बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्यों के गण-मुख्य थे। बुद्ध की माता का नाम माया था, जो देवदह (गोरखपुर जिले में निचलौल के पास) के गण-राज अंजन की लड़की थीं। जब बुद्ध के

जन्म लेने का समय पास आया तब माया कपिलवस्तु से अपने मायके देवदह जा रही थीं। राह में ही लुम्बिनीवन (आजकल का रूम्मिन देई) में बुद्ध का जन्म हुआ। यहाँ से माया बच्चे के साथ कपिलवस्तु वापस गयीं। नवजात बालक का नाम सिद्धार्थ रखा गया। कुछ ही दिनों बाद माया का देहांत हो गया। सिद्धार्थ की मौसी और विमाता प्रजापती ने उनका पालन-पोषण किया।

सिद्धार्थ लड़कपन से ही चिन्तनशील और कोमल स्वभाव के थे। वे संसार के दुःखों को देखकर करुणा से भर जाते और सोचते थे कि मनुष्य इन दुःखों से कैसे छुटकारा पा सकता है। पिता शुद्धोदन को अपने पुत्र के भविष्य के बारे में बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने सिद्धार्थ को बड़े विलास और सुख में पाला कि उनका मन संसार की दुःख-चिन्ता से हट जाय। जब सिद्धार्थ सोलह वर्ष के हुये तभी उन्होंने उनका विवाह रामग्राम के कोलिय-गण की अत्यंत सुन्दरी राजकुमारी यशोधरा से कर दिया। संसार के दुःख सिद्धार्थ की आंखों से ओझल नहीं हुये, परन्तु उन्होंने माता-पिता के प्रति श्रद्धा और प्रीति के कारण लगभग बारह वर्ष तक गार्हस्थ्य-जीवन बिताया। उसके बाद उनको राहुल नामक पुत्र हुआ, जिसके जन्म का समाचार सुनकर उन्होंने कातर स्वर में कहा "आज मेरे बंधन की शृंखला की एक कड़ी और गढ़ी गयी।" संसार के सभी सुख उनको सुलभ होते हुए भी जीवन, मरण, जरा और व्याधि के दृश्य उन्हें विकल कर देते थे। अंत में उन्होंने निश्चय किया कि भोग और विलास का जीवन छोड़कर इन दुःखों के दूर करने का उपाय वे ढूंढ निकालेंगे। एक दिन रात को जब यशोधरा और राहुल नर्तकियों और दासियों के बीच सो रहे थे, अपनी ममता पर विजय पाकर सिद्धार्थ ने अपना राजप्रासाद छोड़कर अपने घोड़े कंथक पर सवार हो अपने सारथि छन्दक के साथ जंगल के लिये प्रस्थान किया। इस घटना को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं।

रातों-रात शाक्य-राज्य को लांघकर सबेरे उन्होंने अनोमा (गोरखपुर में आमी) नदी को पार किया और अपने सारथि और घोड़े को वापस भेजा। इसके बाद उन्होंने अपनी तलवार से अपने राजसी बाल काट डाले और अपने वस्त्र और आभूषण एक भिखारी को दे अपना तापस का वेश बनाया। फिर वे ज्ञान की खोज में पण्डितों, विद्वानों

और साधु-सन्यासियों के पास घूमने लगे। वे शांति और ज्ञान की तलाश में ही मगध की प्रसिद्ध राजधानी राजगृह में आलार और उद्रक नाम के दो प्रसिद्ध ब्राह्मण पण्डितों के यहां गये। परंतु सिद्धार्थ को केवल शास्त्रार्थ और दार्शनिक वाद-विवाद से शांति नहीं मिलती थी। इसलिये उन्होंने अधिक कठोर साधन का अवलम्बन किया। गया के पास निरंजना नदी के किनारे उरुवेल नामक वन में उन्होंने पाँच और साथियों के साथ घोर तपस्या की। वे समझते थे कि रक्तमांस के गल जाने पर उनकी बुद्धि शुद्ध हो जायगी और संसार के सम्बंध में उन्हें सच्चा ज्ञान मिल जायेगा, परंतु ऐसा न हुआ। उनका शरीर तो सूखकर अस्थि-पञ्जर मात्र रह गया, परंतु ज्ञान नहीं मिला। इसलिये उन्होंने शरीर और बुद्धि को दुर्बल बना देने वाले इस शारीरिक तपस्या के मार्ग को छोड़ दिया, यद्यपि उनके साथियों ने तिरस्कार के साथ कहा, "गौतम (सिद्धार्थ) भोगवादी हैं। शरीर के आराम के लिए अपने पथ से भ्रष्ट हुआ है।" एक दिन जब सिद्धार्थ एक पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान में मग्न थे तो उन्हें सच्चे ज्ञान का प्रकाश मिला। उन्हें ऐसा भान हुआ कि वे महा मोह-निद्रा से जाग उठे हैं। इस घटना को 'सम्बोधि' कहते हैं। इस समय सिद्धार्थ 'बुद्ध' (जागृत)-पद को प्राप्त हुये।

बुद्ध ने अपने ज्ञान को कृपण के सोने की भाँति छिपा नहीं रखा। उन्होंने सोचा, "मैं स्वयं बुद्ध और मुक्त हो गया हूँ। अब सारे संसार को जगाऊंगा और निर्वाण का मार्ग दिखाऊँगा।" भारतवर्ष में काशी इस समय भी विद्या और ज्ञान का केन्द्र थी। बुद्ध काशी की ओर चले और उस समय के ऋषिपत्तन (ऋषियों का नगर) सारनाथ में पहुँचे। उनकी तपस्या के पाँचों साथी पहले से वहाँ पहुँचे हुए थे। उन्होंने बुद्ध को आते देखकर कहा, "यह वही भोगवादी गौतम है। हम इसका आदर नहीं करेंगे।" परंतु अमिताभ गौतम के शरीर से तेज-पुञ्ज उठ रहा था। पास आने पर पाँचों साथी अपने निश्चय पर टिक न सके। उन्होंने उठकर बुद्ध का स्वागत किया और उनके शिष्य हो गये। इन शिष्यों को 'पञ्चवर्गीय' कहते हैं। सबसे पहले गौतम ने इन्हींको धर्म का उपदेश किया। इस घटना को 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' अर्थात् धर्म के चक्के का चलाना कहते हैं। 'चक्र' शब्द यहाँ

धर्म के चक्रवर्ती साम्राज्य का द्योतक था।

अब बुद्ध की कीर्ति चारों तरफ फैलने लगी। काशी के बड़े धनी सेठ का लड़का यश बुद्ध का शिष्य हो गया और उसके परिवार वाले बुद्ध के उपासक (गृहस्थ अनुयायी)। कुछ ही दिनों में शिष्यों की संख्या साठ हो गयी। बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये इन शिष्यों का एक संघ बनाया। बुद्ध का इस संघ को उपदेश था, "भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो, लोगों के हित के लिये, लोगों के कल्याण के लिये, देवों और मानवों के कल्याण के लिये घूमो। तुम लोगों में से कोई दो एक साथ न जाय। तुम लोग उस धर्म का प्रचार करो जो आदि-मंगल, मध्यमंगल और अन्तमंगल है।" यह संसार का पहला प्रचारक संघ था। बुद्धने स्वयं पिछले पैंतालीस वर्षों में अपने धर्म का प्रचार संसार के दुःखों से पीड़ित मनुष्यों में किया। सारनाथ से बुद्ध फिर लौटकर गया के पास उरुवेल में गये और वहाँ तीस भद्रवर्गीय नवयुवकों को अपना शिष्य बनाया। इसके बाद राजगृह में गये जहाँ सारिपुत्र और मोग्गलान उनके शिष्य हुए और मगध का राजा बिम्बिसार उनका मित्र और प्रशंसक हुआ। इसके पश्चात् बुद्ध अपनी जन्म-भूमि कपिलवस्तु में गये। यहाँ पर सभी शाक्यों ने उनका उपदेश सुना और उनका पुत्र राहुल और सौतेला भाई नन्द उनके शिष्य हुये। जब बुद्ध मल्ल-राष्ट्र में घूम रहे थे तो शाक्य-राष्ट्र से आकर भद्रिक, अनुरुद्ध, आनन्द, उपालि, देवदत्त आदि ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। यहाँ से वे कोसल की राजधानी श्रावस्ती गये और वहाँ के सेठ अनाथ-पिण्ड का आतिथ्य स्वीकार किया। बुद्ध आजीवन, अंग, मगध, वज्जि, काशी, मल्ल, शाक्य, कोलिय, मौर्य, कोसल, वत्स, शूरसेन आदि जन-पदों में चारिका (भ्रमण) और उपदेश करते रहे। अस्सी वर्ष की अवस्था में भ्रमण करते हुये वे मल्लों की दूसरी राजधानी पावा में आये। यहाँ पर उन्होंने चुन्द कुमार (स्वर्णकार) का भोज स्वीकार किया। यहीं इनको अतिसार का रोग हुआ। पावा से पैदल चलकर एक दिन में मल्लों की मुख्य राजधानी कुशीनगर के पास शालवन उपवत्तन में पहुँचे। यहाँ पर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। इस घटना को 'महापरिनिर्वाण' कहते हैं। बुद्ध के शिष्यों ने उनके शरीर की राख

को आपस में बाँट लिया और उनकी यादगार में उस पर स्तूप बनवाया।

(२) बुद्ध के उपदेश और सिद्धान्त—बुद्ध के उपदेश व्यावहारिक थे। वे सरल भाषा में सुबोध नीति के उपदेश करते थे। वे ऐसे दार्शनिक प्रश्नों को जिनका जीवन से सीधा सम्बन्ध नहीं होता था टाल जाते थे। फिर भी उनके उपदेशों और वार्तालापों में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनमें उनके मूल दार्शनिक विचारों का पता लग जाता है।

(क) नैतिक उपदेश—बुद्ध के नैतिक उपदेशों में 'चार आर्य सत्य' का उपदेश प्रसिद्ध है। सबसे पहले धर्म-चक्र-प्रवर्तन में इसी का उपदेश उन्होंने अपने पाँच शिष्यों को दिया था। चार आर्य सत्य नीचे लिखे प्रकार हैं:

(अ) दुःख—संसार में दुःख-ही-दुःख है—सर्वं दुःखं दुःखम्। जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग दुःख है। प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग दुःख है। अपनी इच्छाओं का पूरा न होना आदि दुःख है। संसार का कोई ऐसा प्राणी नहीं है जिसे इन दुःखों का सामना न करना पड़ता हो।

(आ) समुदय—बुद्ध ने संसार के लोगों को केवल दुःख का ही बोध नहीं कराया, परन्तु उसका समुदय (कारण) भी बतलाया। जिस तरह अनुभवी वैद्य रोग दूर करने के पहले उसका कारण ढूँढ़ निकालता है वैसे ही संसारव्यापी दुःख का कारण भी बुद्ध ने खोज निकाला। उनके अनुसार दुःख का कारण है तृष्णा अर्थात् सांसारिक विषयों की न बुझने वाली प्यास। इसी तृष्णा से अहंकार, ममता, राग, द्वेष, कलह, दुःख उत्पन्न होते हैं।

(इ) निरोध—दुःख का कारण जान लेने से उसका निरोध या हटाना भी सम्भव है। तृष्णा या वासना के नाश से जन्म-मरण और उनके साथ लगे हुये दुःखों का अन्त होता है। सम्पूर्ण तृष्णा-क्षय और दुःखरहित अवस्था का नाम निर्वाण है।

(ई) मार्ग—दुःख के निरोध या निवारण का मार्ग या साधन भी है। उस साधन के आठ अंग हैं, इसलिये वह अष्टांग

कहलाता है। आठ अंग ये हैं—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक संकल्प (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (जीविका) (६) सम्यक् व्यायाम (उद्योग) (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। इस मार्ग को मज्झिमा-परिपदा अथवा मध्यम मार्ग भी कहते हैं। इसमें अति का सर्वत्र विरोध किया गया है। इसके अनुसार न तो भोग-विलास में आसक्त होना चाहिये और न तो तप आदि से शरीर को अनावश्यक कष्ट देना चाहिये। जैन और बौद्ध धर्म के आचार-मार्ग में यही मुख्य अन्तर था। जहाँ जैन धर्म कठोर शारीरिकतपश्चर्या को आवश्यक समझता है, वहाँ बौद्ध धर्म युक्त आहार-विहार या मध्यम मार्ग का उपदेश करता है।

बुद्ध के नैतिक उपदेशों में शील पर भी बड़ा जोर दिया गया है। नैतिक आचरण के लिये निम्नलिखित दस शील का पालन करना जरूरी बतलाया गया है—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (चोरी न करना) (४) अपरिग्रह (संग्रह का त्याग) (५) ब्रह्मचर्य (६) नृत्य-गान का त्याग (७) सुगंध, मालादि का त्याग (८) असमय में भोजन का त्याग (९) कोमल शय्या का त्याग और (१०) कामनी-कांचन का त्याग। इन शीलों में से पहले पाँच गृहस्थ उपासकों के लिये, और भिक्षुओं के लिये सभी दस आवश्यक थे।

(ख) दार्शनिक उपदेश—बुद्ध ने संसार के दुःख का बड़ा तीव्र अनुभव किया और इसका ज्ञान औरों को भी कराया, इसलिये बहुत से लोग इनको निराशावादी समझते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उन्होंने दुःख का ही पता नहीं लगाया, पर उसके दूर करने का भी उपाय बतलाया। इस हालत में उनको निराशावादी नहीं कहा जा सकता। संसार में दुःख है, यह तो सबका अनुभव है; यह यथार्थ है। परन्तु इसको दूर भी किया जा सकता है, यह भी यथार्थ है। अतः बुद्ध यथार्थ वादी थे। बुद्ध अनीश्वरवादी थे। उनका कहना था कि जगत की उत्पत्ति के लिये किसी कर्ता की आवश्यकता नहीं। कार्य-कारण शृंखला से संसार चलता रहता है। वे स्थायी आत्मामें भी विश्वास नहीं करते थे; उनका मत अनात्मवाद था। उनके अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व कई संस्कारों का संघात (जोड़) है। जैसे गाड़ी कई पुर्जों के जोड़ने से बनती

है, वैसे मनुष्य भी। जिस तरह गाड़ी के पुर्जे अलग-अलग करने पर उसके भीतर कोई स्थायी तत्व नहीं मिलता, उसी प्रकार शरीर के तत्वों के अलग हो जाने पर भी आत्मा नाम का कोई स्थायी तत्व नहीं पाया जाता। विश्व के सम्बंध में बुद्धका मत क्षणिकवाद था। इसके अनुसार संसार के सभी पदार्थ क्षणिक और बराबर परिवर्तन-शील हैं; केवल प्रवाह रूप से वे स्थायी दिखाई पड़ते हैं। जैसे नदी का पानी एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, किन्तु किनारे पर बैठे व्यक्ति को सामने नदी एक ही तरह दिखाई देती है। उसी प्रकार साधारण मनुष्य संसार के प्रति क्षण बदलने वाले पदार्थों को स्थायी समझता है। ईश्वर और आत्मा को न मानते हुए भी बुद्ध पुनर्जन्म के सिद्धांत को मानते थे; परन्तु यह पुनर्जन्म आत्मा का नहीं किन्तु अनित्य अहंकार का होता है। उनके अनुसार पुनर्जन्म कर्म-अथवा कार्य-कारण के नियम से संचालित होता है। जब मनुष्य की तृष्णा और वासना के सम्पूर्ण क्षय से उसका अहंकार नष्ट हो जाता है तो उसको निर्वाण प्राप्त होता है। निर्वाण का अर्थ है 'दीपक की तरह बुझ जाना'। जिस तरह तेल और वत्तीके जलजाने पर तथा दुबारा उनके न मिलने से दीपक अपने आप बुझकर शान्त हो जाता है, उसी तरह, वासना और अहं-कार के नष्ट होने पर मनुष्य निर्वाण अर्थात् परम शान्ति को प्राप्त होता है। इस परम पद को प्राप्त करने के लिये बुद्ध ने नैतिक आचरण और ज्ञान को आवश्यक समझा और वैदिक कर्म काण्ड और वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया।

(३) बौद्ध धर्म का प्रचार—बुद्ध के उपदेशों और शिक्षाओं का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ और बहुत-से लोगों ने उनके धर्म को अपनाया। इसके कई कारण थे। पहला कारण यह था कि बौद्ध-धर्म बड़ा सरल, नैतिक और व्यावहारिक था। इसके उदय के पहले जनता वैदिक कर्म काण्ड और गूढ़ दार्शनिक वादों से ऊब गयी थी; इसलिये उसने रोज के काम में बरते जाने वाले नैतिक सिद्धांतों का सहर्ष स्वागत किया। शीघ्र प्रचार का दूसरा कारण यह था कि बुद्ध के धर्म का दरवाजा मानव-मात्र के लिये खुला हुआ था। इसमें वर्ण, जाति, ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं था। इसलिये बहुसंख्यक लोगोंने इसे अपनाया। सफलता को तीसरा कारण बुद्ध का निष्कलंक, पवित्र और ऊँचा चरित्र

था। उनका ऊँचा शरीर, गौरवर्ण, उन्नत मुखमण्डल, प्रशांत मुद्रा और दया और करुणा से आर्द्र गंभीर वाणी लोगों पर जादू के समान असर डालती थी। बुद्धदेव ने कोरा उपदेश ही नहीं किया; अपने उपदेशों को जीवन में चरितार्थ भी किया। इसलिये उनके धर्म की प्रमाणिकता और उपयोगिता लोग शीघ्र मान लेते थे। चौथा कारण उपदेश के माध्यम और शैली का जनता के अनुकूल होना था। बुद्ध ने शास्त्रों और पण्डितों की भाषा संस्कृत को छोड़कर जनता की बोल-चाल की भाषा में अपना उपदेश दिया, जिसको सभी लोग आसानी से समझ सकते थे। वे अपने भाषण को दृष्टान्त, उपमा, रूपक, कथा-कहानी से सुबोध और रोचक बनाते थे। साथ ही तर्क में बड़े-बड़े शास्त्रियों को अपनी सरल दलीलों से पराजित कर देते थे। सफलता का पाँचवाँ कारण था प्रचार-कार्य को संघ के रूप में संगठित करना। बुद्ध अच्छे नेता और संगठनकर्ता थे। ये गुण उनको अपने गणतंत्र से मिले थे। बौद्ध-संघ ने बड़ी तत्परता से बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया। बौद्ध-धर्म के प्रचार का छठवाँ कारण था बुद्ध के समकालीन बड़े-बड़े राजाओं और व्यक्तियों की सहायता। बिम्बिसार, अजातशत्रु, प्रसेन-जित, उदयन आदि राजा बुद्ध के व्यक्तिगत भक्त और अनुयायी थे। अनाथपिण्ड जैसे बड़े-बड़े धनी मानी धर्म के मार्ग में अपना सर्वस्व निछावर करने वाले थे। बौद्ध धर्म के लोकप्रिय होने का सातवाँ कारण था उसका मध्यममार्गी होना। बुद्ध ने जीवन में अति का सर्वत्र विरोध किया। साधारण जनता के लिये यह मार्ग सुगम था। इस तरह बौद्ध धर्म अपने नैतिकवाद, उच्चादर्श और सर्वसुलभ होने के कारण बहुत शीघ्र बुद्ध के जीवन-काल में ही बहुत-से लोगों में फैल गया।

## ५. जैन, बौद्ध और प्राचीन वैदिक धर्म का परस्पर सम्बन्ध

जैन और बौद्ध धर्म दोनों ही वैदिक कर्मकाण्ड और धर्म-विज्ञान की प्रतिक्रिया में सुधारक सम्प्रदाय के रूप में उत्पन्न हुये। दोनों ने वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया; यज्ञों और विशेषकर पशु-याग का दोनों ने विरोध किया, अहिंसा और सदाचार पर दोनों का जोर था; पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष या निर्वाण के सिद्धान्तों को दोनों सम्प्रदाय मानते थे; यति-या भिक्षु-धर्म दोनों के आचार और

संगठन का आधार था; दोनों में त्रिरत्न की शरण जाने का उपदेश था —जैन धर्म के त्रिरत्न थे—(१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक् ज्ञान और (३) सम्यक् चरित्र औ बौद्ध धर्म के त्रिरत्न थे (१) बुद्ध (२) संघ और (३) धर्म।

परन्तु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों सम्प्रदायों में कुछ मौलिक भेद थे; इसीलिये इनका अलग-अलग धर्म के रूप में संगठन भी हुआ। बौद्ध धर्म ने वैदिक आत्मवाद का विरोध किया; वह अनीश्वरवादी और अनात्मवादी था। जैन धर्म ने सृष्टि-क्रम की व्याख्या के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु उसने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। वह वैदिक दृष्टिकोण से नास्तिक होते हुये भी आत्मवादी था। दोनों धर्मों में दूसरा मौलिक अन्तर आचार सम्बन्धी था। जैन धर्म कठोर तपस्या, उपवास, व्रत, केशलुञ्चन, अनशन से प्राण-त्याग आदि को ज्ञान और मोक्ष के लिए आवश्यक समझता है। बौद्ध धर्म एकान्त-तपस्या और एकान्त अहिंसा को अनावश्यक समझता है। वह मध्यममार्गी और युक्त आहार-विहार को साधना में सहायक समझता है। सामाजिक मामलों में जैन धर्म वैदिक धर्म के बहुत निकट था। उसने वर्ण, जाति आदि के आचार, प्रथा, धर्म आदि पर कोई आघात नहीं किया; अतः वैदिकों और जैनियों में सामाजिक भेद कम था। वैसे बौद्ध धर्म भी कोई सामाजिक आन्दोलन नहीं था और न तो सीधे इसने सामाजिक व्यवस्था पर कोई प्रहार किया, परन्तु इसके विचार काफी क्रांतिकारी थे और इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पड़ता था। अतः वैदिकों से जैनियों की अपेक्षा बौद्ध कुछ अधिक दूर पड़ते थे। आचार में तो आगे चलकर जैन और वैष्णव प्रायः समान हो गये।

यह कहा गया है कि जैन और बौद्ध धर्म सुधारवादी थे। परन्तु वैदिक धर्म से मतभेद रखते हुये भी भारतीय संस्कृति की मूल-परम्परा के सजातीय थे। यहाँ तक कि वेदों और कर्मकाण्ड का का विरोध भी कोई नयी चीज नहीं थी। स्वयं वेदों में देवताओं की शक्ति में अविश्वास किया गया है। उपनिषदों ने वेदों की गणना अपरा (निचली) विद्या में की है और आत्मज्ञान के लिये त्रयी (तीनों वेद) और कर्मकाण्ड को आवश्यक नहीं समझा है। जैन धर्म ने तो

वैदिक आत्मवाद का आधा अंश अपना ही लिया। बौद्ध धर्म अनात्मवादी होते हुये भी अभौतिकवादी (जड़वादी) नहीं किन्तु आत्मवाद के अधिक निकट था। उपनिषदों में आत्मज्ञान या मोक्ष के साधनों में नैतिक आचरण आवश्यक बतलाया गया है; जैन और बौद्ध धर्म ने कर्मकाण्ड का विरोध करके नैतिक आचरण पर विशेष जोर दिया। उपनिषदों में प्रतिपादित पुनर्जन्म, कर्म, मोक्ष, जगत् की क्षण-भंगुरता आदि सिद्धान्तों को भी नये सुधारक धर्मों ने स्वीकार किया। जैन और बौद्ध धर्म के यति और भिक्षु भी वैदिक वैखानस और परिव्राजक से विकसित हुये। इस तरह भारतवर्ष में वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म के रूप में एक ही धर्म और संस्कृति-सरिता की तीन धारायें बहीं।

# आठवां अध्याय

## बुद्धकालीन राजनैतिक और सांस्कृतिक अवस्था

### १. राजनैतिक अवस्था

जनपदों के युग में देश के विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग राज्यों की स्थापना हो गयी थी। इन जनपदों में परस्पर कैसा सम्बन्ध था, इसकी चर्चा हो चुकी है। बुद्ध के समय में दिखायी पड़ता है कि देश के राजनैतिक जीवन का केन्द्र उत्तर-पूर्व भारत हो रहा था। पश्चिमोत्तर भारत या उत्तरापथ धीरे-धीरे राजनीति की मुख्य धारा से अलग हो गया था। दक्षिण के राज्यों की चर्चा भी इस समय के साहित्य में कम मिलती है। उत्तर भारत के राज्यों में इस समय चौदह राज्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें से दस तो गण-राज्य थे जो पाञ्चाल के पूर्व और गंगा तथा हिमालय के बीच में थे। चार प्रसिद्ध और शक्तिशाली राजतंत्र थे—(१) मगध (२) कोसल (३) वत्स और (४) अवन्ति। अभी तक कोई सार्वभौम राज्य नहीं बन पाया था जो सब राज्यों को अपने अधीन रखता। इसलिये राज्यों में परस्पर लड़ाई हुआ करती थी। एक तरफ गण-तंत्रों और राजतंत्रों का आपस में संघर्ष था; दूसरी ओर बड़े-बड़े राजतंत्र आस पास के छोटे-छोटे राज्यों को हड़प रहे थे। अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये बड़े राजतंत्र आपस में भी होड़ लगा रहे थे।

### २. गण-तंत्र

पुराने बौद्ध साहित्य में जिन गण-तंत्रों का वर्णन मिलता है उनमें से अधिकांश हिमालय की तलहटी में थे और पूर्वी कोसल से लेकर अंग ( पूर्व-उत्तर बिहार ) तक उनकी शृंखला चली गयी थी। उनका उल्लेख नीचे क्रमशः किया जाता है :

(१) **शाक्य**—शाक्य-राज्य में आजकल के बस्ती जिले का

पूर्वोत्तर भाग, गोरखपुर का पश्चिमोत्तर और उनसे लगा हुआ नेपाल राज्य का भाग शामिल था। शाक्य लोग कोसल के सूर्यवंशियों की ही एक शाखा थे। शाक (=शाल या साखू) के जांगल-प्रदेश को साफ कर वहाँ बसने के कारण वे लोग शाक्य कहलाते थे। इनकी राजधानी कपिलवस्तु (आजकल नेपाल की सीमा में तिलौरा कोट) थी। भगवान् बुद्ध का जन्म इसी गण-राज्य में हुआ था।

(२) कोलिय—शाक्य-राज्य के पूर्व में, दक्षिण में सरयू नदी तक कोलियों का राज्य फैला हुआ था। उत्तर में शाक्य और कोलिय राज्यों के बीच में रोहिणी नदी सीमा थी। कोलिय लोग काशी के नाग-वंश और शाक्यों के मिश्रण से उत्पन्न थे। वर्तमान गोरखपुर के आस-पास कोल (सं०=कंकोल) वृक्षों के जगलों को साफ कर बसने के कारण ये कोलिय कहलाये। इनकी राजधानी रामग्राम (वर्तमान रामगढ़ ताल—गोरखपुर) थी। कोलिय-राज्य को राम-जनपद भी कहते थे।

(३) मौर्य या मोरिय—कोलियों की राजधानी रामग्राम के पूर्व मोरियों का राज्य था। इनकी राजधानी पिप्पलीवन उस स्थान पर थी जहाँ आजकल अवध तिरहुत रेलवे के कुसुम्ही स्टेशन से कुछ दूर पर गोरखपुर जिले में 'राजधानी' नामक गाँव है। मोरिय या मौर्य लोग शाक्यों की ही एक शाखा थे। चन्द्रगुप्त मौर्य इसी वंश में उत्पन्न हुआ था।

(४) मल्ल (कुशीनगर के)—मल्लों का राज्य मौर्य-राज्य के पूर्व और उत्तर में था। इनकी राजधानी कुशीनगर (कुसीनारा) उस स्थान पर थी जहाँ आजकल देवरिया जिला में कसया के पास अनुरुधवा गाँव स्थित है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार मल्ल लोग लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु 'मल्ल' के वंशज थे।

(५) मल्ल (पावा के)—पावा के मल्ल मूल मल्ल वंश की ही एक शाखा के थे। उनका राज्य कुशीनगर के मल्ल-राज्य के पूर्वोत्तर में था जहाँ आजकल देवरिया जिला में कुशीनगर से १०-११ मील दूर सठियाँव—फाजिल नगर के भग्नावशेष हैं, वहीं उनकी राजधानी पावा (अपापानगरी) स्थित थी।

(६) बुलि (अल्लकप्प के)—इनका राज्य मल्लों के राज्य के

पूर्व में आधुनिक आरा और मुजफ्फरपुर (बिहार के जिलों) के बीच में था, उन का वेठदीप (बेतिया) से निकट का सम्बन्ध था।

(७) लिच्छवि (वैशाली के)—लिच्छवि लोग प्राचीन सूर्य-वंश के वैशालों के वंशज थे। इनका राज्य मल्ल और बुलि राज्य के पूर्व गंगा के उत्तर था। इनकी राजधानी आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक स्थान पर थी। ये वज्जि-संघ में शामिल थे।

(८) विदेह (मिथिला के)—विदेह-गण के लोग प्राचीन सूर्य-वंश की शाखा निमिवंशी क्षत्रियों से उत्पन्न हुये थे। इनके राज्य में भागलपुर और दरभंगा के जिले सम्मिलित थे। इनकी राजधानी मिथिला या जनकपुर थी। विदेह भी वज्जि-संघ का सदस्य था।

(९) भग्ग (सुसुमार पर्वत के)—भग्ग या भर्ग-गण का राज्य आधुनिक मिर्जापुर (युक्त प्रांत) जिले में था। संभवतः ये वत्स राज्य के पौरवों की एक शाखा के थे।

(१०) कालाम (केसपुत्त)—इनका निश्चित स्थान बतलाना कठिन है। कुछ वैदिक संकेतों से मालूम होता है कि इन का सम्बन्ध पाञ्चालों (गंगा-यमुना दोआब में बसनेवाले क्षत्रियों) से था। ये शायद कोसल के पश्चिम में थे और शेष सब और गण-राज्यों से कुछ दूर पड़ते थे।

## ३. गणतंत्र का विधान और शासन-पद्धति

(१) विधान—ऊपर के गणों का विधान या राजनैतिक बनावट लोकतांत्रिक थी। इसका अर्थ यह है कि जहाँ राजतांत्रिक राज्यों में राज्य की सारी शक्ति एक व्यक्ति 'राजा' के हाथ में केन्द्रित होती थी, वहां गणों में राज्य की शक्ति गण, लोक या समूह में होती थी। गण पंचायती राज्य थे। इनमें जनता द्वारा चुने हुये लोग राज्य का शासन करते थे। शासन के लिये चुने हुये सदस्यों को राजा कहते थे। इनका समान स्थान होता था। सदस्यों से बनी हुई संस्था परिषद कहलाती थी। इसके भवन को संस्थागार कहते थे, जहां बैठ कर राज्य के राज-नैतिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार किया जाता था। परिषद के सभापति या गण-मुख्य को भी राजा ही कहते थे, जिसका एक निश्चित काल के लिये चुनाव होता था, गण के दूसरे मुख्य अधिकारी उपराजा

(उपसभापति या उपगणमुख्य), सेनापति और भाण्डा गारिक (कोषाध्यक्ष) थे इनके अतिरिक्त शासन में परामर्श देने के लिये अष्टकुलक नाम की एक संस्था थी, जिसमें गण के प्रमुख आठ कुलों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। कई गणों के मिलने से संघ बनता था। मल्लों और वज्जियों के दो बड़े संघ थ। कभी-कभी बाहरी आक्रमण के समय मल्लों और वज्जियों का एक सामरिक संघ भी बन जाता था। संघ के सभी सदस्यों के स्थान और अधिकार बराबर होते थे।

(२) शासन—गण-राज्यों का शासन गण-मुख्य परिषद् के निश्चय के अनुसार अपने नीचे के अधिकारियों की सहायता से करता था। सेना, अर्थ और न्याय शासन के मुख्य विभाग थे। गणों की सैनिक शक्ति प्रबल थी और प्रायः प्रत्येक युवक सैनिक का काम जानता था। सेना-विभाग का प्रमुख अधिकारी सेनापति था। अर्थ-विभाग के मुख्य अधिकारी भाण्डागारिक थे। कृषि और व्यापार दोनों पर काफी ध्यान दिया जाता था। न्याय की व्यवस्था समता और स्व-तंत्रता के सिद्धांत पर अवलम्बित थी। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य समझा जाता था। कोई एक अधिकारी किसी को दोषी ठहरा कर दण्ड नहीं दे सकता था, जब तक कि सेनापति, उपराजा और राजा सभी एकमत न हों। हाँ, किसी अधिकारी के द्वारा अभियुक्त छोड़ा जा सकता था। न्याय करने के लिए कई प्रकार के न्यायालय स्थापित थे। एक न्यायालय विनिश्चय महामात्रों का था, जिसमें फौजदारी और कभी-कभी दीवानी के अभियोगों का फैसला होता था। दूसरा न्यायालय व्यावहारिकों का था जिसमें रुपयों के लेन-देन और दूसरे दीवानी के अभियोगों का निर्णय होता था। तीसरा मुख्य न्यायालय सूत्रधरों का था। सबसे ऊपर अपील का न्यायालय अष्टकुलकों का था। क्रमशः नीचे के न्यायालयों के निर्णय के विरोध में ऊपर के न्यायालय में अपील हो सकती थी। न्यायालयों का अपना नियमित कार्यालय होता था। लेखक प्रत्येक अभियोग का ब्यौरा और न्यायालय के निर्णय की प्रति सुरक्षित रखते थे।

(३) गण-परिषद् की कार्यवाही—जिस भवन में परिषद् का अधिवेशन होता था उसको संस्थागार (संस्थाओं के रहने का स्थान) कहते थे। संस्थागार में सदस्यों के बैठने के स्थान को आसन कहा

जाता था। जिसके अधिकार में आसन की व्यवस्था थी वह आसन-प्रज्ञापक कहलाता था। परिषद् की कार्यवाही प्रारम्भ होने के लिये कम-से-कम संख्या निश्चित थी, जिसको गण-पूर्ति (कोरम) कहते थे। जो व्यक्ति अपने दल के सदस्यों को इकट्ठा कर गण-पूर्ति कराता था उसकी संज्ञा गणपूरक थी। परिषद् में प्रस्ताव को प्रतिज्ञा कहते थे उसको नियमपूर्वक रखने को स्थापन और उसके पढ़ने को ज्ञप्ति कहा जाता था। प्रतिज्ञा की ऊँचे स्वर में घोषणा को अनुश्रावण, उसके कई बार पढ़ने को ज्ञप्ति द्वितीय, ज्ञप्ति तृतीय आदि कहते थे। प्रस्ताव के ऊपर वाद-विवाद होता था। वाद-विवाद हो चुकने के बाद मत लिया जाता था, जिसको छन्द (स्वतंत्र विचार) कहा जाता था। अनुपस्थित सदस्य लिखकर अपना मत दे सकते थे। मत प्रकट करने के लिये सदस्यों को शलाका (लकड़ी की छोटी तख्ती) दी जाती थी। तख्तियों को इकट्ठा करनेवाले अधिकारी को शलाका-ग्राहक कहते थे। मत गुप्त रखे जाते थे। परिषद् में निश्चय प्रायः सर्वसम्मति से होता। था। ऐसा न हो सकने पर बहुमत से होता था। प्रतिज्ञा परिषद् में स्वीकृत हो जाने पर संघ-कर्म या कर्म (ऐक्ट) कहलाती थी। कार्यवाही की वैधानिकता निम्नलिखित बातों पर अव-लम्बित थी:—(१) गण-पूर्ति (२) अधिकारी सदस्योंकी उपस्थिति (३) प्रतिज्ञा की नियमित ज्ञप्ति (४) सभी शलाकाओंका संग्रह (५) परिषद् द्वारा कार्यवाही की सम्पुष्टि। संस्थागार के भीतर विनय का पालन करना पड़ता था। अनावश्यक बातचीत करना मना था। किसी प्रस्ताव के नियमतः पास होने पर फिर उस पर विचार नहीं होता था। जो सदस्य अनुचित व्यवहार करता था, उसके विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव रखा जा सकता था। अवैध-अधिवेशन में स्वीकृत हुआ प्रस्ताव वैध-अधिवेशन में सम्पुष्ट नहीं हो सकता था। न्यायालय की तरह परिषद् का भी कार्यालय होता था। इसमें विश्वासपात्र लेखक परिषद् की कार्यवाही लिखते और सुरक्षित रखते थे। ऊपर की कार्यवाही देखने से मालूम होता है कि गण-परिषद् की कार्यवाही वास्तव में लोकतांत्रिक थी। इसमें निश्चय करने का आधार पशु-बल नहीं, किन्तु विवाद, तर्क और समझाना-बुझाना था। यह कार्यवाही कई दृष्टियों से आधुनिक धारा या व्यवस्थापिका-सभा की कार्यवाही से मिलती-जुलती है।

## ४. प्रसिद्ध राजतंत्र

इस समय चार प्रसिद्ध राजतंत्र थे—(१) कोसल (२) मगध (३) वत्स और (४) अवन्ति। इनमें से पहले दो उत्तर भारत के पूर्वी भाग और दूसरे दो उसके पश्चिमी भाग में थे। इनमें आधिपत्य के लिये अकसर लड़ाई होती थी। पहले कोसल और मगध तथा वत्स और अवन्ति में संघर्ष था। पीछे मगध ने क्रमशः कोसल, वत्स और अवन्ति को जीत लिया और वह एक बड़ा साम्राज्य बनाने में समर्थ हुआ।

(१) कोसल——यह उत्तर भारत के प्रसिद्ध राज्यों में से था। इस समय इसकी राजधानी अयोध्या न हो कर और उत्तर में राप्ती (अचिरावती) के किनारे श्रावस्ती थी। कोसल के राजाओं ने बुद्ध-काल के पहले ही काशी को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था। काशी के कारण कोसल और मगधमें लड़ाई होना स्वाभाविक ही था। बुद्ध का समकालीन कोसल का राजा महाकोसल का पुत्र प्रसेनजित था। उसने मगधसे संघर्ष कम करनेके लिये अपनी बहन महाकोसलाका विवाह मगध के राजा बिम्बिसार से किया और काशी का प्रान्त उस-को दहेज में दिया। किन्तु मगध के राजकुमार अजातशत्रु से फिर उसकी लड़ाई हो गयी। फिर वैवाहिक सम्बन्ध से शत्रुता दूर करने की चेष्टा की गयी। प्रसेनजित ने अपनी लड़की वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से किया। प्रसेनजित का पुत्र विरुद्धक भी बुद्ध का समका-लीन था। उसने आक्रमण करके शाक्यों का संहार किया और उनका गण-राष्ट्र अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु कोसल और मगध-में जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ था, उसका फल यह हुआ कि कोसल मगध-साम्राज्य में मिला लिया गया।

(२) मगध——बुद्ध काल में मगध में हर्यङ्क (नागवंश) की स्थापना हो गयी थी। बुद्ध का समकालीन राजा बिम्बिसार था। वह बड़ा महत्वाकांक्षी था। उसने बिहार के पूर्वोत्तर में अंग को जीत कर मगध-राज्यमें मिला लिया। विवाह-सम्बन्ध से भी उसने अपना प्रभाव बढ़ाया। उसकी एक रानी प्रसेनजित की बहन महाकोसला थी, जिसके साथ दहेज में काशी का प्रान्त मिला। उसकी दूसरी रानी छलना वैशाली के लिच्छवि-प्रमुख चेटक की बहन थी, जिसके द्वारा उसने

वज्जि-संघ की मित्रता प्राप्त की। वत्स और गान्धार-कम्बोज से भी उसका मैत्री-सम्बन्ध था। बिम्बिसार के बाद उसका पुत्र अजातशत्रु भी बुद्ध का समसामयिक था। वह अपने पिता से भी अधिक महत्वाकांक्षी था। उसने गंगा के उत्तर में वज्जिसंघ का विघटन किया और कोसल को भी पराजित किया। वास्तव में मगध-साम्राज्य के भावी विकास की नींव को उसी ने दृढ़ किया।

(३) वत्स—इस समय वत्स में पौरव राजा उदयन राज्य कर रहा था। वह बुद्ध का भक्त और मगध के राजा बिम्बिसार का मित्र था। अवन्ति-राजा प्रद्योत से उसकी लड़ाई चलती थी। उदयन को मृगया और संगीत का बड़ा प्रेम था। एक बार वह हाथियों का शिकार करता हुआ अवन्ति के राजा प्रद्योत के सैनिकों द्वारा पकड़ा गया और उज्जयिनी में जाकर बन्दी हुआ। कारागार में ही उसका प्रद्योत की लड़की वासवदत्ता से प्रेम हो गया और वह षड्यंत्र करके उसके साथ अपनी राजधानी कौशाम्बी वापस आ गया। उदयन का पुत्र बोधिकुमार था। कथा-सरित्सागर के अनुसार उसी के समय में अवन्ति के राजा पालक ने वत्स को अपने राज्य में मिला लिया।

(४) अवन्ति—बुद्ध के समय में मध्य भारत में अवन्ति का एक प्रबल राज्य था। यहाँ का राजा चण्ड प्रद्योत था जो अपनी कठोर सैनिक नीति के लिये 'चण्ड' कहलाता था। उसने मथुरा का पार्श्ववर्ती शूरसेन प्रान्त जीत लिया था और वत्स को भी जीतने का प्रयत्न कर रहा था। उसका आतंक इतना अधिक था कि मगध का राजा अजातशत्रु भी उसके आक्रमण की आशंका करता था। उसके पुत्र पालक ने वत्स को अपने राज्य में मिला लिया। अन्त में अवन्ति और मगध का सामना हुआ। साम्राज्यवाद की दौड़ में अवन्ति राज्य पीछे पड़ गया और मगध ने उसको आत्मसात कर लिया।

## ५. बुद्धकालीन समाज

(१) समाज की रचना—बुद्ध-काल का भारतीय समाज पहले की तरह वर्ण और जाति के ऊपर अवलम्बित था। बौद्ध और जैन आदि सुधारक धर्मों ने केवल वर्ण और जाति की बुराइयों की आलोचना की, किन्तु उनको निर्मूल करने की चेष्टा न की और न

किसी नये प्रकार के समाज का ढाँचा ही समाज के सामने खड़ा किया। हाँ, वर्णों की गिनती में एक परिवर्तन दिखायी पड़ता है। वर्णों की गिनती ब्राह्मण से न शुरू होकर क्षत्रिय से शुरू होती है। क्योंकि बुद्ध ने क्षत्रिय-वर्ण में उत्पन्न होकर उसका मान बढ़ाया था, इसलिये बौद्ध लेखक वर्ण की गिनती क्षत्रिय से प्रारम्भ करते हैं। चार वर्णों के साथ-साथ बहुत सी व्यावसायिक जातियाँ समाज में थीं। कुछ हीन पेशे और हीन जाति ( जंगली या अर्द्ध जंगली ) के लोग भी थे जो समाज में ठीक तरह से मिले नहीं थे और उसके छोर पर रहते थे। इनमें चाण्डाल, पुक्कस, निषाद, श्वपच आदि शामिल थे। वर्ण और जाति का परिवर्तन अभी संभव था। बहुत से लोग अपना पैतृक व्यवसाय छोड़ कर दूसरा काम भी करते थे।

(२) विवाह-संस्था—ब्राह्म, गान्धर्व और स्वयंवर प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्म-विवाह की व्यवस्था माता-पिता या संरक्षक करते थे। गान्धर्व में स्त्री-पुरुष अपना सम्बन्ध स्वयं कर लेते थे। स्वयंवर में कोई प्रतिज्ञा होती थी। उसको पूरा करने पर कन्या वर को स्वीकार कर लेती थी। किन्हीं जातियों ( जैसे-शाक्य ) में सगोत्र विवाह होता था, यद्यपि दूसरी जाति वाले इसकी निंदा करते थे। कई जातियों में मामा की लड़की से भी विवाह होता था। कई जातक-ग्रन्थों में भगिनी-विवाह की भी कहानियाँ हैं, किंतु वे आदिम काल की धुँधली स्मृतिमात्र हैं। बहुविवाह और सौतों की भी चर्चा मिलती है, परन्तु समाज में थोड़े-से लोग कई विवाह करते थे। स्त्रियों का पुनर्विवाह पति के मरने पर संभव था।

(३) स्त्रियों की अवस्था—लड़कों की तरह लड़कियों के पालन-पोषण और शिक्षा का ध्यान रखा जाता था। गृह-चातुर्य और संगीत उनके मुख्य गुण समझे जाते थे। यद्यपि लड़कियों का विवाह उनके अभिभावक ही ठीक करते थे, फिर भी कुछ लड़कियाँ अपना वर स्वयं चुन लेती थीं। घर में स्त्रियों का आदर था और सच्चरित्र स्त्री का समाज में मान होता था। आजकल जैसी पर्दा-प्रथा न थी, किन्तु स्त्रियों को शील, लज्जा और पुरुषों से थोड़ा आवरण रखना पड़ता था। पहले स्त्रियों का भिक्षुणी या परिव्राजका होना ठीक नहीं समझा जाता था, बौद्ध धर्म के प्रभाव से बहुत सी स्त्रियाँ

भिक्षुणी और परिव्राजका हो गयीं। कुछ स्त्रियाँ गणिका या वेश्या का काम भी करती थीं।

(४) आर्थिक जीवन—जातक और त्रिपिटक आदि शुरू के पाली ग्रन्थों से बुद्धकालीन भारत के आर्थिक जीवन का अच्छा चित्र हमारे सामने खड़ा होता है। उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है:—

(क) खेती और गाँव—आर्थिक जीवन का मुख्य आधार खेती था। देश के अधिकांश लोग खेती की सुविधा के लिये गाँवों में बसते थे। पहले ग्राम (गाँव) समूह को कहते थे। पीछे बहुत-से लोग जब एक स्थान पर बस जाते थे तो उनकी बस्ती को ग्राम या गाँव कहा जाने लगा। बस्ती की जमीन आस-पास से ऊँची होती थी, जहाँ स्वास्थ्य और सुरक्षा की दृष्टि से लोग पास-पास घर बना कर बस जाते थे। गाँव के भीतर कूँये और उसके पास में जलाशय होते थे। प्रायः गांव से लगी हुई अमराइयाँ लगायी जाती थीं, जिनकी छाया में मनुष्य और पशु विश्राम करते और सामाजिक या धार्मिक सभा, मेले और तमाशे होते थे। गाँव में चारों ओर खेत फैले होते थे, जो एक दूसरे से मेंड़ या झाड़ियों से अलग किये जाते थे। उनके बीच-बीच में सिंचाई के लिये नालियां बनी होती थीं। खेतों की सीमा पर शाल (साखू), बाँस, आम, महुआ और कई प्रकार की झाड़ों के उपवन होते थे, जिनसे लकड़ी लेने और पशु चराने का अधिकार गांव वालों को होता था।

खेतों पर किसानों का अधिकार था। राज्य को केवल उपज का एक भाग, छठवें से लेकर बारहवें तक मिलता था। परन्तु किसान भी ग्राम-पंचायत की अनुमति के बिना अपना खेत दूसरे के हाथ बेच नहीं सकता था। जमींदारी की प्रथा न थी। इसलिये समान अवस्था के छोटे-छोटे किसान अधिक थे। न कोई बहुत धनी था और न कोई बिल्कुल गरीब। गाँव का प्रबन्ध ग्राम-सभा करती थी, जिसका प्रमुख ग्राम-भोजक होता था। ग्राम-भोजक का चुनाव सभा द्वारा होता था। गाँव की सुरक्षा और न्याय का काम मुख्यतः सभा के हाथ में होता था। इसके अतिरिक्त सिंचाई, रास्ते, धर्मशाला और सभाघर बनाने आदि सार्वजनिक हित के बहुत-से काम भी सभा करती थी।

ऐसा मालूम होता है कि गाँव वालों को सामाजिक कर्तव्यों का अच्छा ज्ञान था। और वे आपस में सहयोग से काम करते थे। सभी दृष्टियों से गाँव एक छोटा स्वावलम्बी प्रजातन्त्र था।

(ख) उद्योग-धन्धे, व्यापार और नगर—आर्थिक जीवन का दूसरा मुख्य आधार बहुत-से उद्योग-धन्धे और व्यापार था। इस दिशा में काफी उन्नति हो चुकी थी। इस काल में मुख्य अठारह शिल्पों की गणना मिलती है, जिनमें बढ़ई, लुहार, सुनार, रथकार, चमार, कुम्हार, माली, चित्रकार, तेली, जुलाहा, रंगरेज, जौहरी, हाथीदाँत-शिल्पी, हलवाई, सूपकार, (रसोइया) आदि के व्यवसाय शामिल थे। कुछ ऐसे भी व्यवसाय थे जिनको हीन-शिल्प (नीचा काम) समझा जाता था, जैसे, चमड़ा सिझाना, मछली मारना, सँपेरे का काम, शिकार, नाचना, अभिनय आदि। ऊपर के व्यवसायों में से अधिकांश संगठित थे। इनकी संगठित संस्थाओं को श्रेणी कहते थे। प्रायः प्रत्येक श्रेणी के लोग नगर के अलग-अलग भागों में रहते थे। प्रत्येक श्रेणी का सभापति होता था, जिसको प्रमुख या ज्येष्ठ कहा जाता था। श्रेणियों के अपने नियम बने होते थे, जिनसे उनका संचालन होता था।

उद्योग-धंधों के साथ-साथ व्यापार का भी काफी विकास हो गया था। देश के एक भाग से दूसरे भाग में सामान आते-जाते थे। पश्चिमी एशिया पूर्वी यूरोप, अफ्रीका ब्रह्मा, लंका के साथ विदेशी व्यापार भी होता था। देश के भीतर बड़े-बड़े नगरों को मिलाने वाली सड़कें और नदियाँ थीं। सड़कों पर व्यापारी बड़े-बड़े झुंड बनाकर चलते थे। नावों के बेड़े भी नदियों में चला करते थे। विदेशी व्यापार समुद्रतट के किनारे-किनारे चलने वाली नावों द्वारा होता था। देश के बाहर जाने वाली वस्तुओं में मलमल, रेशम, किनख्वाब, गुड़कारी का सामान, औषध, सुगन्धियाँ, बर्तन, हाथीदाँत के काम, रत्न, आभूषण आदि शामिल थे। थोड़े सामान का दाम सिक्कों से चुकाया जाता था, किन्तु अधिक सामान और दूर के क्रय-विक्रय में व्यापारी और सेठ हुण्डियों का उपयोग करते थे।

भारतवर्ष में नगरों की संख्या कम थी। फिर भी विशेष करके व्यापार नगरों में केन्द्रित था। इस काल के मुख्य नगरों में अंग की राजधानी चम्पा, विदेह की मिथिला, वज्जिसंघ की वैशाली, मगध की राजगृह, वाराणसी, कोशल की श्रावस्ती, वत्स की कौशाम्बी, अयोध्या

मथुरा, अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी और गान्धार की राजधानी तक्षशिला प्रसिद्ध थी। पाटलिपुत्र की स्थापना भगवान् बुद्ध के जीवन के अंतिम दिनों में हुई थी। नगरों के मकान लकड़ी, ईंट और पत्थर के बनते थे। धनिकों के मकान में काफी सजावट होती थी। गरीबों के मकान नगरों में भी छोटे और सादे होते थे। नगरों में आराम की चीजें गावों की अपेक्षा अधिक सुलभ थीं। नगरों का शासन निगम-सभा (नगर-पंचायत) करती थी और ग्राम-सभा के समान उसके भी अधिकार थे।

(ग) मुद्रा और विनिमय—निष्क, सुवर्ण और शतमान नाम के सिक्के पहले से प्रचलित थे, जिनका उल्लेख इस समय भी मिलता है। परन्तु इस काल का सबसे चालू सिक्का कार्षापण था। यह सिक्का ताँबे का बनता था और तोल में १४६ ग्रेन के बराबर होता था। कार्षापण से छोटे सिक्के मासक और काकणिका कहलाते थे। बुद्ध-कालीन सिक्के आधुनिक सिक्कों की तरह ढलते नहीं थे। धातुओं को पीट कर चादरें बनाते थे और उनको छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर उन पर जनपद, श्रेणी, या दूसरे कोई स्थानीय अथवा धार्मिक चिह्न अंकित कर देते थे। ऐसे अंकित सिक्कों को अंग्रेजी में 'पंचमार्क्ड' कहते हैं। राज्य के अतिरिक्त जनपद-सभा या श्रेणी को भी सिक्के बनाने का अधिकार था। ये सिक्के राज-कोष, श्रेणी-कोष अथवा व्यक्ति-गत कोष में रखे जाते थे। कभी-कभी लोग अपने संचित सिक्कों को किसी श्रेणी, सेठ या मित्र के यहाँ धरोहर भी रखते थे। व्यापारिक या व्यक्तिगत काम के लिये ऋण या उधार देने की प्रथा थी और इसके लिये व्याज लिया जाता था। अधिकांश ग्रामीण आर्थिक जीवन होने के कारण विनिमय का आधार सामानों का अदला-बदला था। फिर भी बड़े व्यापार और लेन-देन में सिक्कों और हुंडियों का उपयोग होता था। बहुत छोटी-छोटी बिक्रियों में सिक्कों के अतिरिक्त कौड़ियाँ भी काम में आती थीं।

# नवाँ अध्याय

## मगध-साम्राज्य का उदय और विकास

यह पहले लिखा जा चुका है कि बुद्ध काल में जो प्रसिद्ध राजतंत्र थे, उनमें मगध ही साम्राज्य बनाने में समर्थ हुआ। इसके पहले भी मगध ने साम्राज्य बनाने का प्रयत्न किया था। महाभारत-काल में वार्हद्रथ वंश का जरासंध नाम का यहाँ एक राजा था जो बड़ा महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी था। किन्तु इसकी योजना को पाण्डव-कृष्ण संघ ने विफल कर दिया। इसके बाद मगध की शक्ति शिथिल हो गयी। फिर बुद्ध के कुछ समय पहले से कई राजवंशों ने मगध में राज्य किया और इसके विस्तार, शासन और शक्ति को बढ़ाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि मगध एक विशाल साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। मगध-साम्राज्य के उदय और विकास की कहानी इन्हीं राजवंशों के क्रम से कही जायेगी।

### १. हर्यङ्क-वंश

(१) वंश-परिचय—पुराणों के अनुसार मगध में वार्हद्रथ-वंश के वाद शैशुनाग वंश हुआ। बौद्ध और जैन-साहित्य के अनुसार वार्हद्रथ-वंशके वाद आने वाला वंश हर्यङ्क वंश था और उसका संस्थापक बिम्बिसार था, शिशुनाग नहीं,जो कई पीढ़ियों पीछे हुआ। वास्तव में ऊपर के दोनों ही वंश नागवंशी क्षत्रियों के उपवंश थे। हर्यङ्क का अर्थ भी नाग (हरि=नाग, अङ्क=शरीर, गोद) और शिशुनाग का अर्थ छोटा नाग(शिशु=बालक) होता है। जिस प्रकार पश्चिमोत्तर भारत में महाभारत युद्ध के बाद नागों की शक्ति का विकास हुआ, उसी प्रकार पूर्व में भी चन्द्रवंशी क्षत्रियों को पराजित कर मगध में नागों ने अपने राज्य की स्थापना की।

(२) बिम्बिसार—ईसा से लगभग ५४३ वर्ष पहले बिम्बिसार ने मगध में हर्यङ्क-राजवंश की स्थापना की। उसका पिता भट्टिय एक

साधारण सामन्त था। बिम्बिसार का दूसरा नाम श्रेणिक था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वह सिंहासन पर बैठा। थोड़े ही दिनों में उसने अपने राज्य के विस्तार और प्रभाव को बढ़ा दिया। उसने कई एक वैवाहिक सम्बन्ध किये, जिनका राजनैतिक महत्व था। उसकी एक रानी कोसल के राजा प्रसेनजित की बहन महाकोसला थी। उसकी दूसरी रानी चेल्लना (छलना) लिच्छवि-प्रमुख चेटक की बहन थी। तीसरी रानी वासवी विदेह-कुमारी थी। चौथी क्षेम मद्र (उत्तरी पंजाब) के राजा की लड़की थी। इन सम्बन्धों से बिम्बिसार ने काफी लाभ उठाया। कोसल की राजकुमारी से व्याह के साथ काशी का प्रांत उसको दहेज में मिला। वैशाली के लिच्छवियों से सम्बन्ध करके उसने अपने राज्य की उत्तरी सीमा को सुरक्षित बनाया। विदेहों से सम्बन्ध करके अपने शत्रु अंग देश को पश्चिमोत्तर से घेर लिया। युद्ध के द्वारा बिम्बिसार ने अपने राज्य का विस्तार पूर्वोत्तर में किया। उसने अंग (मुंगेर और भागलपुर का कुछ भाग) को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। अन्तर्राज्य-सम्बन्ध में भी वह चतुर और सफल था। वत्स, मद्र, गांधार और कम्बोज आदि राज्यों के साथ उसने दूत-सम्बन्ध स्थापित किया था।

बिम्बिसार महावीर और बुद्ध दोनों का समकालीन था। वह अपने धार्मिक विश्वास और नीति में उदार था। इसलिये जैन और बौद्ध दोनों ही सम्प्रदाय वाले उसको अपने धर्म का अनुयायी मानते थे। उसके जीवन का अन्तिम भाग बड़ा दुःखान्त रहा। उसके लम्बे शासन-काल से अधीर होकर उसके प्रिय किन्तु महत्वाकांक्षी पुत्र अजातशत्रु ने उसको वन्दीगृह में डाल दिया और यहीं पर उसका देहान्त होगया। उसकी रानी महाकोसला भी उसके वियोग में मर गयी।

(३) अजातशत्रु —अपने पिता बिम्बिसार को वन्दीगृह में डाल कर अजातशत्रु लगभग ४६० ईसा पू० गद्दी पर बैठा। इसके पहले वह अपने पिता की ओर से अंग में शासन करता था। उसके पितृघात का फल यह हुआ कि उसको कोसल के साथ युद्ध करना पड़ा। महाकोसला के मरने के बाद कोसल का प्रान्त प्रसेनजित ने वापस ले लिया। अजातशत्रु अपने पितासे भी अधिक महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी था। वह काशी खोने को तैयार नहीं था। अतः मगध और

कोसल में युद्ध हुआ। इसमें दोनों तरफसे कई बार जय-पराजय हुआ। अन्तमें हार कर अजातशत्रु वन्दी हुआ। परन्तु उसका यह पराजय भी जय में बदल गया। कहा जाता है कि जब अजातशत्रु वन्दीगृह में था तो उसी समय प्रसेनजित की लड़की वाजिरासे उसका प्रेम-सम्बन्ध हो गया। पता लगने पर प्रसेनजित ने वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया और दहेज में काशी का प्रांत भी वापस कर दिया। इस प्रकार अजातशत्रु ने न केवल काशी का प्रांत वापस पा लिया, किन्तु नये वैवाहिक सम्बन्ध से अपने राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा भी सुरक्षित कर ली।

गण-राष्ट्र साम्राज्यवाद के सबसे बड़े शत्रु थे। अतः कोसल से निपट कर अजातशत्रु ने अपने राज्य की उत्तरी सीमा पर गंगा के उस पार वज्जि-संघ के ऊपर आक्रमण किया। गणों की सैनिक शक्ति बड़ी प्रबल थी। इसलिये अपनी सैनिक तैयारी के साथ-साथ अजातशत्रु ने भेद-नीति से पहले वज्जि-संघ को दुर्बल किया। उसके मंत्री वस्सकार और सुनीढ ने गण के प्रमुखों में फूट डाल दी और गण के अन्तरंग की बहुत-सी गुप्त बातें मालूम करलीं। गंगा के किनारे पाटलिपुत्र के स्थान पर अपने आधार के लिये अजातशत्रु ने एक दुर्ग बनवाया और वज्जि-संघ पर आक्रमण कर दिया। वज्जियों ने भी वज्जि-संघ की नव शाखाओं और अपने पड़ोसी मल्ल-संघको मिला कर एक बड़ा गण-संघ बनाया। दस वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। अन्त में साम्राज्यवादी शक्ति के सामने गणों को हारना पड़ा। ऐसा मालूम होता है कि वज्जि-संघ पर विजय करके अजातशत्रु ने और पश्चिमोत्तर बढ़कर मल्ल-संघ को भी-पराजित किया और अपने साम्राज्य की सीमा हिमालय की तलहटी तक बढ़ा ली। इस प्रकार अजातशत्रु के समय में मगध-साम्राज्य का काफी विस्तार हो गया।

धार्मिक मामलों में अपने पिता बिम्बिसार की तरह अजातशत्रु भी उदार था और अपने समय के सभी-धर्मो का आदर करता था। उसके ऊपर पहले जैन-मत का विशेष प्रभाव था। परन्तु पीछे बौद्ध धर्म से वह विशेष प्रभावित हुआ। अपने पिता बिम्बिसार के मरने के बाद तो वह भगवान बुद्ध का पूरा भक्त होगया। जब कुशीनगर में बुद्ध का निर्वाण हुआ तो अजातशत्रु ने उनके

अवशेषों में से अपना भाग लिया और उसके ऊपर स्तूप बनवाया। बुद्ध के निर्वाण के बाद अजातशत्रु के जीवन-काल ही में राजगृह की सप्तपर्णि गुफा में बौद्ध धर्म की प्रथम संगीति सभा का अधिवेशन हुआ। अपने जीवन के अंतिम समय में अपने पितृघात का प्रायश्चित अजातशत्रु को करना पड़ा। वह भी अपने प्रिय पुत्र उदायी के षड्यंत्र से मारा गया।

(४) उदायी—इसके दूसरे नाम उदयभद्र और उदयिन भी थे। बौद्ध साहित्य के अनुसार अपने पिता को मार कर यह गद्दी पर बैठा। परन्तु जैन ग्रंथों में इसके विरुद्ध उल्लेख मिलता है। इसके समय की सबसे प्रसिद्ध घटना है गंगा और सोन के संगम पर, जहाँ अजातशत्रु ने दुर्ग बनवाया था, पाटलिपुत्र नगर का बसाया। उदायी ने अपनी राजधानी राजगृह से हटाकर इसी नये नगर में कर दी। जब तक मगध का राज्य गंगा के दक्षिण में था तब तक राजगृह उसके मध्य में पड़ता था और राजधानी के लिये उपयुक्त था। अजातशत्रु की विजयों से मगध-साम्राज्य उत्तर में हिमालय के पास तक फैल गया। इस विस्तृत साम्राज्य के लिये पाटलिपुत्र अधिक उपयुक्त राजधानी थी। यहीं पर पश्चिम से पूर्व जाने वाले व्यापार और सेना के मार्ग मिलते थे। इस दृष्टि से भी पाटलिपुत्र को राजधानी बनाना आवश्यक था। मगध और अवन्ति दोनों ही साम्राज्य स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। इसलिये दोनों का संघर्ष चलता था। उदायी के समय में यह संघर्ष कुछ बढ़ता हुआ दिखायी पड़ता है।

(५) उदायी के उत्तराधिकारी—सिंहली ख्यातों के अनुसार उदायी के तीन लड़के—अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदासक—थे और तीनों ने ही क्रमशः राज्य किया। इनमें तीसरा नागदासक ही प्रसिद्ध जान पड़ता है। पुराणों में इसको दर्शक कहा गया है। इनके समय में पारिवारिक कलह बढ़ता गया। षड्यंत्र और हत्यायें होने लगीं। राजवंश दुर्बल और शासन प्रबन्ध ढीला हो गया। प्रजा में बड़ा असंतोष था। सभी लोग पितृघाती राजवंश से घृणा करने लगे। इसके फलस्वरूप मगध में राजनैतिक विप्लव हुआ और नागवंश की एक दूसरी शाखा ने मगध में अपना राज्य स्थापित किया।

## २. शैशुनाग-वंश

हर्यङ्क वंश के पारिवारिक षड्यंत्रों और ढीले शासन से तंग आकर मगध के मंत्रियों और प्रजा ने काशी-प्रान्त के शासक शिशुनाग को, जो दर्शक का वहाँ प्रतिनिधि था, बुलाया और मगध के राज-सिंहासन पर बैठाया। जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, शिशु-नाग नागवंश का ही था। इसलिये इसको राज्य-स्थापना में बड़ी आसानी हुई।

(१) शिशुनाग के विजय और मगध-साम्राज्य का विस्तार— शिशुनाग बड़ा वीर और विजयी राजा था। गद्दी पर बैठने के बाद ही उसने अवन्ति पर आक्रमण किया और वहाँ के प्रद्योत-वंश की शक्ति नष्ट कर उसको मगध-साम्राज्य में मिला लिया। साम्राज्यवादी दौड़ में अवन्ति-राज्य मगध का प्रतियोगी था। इस विजय ने आगे के विस्तार के लिये मगध का रास्ता साफ कर दिया। ऐसा मालूम पड़ता है कि अवन्ति-विजय के पहले ही उसने वत्स-राज्य (काशी और अवन्ति के बीच में) पर भी अधिकार कर लिया था। पश्चिममें अपनी नयी विजयों पर विशेष ध्यान रखने के लिये उसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से हटाकर फिर राजगृह में कर ली और काशी में अपने पुत्र को शासक नियुक्त किया। अपने साम्राज्य के उत्तरी भाग पर भी वह काफी ध्यान रखता था और उसकी एक राजधानी वैशाली में भी थी। वज्जि-भूमि के पश्चिमोत्तर का मल्ल-राष्ट्र अजातशत्रु के समय में ही मगध-साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था। शिशुनाग ने आगे बढ़कर कोसल को भी जीता और मगध-साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार पंजाब और सीमान्त को छोड़कर प्रायः सारा उत्तर उसके आधिपत्य में आ गया। यही कारण है कि पुराणों ने पूरे नागवंश को शैशुनाग-वंश कहा। अठारह वर्ष तक सफलतापूर्वक राज्य करने के बाद शिशुनाग का देहान्त हो गया।

(२) शिशुनाग के उत्तराधिकारी और वंश का अन्त—शिशु-नाग के बाद उसका पुत्र अशोक (कालाशोक अथवा काकवर्ण) राजा हुआ। उसने राजगृह को छोड़कर फिर पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। इसी के शासन-काल में लगभग ३८३ ई० पू० में बौद्ध धर्म की

दूसरी संगीति हुई। इसी संगीति में बौद्ध धर्म के दो स्पष्ट सम्प्रदाय उत्पन्न हुये—(१) थेरवाद (स्थविरवाद अथवा बुद्ध-वचनों को अक्षरशः मानने वाला सम्प्रदाय) और (२) महासंघिक (उदार और सुधारवादी सम्प्रदाय)। इन्हीं दोनों से आगे चलकर हीनयान और महायान सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई।

कालाशोक के दस पुत्र हुये जिन्होंने संयुक्त शासन किया। इन के नाम महाबोधि-वंश के अनुसार ये हैं—(१) भद्रसेन (२) कोरण्डवर्ण (३) मंगुर (४) सर्वञ्ज (५) जालिक (६) उभक (७) संजय (८) कोरव्य (९) नन्दिवर्धन और (१०) पञ्चमक। इनमें से नन्दिवर्धन ही सबसे योग्य और प्रसिद्ध था; इसलिये पुराणों में केवल इसी का नाम मिलता है। नन्दिवर्धन विलासी था। इसके समय में राजपरिवार में व्यभिचार और षड्यंत्र बढ़ गये थे। उसकी शूद्रा-स्त्री से उत्पन्न महापद्मनन्द ने शैशुनाग-वंश का अन्त करके अपना नया वंश चलाया।

## ३. नन्द वंश

इस वंश में नव राजा हुये जिनको नव नन्द कहते थे। महाबोधिवंश के अनुसार नव नन्दों के नाम इस प्रकार हैं :- (१) उग्रसेन (२) पण्डुक (३) पण्डुगति (४) भूतपाल (५) राष्ट्र-पाल (६) गोविषाणक (७) दशसिद्धक (८) कैवर्त और (९) धन। इनमें प्रथम (उग्रसेन) पिता था और शेष उसके लड़के। उग्रसेन को ही पुराणों में महापद्मनन्द कहा गया है और वह इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

(१) महापद्मनन्द—पुराणों के अनुसार "महानन्दि (अथवा नन्दिवर्धन)की शूद्रा रानीसे महापद्मनन्द × × उत्पन्न होगा। वह अत्यन्त बलवान किन्तु बड़ा लोभी और सभी क्षत्रिय राजाओं का विनाश करने वाला होगा। वह इक्ष्वाकु वंशियों, पाञ्चालों, कौरवों, हैहयों, कालकों, एकलिंगों, शूरसेनों; मैथिलों और अन्य राजाओं को जीत कर दूसरे परशुराम के समान एकराट् और एकच्छत्र होकर शासन करेगा। हिमालय और विन्ध्य के बीच सम्पूर्ण पृथ्वी के ऊपर उसका सर्वमान्य राज्य होगा। × × ×"

महापद्म नन्द के सम्बन्ध में जितने वर्णन मिलते हैं उनसे उसके सम्बन्ध में कुछ बातें स्पष्ट मालूम होती हैं। पहली बात यह कि वह एक योग्य सैनिक था और उसके पास विशाल सेना थी। उग्रसेन

और महापद्मनाम (जो संभवतः विरुद थे) इसके द्योतक हैं। इसी सेना के बल से एक बड़ा साम्राज्य स्थापित करने में वह समर्थ हुआ। दूसरे वह बड़ा लोभी था। कहा जाता है कि उसने उन वस्तुओं और व्यक्तियों पर भी कर लगाया जिन पर पहले कभी कर नहीं लगा था। उसके कोष में अपार धनराशि थी। तीसरे वह अपनी सैनिक और आर्थिक नीति के कारण जनता में अप्रिय था। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वह महत्वाकांक्षी और बलशाली राजा था। उसकी विजयों से मगध-साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया और इस दिशा में उसने मौर्यों का पथ-प्रदर्शन किया।

(२) महापद्मनन्द के उतराधिकारी—महापद्म के पुत्रों में धननन्द ही प्रसिद्ध हुआ। यूनानी लेखकों ने उसको अग्रमीज् कहा है। अपने पिता से उसको बड़ा साम्राज्य, सम्पन्न कोष और विशाल सेना बपौती में मिली थी। यूनानी लेखक कर्टियस लिखता है—"गंगाघाटी और प्राची (पूर्व) के राजा अग्रमीज् ने (पश्चिम से) अपने राज्य में प्रवेश करने वाले मार्गों की रक्षा करने के लिये दो लाख पैदल, बीस हजार घुड़सवार, दो हजार रथ और तीन हजार हाथी रखे थे।" इससे नन्दों की राजनैतिक सावधानी और सैनिक बल का अनुमान किया जा सकता है।

(३) नन्दवंश का अन्त और उसके कारण—यह पहले कहा जा चुका है कि नन्दों का शासन जनता में अप्रिय था। शूद्रा रखेली से उत्पन्न होने के कारण उस समय का समाज महापद्म और उसके पुत्रों को नीच समझता था। जनता में नन्दों के जन्म-सम्बन्धी अपवाद की चर्चा यूनानी लेखकों ने भी की है। नंदों ने पुराने धार्मिक और सामाजिक नियमों का उल्लंघन किया। उन्होंने पुराने धर्म को छोड़ कर संभवतः जैन-धर्म अपनाया और धर्मविजयी राजाओं की नीति को छोड़कर असुरविजयी राजाओं की तरह उस समय के राज्यों का उन्मूलन किया; उन्होंने ब्राह्मण-धर्म के अनुसार राज्याभिषेक-संस्कार भी अपना नहीं कराया। इन कारणों से ब्राह्मण-वर्ग नंदों से बहुत अप्रसन्न था। क्षत्रिय-वर्ग इसलिये असंतुष्ट था कि महापद्म ने क्षत्रिय राज्यों का उच्छेद किया। अपनी उग्र सैनिक नीति और लोभी आर्थिक नीति के कारण प्रजा भी नंदों से घृणा करती थी। इस परिस्थिति में चाण-

क्य और चन्द्रगुप्त ने मिलकर नंद-साम्राज्य पर आक्रमण किया। नंदों की शक्ति अब भी प्रबल थी। किंतु राज्य के भीतर असंतोष और शत्रुओं के संघटन और नीति के सामने धननंद ठहर न सका और उसके पराजय और बध के साथ नंदवंश समाप्त हो गया।

# दसवाँ अध्याय

## उत्तरापथ : ईरानी और यूनानी आक्रमण

### १. उत्तरापथ भारत की मुख्य राजनैतिक धारा से अलग

छठवीं से लेकर चौथी शताब्दी ई० पू० तक जब कि उत्तर और पूर्व भारत में मगध साम्राज्य का विकास हो रहा था, भारत का पश्चिमोत्तर ( उत्तरापथ ) मगध की साम्राज्यवादी राजनैतिक धारा से अलग रहा। ऐसा जान पड़ता है कि इस काल में मगध साम्राज्य ने उत्तरापथ को अपने अन्तर्गत लाने की चेष्टा न की और उसका प्रभाव पश्चिम में सतलज या व्यास नदी तक सीमित था। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरापथ कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त रहा। इन राज्यों में ऐसा कोई शक्तिमान नहीं था जो सबके ऊपर आधिपत्य जमाकर एक तरह की राजनैतिक एकता स्थापित करता। इसके विपरीत इन राज्यों में परस्पर वैमनस्य और संघर्ष चलता था और सहयोग तथा ऐक्य की भावना का अभाव था। भारत के इस भाग का राजनैतिक जीवन विशृंखलित और दुर्बल था और इस परिस्थिति में कोई भी बलशाली विदेशी शक्ति इस पर आक्रमण कर सकती थी।

### २. उत्तरापथ के छोटे-छोटे राज्य

बिम्बिसार के समय में पश्चिमोत्तर सीमान्त में गान्धार और कम्बोज दो प्रमुख राज्य थे और शायद पंजाब और सिन्ध में मद्र, शिवि, सौवरी और सिन्धु के भी राज्य थे। परन्तु यूनानी लेखकों से मालूम होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व इन राज्यों के स्थान पर कई एक छोटे राजतंत्र और गणतंत्र स्थापित हो गये थे। जिस प्रकार बुद्ध के पहले पूर्वोत्तर भारत में कई एक राजतंत्र और गणतंत्र प्राचीन राजतंत्रों के स्थान पर बन गये थे उसी

प्रकार पश्चिमोत्तर भारत में भी हुआ। पश्चिम से प्रारम्भ कर इन राज्यों का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है:

(१) अश्वक—यह राज्य काबुल नदी के उत्तर में उस प्रदेश में था जहाँ काबुल की सहायक नदियाँ अलिसंग और कुनार बहती हैं। इसकी राजधानी कुनार के किनारे थी।

(२) गौर—यह राज्य पंजकौर नदी की घाटी में था।

(३) पूर्वी अश्वक इस सुरम्य राज्य को सुवास्तु अथवा उद्यान कहते थे। इसकी राजधानी मसग मालकन्द दर्रे के पास स्थित थी।

(४)नीसा—यह राज्य काबुल और सिन्ध नदी के बीच में था। इसकी शासन-प्रणाली गणतांत्रिक थी।

(५) पश्चिमी गान्धार—यह राज्य भी काबुल और सिन्ध के बीच में स्थित था। इसकी राजधानी पुष्कलावती थी जहाँ पर आजकल पेशावर से १७ मील उत्तर-पूर्व में मीर जियारत और चार-सड्डा हैं।

(६) पूर्वी गान्धार—सिंधु और झेलम के बीच में पूर्वी गान्धार का राज्य था, इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

(७) उरशा—यह प्राचीन गान्धार-राज्य का ही एक भाग था। पूर्वी गान्धार के पूर्वोत्तर में इसकी स्थिति थी।

(८) अभिसार—काश्मीर का पश्चिमोत्तर भाग इसमें शामिल था। उरशा की तरह से अभिसार भी प्राचीन कम्बोज का ही एक भाग था।

(९) केकय का पौरव राज्य—झेलम और चिनाव के बीच में पौरव राज्य था जिसमें पंजाब के झेलम, गुजरात और शाहपुर जिले शामिल थे।

(१०) ग्लुचुकायन—यह राज्य पौरव राज्य के पूर्व में था और इसमें कई एक बड़े और समृद्ध नगर बसे हुये थे।

(११) अद्रिज—यह रावी नदी के पहाड़ी अंचल में स्थित था। इसका मुख्य नगर पिम्प्रामा था।

(१२) कठ—कठ जाति का गणतांत्रिक राज्य रावी और व्यास के बीच में स्थित था।

(१३) सौभूति राज्य—यह राज्य झेलम के पूर्व में स्थित था।

(१४) मगल—कठ गणतंत्र के दक्षिण रावी और व्यास नदी के बीच में यह राज्य स्थित था।

(१५) शिवि—झेलम और चिनाव के संगम के नीचे झंग जिले में शिवि राज्य था।

(१६) अगलेसाय—शिविराज्य के पास में ही यह राज्य स्थित था।

(१७) क्षुद्रक—रावी और व्यास के बीच मांटगोमरी जिले में क्षुद्रकों का गण-राज्य था। इस गण की सैनिक शक्ति बड़ी प्रबल थी।

(१८) मालव—रावी और चिनाव के संगम के ऊपर मालवों का गणतांत्रिक राज्य था। विदेशी आक्रमण के समय क्षुद्रक-मालव-संघ प्रायः बनता था।

(१९) अम्बष्ठ—चिनाव-घाटी के निचले भाग में यह राज्य स्थित था। इनकी शासन-प्रणाली भी गणातांत्रिक थी।

(२०) क्षत्रि—चिनाव और रावी के निचले कोंठे में क्षत्रि-जाति का गणतांत्रिक राज्य स्थित था।

(२१) शूद्र—शूद्र एक जाति विशेष थी। इसका गण-राज्य उत्तरी सिन्ध में स्थित था।

(२२) मूषिक—वर्तमान सिन्ध प्रान्त का अधिकांश मध्य भाग इसमें शामिल था। इसकी राजधानी उस स्थान पर थी जहाँ आजकल सक्कर जिले में अलोर है।

(२३) प्रोस्थ—यह राज्य सिन्धु नदी के पश्चिम लरखान जिले के आस-पास था।

(२४) शाम्ब—मूषिक राज्य के पड़ोस में इस राज्य की स्थिति थी। इसकी राजधानी सिन्धु के किनारे सिन्दिमान ( =सेह-वान ) थी।

(२५) पटल—यह राज्य सिन्ध प्रान्त के दक्षिणी भाग में सिन्धु के मुहाने पर स्थित था। इसकी राजधानी पटल उस स्थान पर थी जहाँ इस समय बहमनाबाद है।

## ३. ईरानी आक्रमण

छठवीं शताब्दी ई० पू० में ईरान में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना हुई और उसका फैलाव पश्चिम और पूर्व दोनों तरफ होने लगा। अपने पूर्वी फैलाव में इसका संघर्ष भारतवर्ष के साथ हुआ। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है पश्चिमोत्तर भारत कई राज्यों में विभक्त और राजनैतिक तथा सैनिक दृष्टि से दुर्बल था। इसलिए ईरानी सम्राटों को पश्चिमोत्तर सीमा पर अपना आधिपत्य जमाने में आसानी हुई।

(१) आक्रमण और अधिकार—सबसे पहले ईरानी साम्राज्य के संस्थापक कुरुष ने ५५० ई०पू० के लगभग मकरान के रास्ते से भारतवर्ष पर आक्रमण किया। सिन्ध के राज्यों ने उसका बड़ा कड़ा सामना किया। कुरुष बुरी तरह से हारा और बचे हुये अपने सात साथियों के साथ जान बचा कर भागा। परन्तु वह बिल्कुल निराश नहीं हुआ। दूसरी बार उसने काबुल-घाटी के रास्ते से आक्रमण किया। उसने कपिशा नगरी को नष्ट किया और आगे बढ़कर अश्वकों और पक्थों (पश्तो बोलने वाले पठानों) का प्रदेश भी जीत लिया। यूनानी लेखकों से मालूम होता है कि इन प्रदेशों से कुरुष को कर मिलता था। स्ट्रैबो नामक यूनानी लेखक एक स्थल पर कहता है कि कुरुष ने एक युद्ध में अपनी ओर से लड़ने के लिये क्षुद्रकों को बुलाया था, जिससे मालूम होता है कि पंजाब के पश्चिम-दक्षिण में रहने वाले क्षुद्रक भी उसके अधीन थे।

दूसरा ईरानी आक्रमण विस्तास्प के बेटे दारा के समय (५२१-४८५ ई० पू० ) हुआ। उसके बेहिस्तून, नक्श-रुस्तम और हमदान के उत्कीर्ण लेखों से मालूम होता है कि उसने गांधार, कम्बोज, पश्चिमी पंजाब और पूरे सिंध प्रांत पर अधिकार कर लिया। भारत में ये जीते हुये प्रदेश दारा के साम्राज्य के इक्कीस प्रांतों में से एक प्रांत बनाते थे। इनके ऊपर एक क्षत्रप (प्रांतीय शासक) शासन करता था। यह प्रांत ईरानी साम्राज्य के सभी प्रांतों में समृद्ध था और यहाँ से सबसे अधिक

कर मिलता था। हिरोडोटस के अनुसार सुवर्ण-चूर्ण के ३६० टैलेंट (थैले) यहाँ से कर-रूप में जाते थे, जो लगभग १२ लाख ६० हजार पौंड के बराबर थे। दारा के पुत्र जरुयार्ष (४८६-४६५ ई० पू०) ने भी भारतीय प्रांत के ऊपर अपना अधिकार बनाये रखा। यूनान के साथ उसके युद्ध में भारतीय सैनिक भी सम्मिलित थे। इसके बाद ईरानी अधिकार शिथिल होने लगा और लगभग ४२५ ई० पू० में भारत के वे प्रदेश जो ईरानी साम्राज्य में शामिल थे स्वतंत्र हो गये।

## ४. ईरानी आधिपत्य का भारत पर प्रभाव

ईरानी आक्रमणों ने पश्चिमोत्तर भारत की राजनैतिक कमजोरी सिद्ध कर दी। ईरानियों के दिखाये रास्ते से यूनानी, बाख्त्री, शक, पह्लव आदि ने भारतवर्ष के इस भाग पर आक्रमण किया। दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि ईरानी आधिपत्य के समय बहुत-से ईरानी, तूरानी, यूनानी विदेशी लोग भारत के इस भाग में आ बसे और जनता में उनके रक्त का मिश्रण हुआ। इनमें से कुछ तो शुद्ध भारतीय हो गये। परन्तु इनमें से अधिकांश ऐसे थे जिनकी विदेशियों के साथ सहानुभूति रहती थी और विदेशी आक्रमण के समय ये देश के लिये संकट-रूप थे। लगभग एक सौ वर्ष के सम्पर्क के कारण भारत के इन प्रदेशों की लिपि, भाषा और कला पर भी ईरान का कुछ प्रभाव पड़ा। खरोष्ठी लिपि, जो अशोक के समय में भारत के पश्चिमोत्तर में प्रचलित थी और कुषणों के समय तक बनी रही, ईरानी सम्पर्क के ही कारण इस देश में आयी। इस भाग की भाषा पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट है। संभवत: स्थापत्य (भवन-निर्माण-कला) और वेश-भूषा पर भी ईरानी प्रभाव पड़ा।

## ५. यूनानी आक्रमण

नवीं शताब्दी ई० पू० के लगभग यूनान में सभ्यता का उदय हुआ। यूनान के पश्चिमोत्तर में सारा युरोप अभी अज्ञान और बर्बरता के अन्धकार में पड़ा हुआ था। यूनान को प्रकाश एशिया से मिलता था। इसलिये इसका सम्पर्क भी एशिया से ही था, युरोपीय देशों से नहीं। भारतवासी यूनान से परिचित थे और यूनानियों को यवन कहते थे। सातवीं और छठवीं शताब्दी ई० पू० में युनान की बड़ी

(१) यह लिपि दाहिने से बाँये लिखी जाती थी और सारे भारत में प्रचलित ब्राह्मी लिपि से भिन्न थी।

उन्नति हुई। यहाँ पर कई एक सभ्य और समुन्नत राज्यों की स्थापना हुई, जिनमें से अधिकांश गण-राज्य (नगर-राष्ट्र) थे। परन्तु चौथी शताब्दी ई० पू० में गण-राज्यों का ह्रास होने लगा। यूनान के उत्तर मकदूनिया में एक साम्राज्य का उदय हुआ। वहाँ के राजा फिलिप ने यूनान के सभ्य किन्तु छोटे और दुर्बल राज्यों को पराजित कर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

इस युग में यह प्रक्रिया भारतवर्ष में भी चल रही थी। मगध-साम्राज्य ने उत्तर भारत के छोटे-छोटे राजतंत्रों और गणतंत्रों को जीतकर आत्मसात कर लिया था परन्तु भारत का पश्चिमोत्तर (उत्तरापथ) अब भी कई एक छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। ईरानी आधिपत्य ने उनको और शिथिल और विश्रृंखलित कर दिया था। जब मकदूनिया में साम्राज्यवाद की आँधी उठी तो पहले यूनान के छोटे-छोटे गण-राष्ट्र नष्ट हुये, इसके पीछे ईरान का भीतर से खोखला साम्राज्य धराशायी हुआ और अन्त में उत्तरापथ को भी इसका झोंका सहना पड़ा।

(१) सिकन्दर की विजय—फिलिप के वीर और महत्वाकांक्षी बेटे सिकन्दर को इस बात का दुःख था कि उसके पिता ने सारा यूनान जीत लिया और उसके विजय के लिये कोई प्रदेश बचा नहीं था। असभ्य और आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुये युरोप के जीतने में न तो उसकी कोई रुचि थी और न लाभ। इसलिये उसकी दृष्टि पश्चिमी एशिया और मिश्र के सभ्य और समुन्नत प्रदेशों पर पड़ी। ईरानी साम्राज्य से वह परिचित था और उसके पूर्व में इण्डिया (भारतवर्ष) के बारे में भी सुन रखा था। अपने राज्यारोहण (३३४ ई० पू०) के बाद सिकन्दर ने अपना दिग्-विजय प्रारम्भ किया। मकदूनी और यूनानी सैनिकों की विशाल और संगठित सेना लेकर पहले उसने पश्चिमी एशिया और मिश्र को जीता। इसके पीछे उसने भीतर से दुर्बल ईरानी साम्राज्य पर आक्रमण किया। इस समय का ईरानी सम्राट् द्वितीय दारा हारकर हिन्दूकुश के उत्तर बलख में भाग गया। सिकन्दर ने उसकी राजधानी पार्सिपोलिस को जला दिया। ईरान को अपने अधीन करके सिकन्दर और आगे बढ़ा और बलख में भी ईरानी शक्ति को नष्ट कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया। इसके पश्चात् हिन्दूकुश के दक्षिण में उतर कर भारतवर्ष पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा।

## (२) सिकन्दर और भारत

(अ) सिकन्दर और सीमांत—भारत का पश्चिमोत्तर भाग कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, जिनमें आपस में वैमनस्य, कलह और संघर्ष चला करता था। इसलिये सिकन्दर को भारतीयों के संयुक्त और संगठित शक्ति का सामना नहीं करना पड़ा। इसके विपरीत कई एक नीच, स्वार्थी और देशद्रोही व्यक्तियों और राज्यों ने सिकन्दर को निमंत्रण दिया और देश का दरवाजा अपने हाथों उसके लिये खोल दिया। हिन्दूकुश के उत्तर शशिगुप्त नाम का एक भारतीय राजा था जो ईरानियों के साथ सिकन्दर के विरोध में लड़ा था, परन्तु हार जाने पर वह सिकन्दर का मित्र हो गया और उसने भारत के ऊपर आक्रमण करने में उसकी सहायता की। जब सिकन्दर देश के बाहर ही था तो तक्षशिला के राजकुमार आम्भि ने निमंत्रण भेजा और सहायता का आश्वासन दिया। इसी प्रकार पुष्करावती के सञ्जय, काबुल के कोफायस, अश्वजित आदि ने सिकन्दर का अयान मैत्री स्वीकार की और उसको सहायता दी। परन्तु सिकन्दर के लिये भारत में प्रवेश करना और तक्षशिला में आतिथ्य स्वीकार करना तब तक सम्भव नहीं था जबतक वह कपिशा और तक्षशिला के बीचकी स्वतंत्रताप्रिय वीर और लड़ाकू जातियों को जीत नहीं लेता। इन जातियों ने पग-पग पर सिकन्दर का सामना किया। पहले सिकन्दर को अश्वकों और गौरों का मुकाबला करना पड़ा। घोर लड़ाई के बाद ये जातियाँ हारीं। इसके आगे नीसा नाम की जाति मिली। पहले तो उसने सिकन्दर का विरोध किया, परन्तु बाद में कहला भेजा कि वह यूनानी जाति की है और सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। यहाँ से बढ़ने पर पूर्वी अश्वकों अथवा अश्वाहकों का प्रदेश मिला, जिनकी मसग नाम की दृढ़ राजधानी थी। यहाँ के वीर पुरुषों और स्त्रियों ने भीषण युद्ध किया और जब तक उनमें से एक भी जीता रहा, आत्मसमर्पण नहीं किया। पश्चिमी गांधार के राजा हस्ति ने एक महीने तक सिकन्दर को रोक रक्खा। सिकन्दर जीते हुये प्रदेशोंका शशिगुप्त को क्षत्रप (प्रांतीय शासक) बनाकर आगे बढ़ा और पूर्व गांधार के राजकुमार आम्भि की सहायता से सिन्धु पार कर तक्षशिला पहुँचा। यहाँ पर सिकन्दर और उसकी सेना का मांस, मदिरा आदि से बड़ा आगत-स्वागत हुआ। तक्षशिला के राजा

की सहायता से सिकन्दर ने पूर्वी प्रदेशों पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कर ली। तक्षशिला के राजा की पड़ोस के केकय-राज पुरु से राजनैतिक शत्रुता थी, अतः उसने पुरु के विरुद्ध सिकन्दर को खूब उभाड़ा।

(आ) सिकन्दर का पुरु के साथ युद्ध—तक्षशिला से सिकन्दर ने पुरु के पास दूत भेजा और कहलाया कि वह उसकी सेवा में उपस्थित होकर उसका आधिपत्य स्वीकार करले। पुरु ने उत्तर दिया कि वह युद्ध में उसके सामने उपस्थित होकर उसका स्वागत करेगा। युद्ध की आशंका तो थी ही। अभिसार के राजा ने पुरु से सहायक मैत्री कर ली। सिकन्दर की सेना अपने मित्रों के साथ झेलम नदी के पश्चिमी किनारे पर आ डटी। उसका सामना करने के लिये पुरु की सेना झेलम के पूर्वी तट पर इकट्ठी हुई। महीनों तक दोनों सेनायें झेलम के दोनों किनारों पर आमने-सामने पड़ी रहीं, किंतु आक्रमण करने के लिये सिकन्दर का साहस नहीं हुआ। एक दिन रात को आँधी और वर्षा के आवरण में सिकन्दर अपनी सेना बीस मील ऊपर ले गया और चुपके से सिन्धु पार कर गया। अब तो रणक्षेत्र में दोनों सेनायें एक दूसरे के पास आ गयीं। पुरु के पास हाथी, रथ और पैदल धनुष-बाण से लड़ने वालों की अपार सेना थी। खुले मैदान में जमकर उसका सामना करना सिकन्दर के लिए कठिन था। परंतु दुर्भाग्य से पानी और कीचड़ के कारण रथ बेकार हो गये थे और पैदल सैनिक भी गीली जमीन में भारी और लम्बे धनुषों पर बाण नहीं चला सकते थे। सिकन्दर के पास विशाल बल्लमधारी और धनुर्धर घुड़सवार सेना थी। यूनानी घुड़सवारों ने पुरु की सेना पर जोर से आक्रमण किया। दोपहर तक भारतीयों ने कड़ा मुकाबला किया और एक समय ऐसा मालूम पड़ता था कि यूनानी हार जायेंगे। इसी बीच में बाणों और भालों से घायल हाथियों ने पगला कर भारतीय सैनिकों को ही कुचलना शुरू किया और पुरु की सेना में भगदड़ मच गयी। परंतु पुरु ईरानी सम्राट द्वितीय दारा की तरह रणभूमि छोड़कर भागा नहीं। वह एक ऊंचे हाथी पर चढ़ा, लड़ता हुआ सेना का नेतृत्व कररहाथा। वह स्वयं घायल था, किन्तु उसने देशद्रोही आम्भि पर भाला चलाया। आम्भि संयोग से बच गया। सेना के तितर-बितर हो जाने पर पुरु

घिर गया और वन्दी के रूप में सिकन्दर के सामने खड़ा किया गया। सिकन्दर ने पूछा, "तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय?" पुरु ने गर्व से उत्तर दिया, "जैसा राजा लोग राजा के साथ करते हैं।" सिकन्दर ने ऐसे मानी पुरुष को अपनी तरफ मिलाने के लिये नीति से काम लिया। उसने पुरु को उसका राज्य लौटा दिया और सेना में ऊँचा पद दिया। इसके बाद पुरु सिकन्दर का मित्र हो गया और उसने दूसरे भारतीय राज्यों को जीतने में उसकी सहायता की।

(इ) सिकन्दर और उतरी-पूर्वी पंजाब—पुरु को पराम्त करने के बाद सिकन्दर ने दो नगरों की स्थापना की। जहाँ उसका अत्यन्त प्रिय घोड़ा बाउकेफला मरा था, वहाँ उसके नाम का नगर बसाया। अपने विजय के उपलक्ष में दूसरा नगर विजय-स्थल पर निकाया (=विजयदेवी) नाम का बसाया। इसके पश्चात् वह आगे बढ़ा। छोटे पुरु (बड़े पुरु का भतीजा) ने, संभवतः अपने चचा के प्रभाव से, बिना युद्ध के ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। परंतु ग्लुचुकायन, अद्रिज और कठ नाम की गणतंत्री जातियों ने सिकन्दर का घोर विरोध किया। पहले सिकंदर ने ग्लुचुकायनों के ३७ नगरों को जीता, उसके बाद अद्रिजों की राजधानी पिम्प्रामा को अपने अधीन किया। सबसे कठिन सामना उसको कठों से करना पड़ा। कठों ने अपनी राजधानी सांकल के चारों ओर रथों का घेरा बना लिया था, जिसको तोड़ना सिकंदर के लिये असम्भव हो रहा था। इसी समय बड़ा पुरु अपनी सेना लिये सिकंदर की सहायता के लिये आ पहुँचा। सिकंदर ने सांकल जीतकर उसे ध्वस्त कर दिया।

(ई) व्यास नदी से सिकन्दर का लौटना और इसके कारण—कठों को जीतने के बाद सिकन्दर व्यास नदी के किनारे पहुँचा। यहाँ पर उसकी सेना ने आगे जाने से इनकार कर दिया। सिकन्दर ने सेना को बहुत समझाया और उसके सामने गर्व, आत्म-सम्मान और विजय के प्रलोभन से भरा हुआ ओजस्वी भाषण दिया, किंतु इसका कुछ भी प्रभाव न हुआ। लज्जा के मारे वह तीन दिन तक अपने शिविर में पड़ा रहा और हताश होकर लौटने का निश्चय किया। यह प्रश्न होता है कि सिकन्दर की विश्वविजयिनी सेना ने आगे बढ़ने से क्यों इनकार

कर दिया। यह तो साफ है कि सिकन्दर के नेतृत्व में सेना को पूरा विश्वास था और उसी के इशारे पर वह यूनान से चलकर इतनी दूर बढ़ आयी थी। अतः सिकन्दर से असंतोष की कोई बात नहीं उठती। अवश्य ही कुछ गम्भीर कारण रहे होंगे, जिनसे सेना के पाँव आगे नहीं उठ रहे थे। इन कारणों को नीचे लिखे प्रकार से रखा जा सकता है :

(क) सेना को हतोत्साह करने वाला पहला कारण भारतवर्ष में उसका सैनिक अनुभव था। पश्चिमी एशिया, मिश्र, ईरान और बलख को उसने बड़ी आसानी से जीता था। परन्तु भारतवर्ष में उसे पग-पग पर आगे बढ़ने में घोर युद्ध करना पड़ा। अश्वकों का विरोध उसे याद था। एक मशहान तो केवल हस्ति ने रोक रखा था। पुरु के घोर युद्ध ने उसके हृदय को दहला दिया था और कठों ने उसके छक्के छुड़ा दिये थे। इसलिये सुदूर देश में इस प्रकार के युद्धों के लिये सेना की शक्ति और उत्साह शिथिल हो गये थे।

(ख) सिकन्दर के लौटने का दूसरा कारण राजनैतिक था। पीछे के जीते हुये प्रदेशों में विद्रोह हो रहे थे। सिन्धु नदी के पश्चिम में उसका क्षत्रप निकेनोर मार डाला गया और शशिगुप्त को भी देश-द्रोह का बदला मृत्यु रूप में मिला। व्यास के ठीक पूर्व में कठों के समान ही स्वतंत्रताप्रिय और लड़ाकू गण-राज्य अभी पंजाब में थे और पास में ही प्रबल वाहीक जाति थी। इस सबके पूर्व में नन्दों का विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य था। नन्दों की शक्ति का वर्णन सुनकर यूनानियों का साहस जाता रहा।

(ग) ठंडे देश से आने वाले यूनानियों के लिये पंजाब का जलवायु—यहाँ की गर्मी भीषण और बरसात-भयानक थी। बहुत से यूनानी सैनिक बीमारी से मर गये थे और बहुत से बीमार थे। इस परिस्थिति में ठहरना उनके लिये कठिन हो रहा था।

(घ) यूनानी सैनिक बहुत दिनों से बाहर थे और अपने देश लौट जाने के लिये विकल हो रहे थे। उनके बहुत से साथी रणभूमि में काम आये थे और अपने घरवालों के बारे में उनको वर्षों से कोई समाचार नहीं मिल रहा था। उनके पास के सामान धीरे-धीरे खतम हो रहे थे और दूरी और रास्ते की कठिनाई से यूनान से आवश्यक

सामान पहुँच भी नहीं रहे थे। इस दशा में सैनिक चाहते थे कि जहाँ तक शीघ्र हो सके वे यूनान वापस पहुँच जायें।

(उ) सिकन्दर की वापसी यात्रा और सिन्ध के राज्यों से युद्ध—व्यास के किनारे से सिकन्दर सीधे सुरक्षित रास्ते से झेलम लौटा जहाँ पर उसके अधीन मित्र पोरस (पुरु) का राज्य था। यहाँ पर उसने अपने जीते प्रदेशों का प्रबन्ध किया और यात्रा की तैयारी कर नावों के बेड़े से झेलम नदी से दक्षिण की ओर प्रस्थान किया।

(क) सौभूति का पराजय—सब से पहले झेलम की घाटी में नमक के खानों के प्रदेश में सिकन्दर को सौभूति राजा का सामना करना पड़ा। सौभूति के राज्य के निवासी कठों के ही समान सुन्दर, साहसी, रणकुशल और विद्याप्रेमी भी थे। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि वे सिकन्दर के सामने बहुत जल्द झुक गये। यहाँ से चलकर सिकन्दर झेलम और चिनाव के संगम के पास पहुँचा।

(ख) शिवि और अगलस्स के साथ युद्ध—शिवि लोगों ने ४०००० पैदल सेना के साथ सिकन्दर का विरोध किया, परन्तु वे यूनानी सेना के सामने न ठहर सके। अगलस्स जाति के लोग शिवियों से अधिक साधन-सम्पन्न और लड़ाकू थे। उनके पास ४०००० पैदल और ३००० घुड़सवार थे। उन्होंने अपने राज्य की रक्षा के लिये बड़ी वीरता से युद्ध किया और सिकंदर को बहुत हानि उठानी पड़ी। जब उनको मालूम हुआ कि वे यूनानी सेना के सामने ठहर न सकेंगे तो उन्होंने नगर में आग लगा दी, स्त्रियों और बच्चों को आग में झोंक दिया और आप लड़ते-लड़ते मर गये।

(घ) मालव-क्षुद्रक गण-सघ का भीषण युद्ध—चिनाव से और नीचे उतरने पर रावी के दोनों किनारों पर मालवों का गण-राज्य था। वे सिकंदर का रास्ता रोकने की तैयारी कर रहे थे। उनके पड़ोसी क्षुद्रकों का गण-राज्य पूर्व में व्यास के तट पर था। दोनों गणतंत्रों का सैनिक संघ एक योग्य और अनुभवी क्षुद्रक के नेतृत्व में बना। परंतु इसके पहले कि दोनों गणों की सेनायें मिलकर सिकंदर का संयुक्त विरोध करतीं यूनानियों ने शीघ्रता से आगे बढ़कर मालव-राज्य पर

आक्रमण कर दिया। मालवों के बहुत से किसान और गृहस्थ अपने खेतों और घरों में मार डाले गये। यह होते हुए भी मालवों ने सिकंदर का कड़ा सामना किया। सिकंदर इस युद्ध में बुरी तरह से घायल हुआ और मरते-मरते बचा। इस पर क्रुद्ध होकर यूनानी सैनिकों ने बड़ा अत्याचार किया और मालवों की स्त्रियों और बच्चों तक को मार डाला। अकेले लड़कर मालव हार गये। उनकी हार से क्षुद्रक भी निराश हो गये और सिकंदर से संधि की बातचीत करने लगे। संघ भंग कर दिया गया। दोनों गणों के प्रतिनिधि सिकंदर के पास संधि का प्रस्ताव लेकर गये। सिकंदर ने उनको अधीन राज्य मान लिया और उनके ऊपर फिलिपॉस को क्षत्रप नियुक्त कर आगे बढ़ा।

(घ) दक्षिणी-पश्चिमी पंजाब के संघ—अम्बष्ठ, क्षत्र और वसाति नाम के छोटे-छोटे संघ इस भाग में थे। अम्बष्ठ मालवों के समान ही वीर थे। ६०००० पैदल, ६००० घुड़सवार और ५०० रथों को लेकर उन्होंने सिकंदर को रोका, परन्तु वे भी लड़ कर हार गये। क्षत्र और वसाति गणों की भी यही गति हुई।

(ङ) सिन्ध के राज्यों पर विजय पंजाब के पश्चिम-दक्षिण सिन्धु के सहारे नीचे उतरने पर मुषिक और शम्भु जनपदों ने सिकंदर की अधीनता बड़ी आसानी से स्वीकार कर ली। पर ब्राह्मणक-जनपद में उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ब्राह्मणों ने न केवल स्वयं सिकंदर का घोर विरोध किया, किंतु उन राज्यों की निंदा की और उनको भड़काया, जिन्होंने विदेशी यवनों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। उन्होंने बहुत से राज्यों में यूनानियों के प्रति विद्रोह करा दिया। इसलिए सिकंदर उन पर बहुत क्रुद्ध हुआ और बड़ी निर्दयता के साथ उन पर आक्रमण किया। ब्राह्मणक-जनपद के निवासियों में से अधिकांश को उसने मरवा डाला और उनके नेताओं की लाश आतंक फैलाने के लिये सड़कों पर लटका दी।

ब्राह्मणक-जनपद के दबाने के बाद सिकंदर उस स्थान पर पहुँचा जहाँ सिंधु दो धाराओं में बँट जाती है और पट्टल, पातन अथवा पातानप्रस्थ नगर जहाँ स्थित था। इस समय हैदराबाद का नगर इसी स्थान पर बसा हुआ है। यहाँ का राजनैतिक विधान स्पार्टा से मिलता जुलता था। युद्ध के समय सेना का नेतृत्व दो वंशगत राजाओं के हाथ

में होता था और राज्य के ऊपर राष्ट्र-वृद्धों की परिषद शासन करती थी, यहाँ के निवासी सिकंदर की अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, अतः वे अपना नगर छोड़कर भाग गये।

(ऊ) सिकन्दर का भारत से प्रस्थान और उसकी मृत्यु—सिंधु के मुहाने पर पहुँच कर ३२५ ई०पू० सितम्बर में सिकन्दर ने अपनी जन्मभूमि की ओर प्रस्थान किया। अपनी सेना को उसने दो भागों में बाँट दिया। निआर्कस के नेतृत्व में एक भाग समुद्र-मार्ग से पश्चिम की ओर चला। दूसरा भाग स्थल-मार्ग से मकरान के रास्ते बैबिलॉन की तरफ चला। रास्ते में रेगिस्तान की कठिनाइयों को झेलते हुये सिकंदर बैबिलॉन पहुँचा। यहाँ पर बड़ा विजयोत्सव मनाया गया। सिकंदर युद्ध के घावों से घायल और रास्ते के कठिन श्रम से थका हुआ था। उसे भीषण ज्वर आया। उसके जीवन में संयम नहीं था, अतः ज्वर में भी शराब पीता गया। इसका कुफल यह हुआ कि ३२ वर्ष की युवावस्था में ही युरोप और एशिया में आतंक फैलानेवाला, भौतिक शक्ति और दर्प का पुतला सिकंदर यूनान पहुँचने के पहले ही ३२५ ई० पू० इस स्थान पर संसार से चल बसा।

(३) भारत में सिकन्दर का शासन प्रबन्ध—सिकन्दर चाहता था कि वह भारत में अपने जीते हुये प्रान्तों को स्थायी रूप से अपने साम्राज्य में मिला ले और उसका उचित प्रबन्ध करे। परन्तु यहाँ पर उन्नीस महीनों के समय में उसको प्रायः बराबर युद्ध ही करना पड़ा और शासन-व्यवस्था पर पूरा ध्यान न दे सका। फिर भी अपने विजित प्रदेशों को सुरक्षित रखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। विजित प्रदेशों को कई प्रान्तों में बाँटा और उनके ऊपर क्षत्रप (=प्रांतीय शासक) नियुक्त किया। सिन्धु के पश्चिमोत्तर के प्रांत पर फिलिप, सिन्धु और झेलम के बीच में आम्भि, झेलम के पूर्व के प्रदेशों पर पुरु (पोरस) और पीथॉन को सिन्धु के ऊपर शासक बनाया। इसके अतिरिक्त क्षत्रपों की सहायता और उन पर नियंत्रण रखने के लिए कई यूनानी स्कन्धावार (फौजी छावनी) और उपनिवेश बसाये। सिन्धु के मुहाने पर एक बन्दरगाह बनवाया और आने जाने के रास्तों को साफ और सुरक्षित रखा। परन्तु यह सारा प्रबन्ध जल्दी में किया गया और

इसको पुष्ट करने का अवसर न मिला। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् शासन की इमारत गिर पड़ी।

(४) सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर प्रभाव—कई एक युरोपीय विद्वान सिकन्दर के आक्रमण को भारतवर्ष के इतिहास में बहुत बड़ी घटना समझते हैं और उनके विचार में भारतीय जीवन उससे बहुत प्रभावित हुआ, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। भारतीयों की दृष्टि में यह घटना बिल्कुल नगण्य थी, जो आँधी की तरह आयी और चली गयी। इसका क्षेत्र भी सीमित था। केवल भारत का पश्चिमोत्तर छोर इससे स्पृष्ट हुआ, उसका हृदय अछूता रहा। इस कारण से किसी भी भारतीय साहित्य में इसकी चर्चा नहीं मिलती। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्थायी प्रभाव भारतवर्ष पर अवश्य पड़ा।

(क) राजनैतिक प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप सीमान्त, पश्चिमी पंजाब और सिन्धु के ऊपर अस्थायी रूप से यूनानी सत्ता स्थापित हुई और शासन की क्षत्रपीय व्यवस्था चलायी गयी। परन्तु यूनानी सत्ता सिकन्दर की मृत्यु के बाद नष्ट हो गयी और उसकी शासन-व्यवस्था का भी उसके परवर्ती मौर्य शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सिकन्दर ने कई एक स्कन्धावार, उपनिवेश और नगर बसाये। इनमें से नगरों द्वारा यूनानी जीवन का क्षीण प्रभाव थोड़े दायरे में कुछ समय तक पड़ता रहा। सिकन्दर के आक्रमण ने उत्तरापथ की राजनैतिक और सैनिक कमजोरी को प्रकट कर दिया। कई भागों में विभक्त देश के छोटे-छोटे राज्य किस प्रकार संगठित विदेशी आक्रमण के सामने धराशायी हो जाते हैं, यह बात स्पष्ट हो गयी। साथ ही भारतीय सैन्य-रचना और युद्ध-पद्धति की दुर्बलता भी सिद्ध हो गयी। यूनानी आक्रमण ने अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय एकता और सैनिक जागरूकता की प्रवृति को प्रोत्साहन दिया।

(ख) यातायात और वाणिज्य—वैसे तो यूनान और भारत पहले से ही एक दूसरे से परिचित थे और समुद्रतट और स्थल मार्ग से व्यापारी और यात्री आते जाते भी थे। परन्तु यूनानियों के भारत में अधिक संख्या में आने और पश्चिमी और मध्य एशिया में यूनानी साम्राज्य के स्थापित होने से आवागमन और व्यापार को और अधिक

प्रोत्साहन मिला। भारतवर्ष में यूनानी उल्लू-शैली और चाँदी के द्रम्म (=द्राम) सिक्कों का प्रचार हुआ। पंजाब में पुरु के ऊपर सिकन्दर के विजय के स्मारक रूप के भी सिक्के चले। इस प्रकार का एक सिक्का मिला है, जिसके एक तरफ सिकन्दर की मूर्ति और दूसरी तरफ भागते हुये हाथी पर पुरु और उसका पीछा करते हुये घुड़ सवार की मूर्ति अंकित है।

(ग) भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर सिकन्दर के आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसका पहला कारण यह है कि सिकन्दर और उसके क्षत्रप बहुत थोड़े दिनों तक यहाँ रहे और जनता से घनिष्ठ सम्बंध नहीं स्थापित कर सके। उनके प्रति घृणा और आतंक के भाव ही प्रबल रहे, निकटता से उत्पन्न प्रेम और अनुकरण के भाव उत्पन्न नहीं हुये। दूसरा कारण यह था कि भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति पहले से काफी विकसित थी: साहित्य, दर्शन, कला धर्म आदि में वह विदेशियों की अपेक्षा नहीं रखता था। सम्भवतः भारतीय दर्शन और धर्म का प्रभाव यूनान के ऊपर पड़ा। यूनानी दार्शनिक पैथागोरस के आत्मा, पुनर्जन्म आदि के सिद्धांत पर भारत की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

# ग्यारहवाँ अध्याय

## मगध साम्राज्य का उत्कर्ष

### अ. मौर्य-वंश की स्थापना और विकास—दिग्विजय-काल :

#### १. चन्द्रगुप्त

(१) चाणक्य और चन्द्रगुप्त—जिन दो व्यक्तियों ने नन्द-वंश को समूल उखाड़ने और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना में नेतृत्व किया था वे थे चाणक्य और चन्द्रगुप्त। चाणक्य तक्षशिला के पास का रहने वाला एक ब्राह्मण था। उसका वास्तविक नाम था विष्णुगुप्त, स्थानीय नाम चाणक्य (चणक नामक गाँव के ऊपर) और गोत्रनाम कौटिल्य (कुटिल से) था। वह राजनीति में पारंगत था। वह उत्तरापथ की राजनैतिक कमजोरी को समझता था और संभव बाहरी आक्रमणों से आशंकित था। वह चाहता था कि देश को दुर्बल बनानेवाले छोटे-छोटे राज्यों को तोड़ कर एक अच्छी तरह से संगठित और केन्द्रित साम्राज्य की स्थापना की जाय। भारत के उत्तर-पूर्व में नन्दों ने एक साम्राज्य की स्थापना की थी, परन्तु उत्तरापथ से वे उदासीन थे। नन्दों से उसने आर्थिक सहायता माँगी, परन्तु इसके बदले में उसको तिरस्कार मिला। चाणक्य नन्दों की नीच उत्पत्ति, निरंकुश शासन, लोभी अर्थ-नीति और परम्परा-विरोधी आचार से भी असन्तुष्ट था। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक योग्य व्यक्ति की खोज में था और वह व्यक्ति उसको चन्द्रगुप्त मौर्य मिला।

(२) चन्द्रगुप्त का वंश-परिचय—चन्द्रगुप्त क्षत्रियों के मोरिय अथवा मौर्यवंश में उत्पन्न हुआ था। मौर्यों का राज्य कोलियों के रामजनपद (वर्तमान गोरखपुर के आसपास) और मल्लों की राजधानी कुशीनगर के बीच में था। उनकी शासन-व्यवस्था गण-तांत्रिक थी। महा-वंश, दिव्यावदान, महापरिनिर्वाणसुत्तान्त, बोधिवंश और विष्णुपुराण

में मौर्यों को क्षत्रिय ही माना गया है। बहुत से मध्यकालीन उत्कीर्ण लेखों में भी मौर्यों को सूर्यवंशी क्षत्रिय बतलाया गया है। मौर्यलोग राजनैतिक और सामाजिक मामलों में सुधारवादी थे और प्राचीन परम्परा और रूढ़ियों का पालन नहीं करते थे। पीछे से इन लोगों ने बौद्ध धर्म भी स्वीकार कर लिया। इसलिये परम्परावादी लेखक मौर्यों को व्रात्य ( वैदिक धर्म से पतित ) और वृषल अथवा शूद्र कहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि चंद्रगुप्त की शूद्रा माता से उसके उत्पन्न होने के सम्बन्ध में बहुत सी कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं जो बिल्कुल कल्पित हैं। मुरा नामक शूद्रा माता से उत्पन्न होने की कथा इतिहास-विरुद्ध है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार भी मुरा से उत्पन्न की संज्ञा मौरेय होगी, मौर्य नहीं।

(३) चन्द्रगुप्त का नन्दों से वैर और चाणक्य से मैत्री—चंद्रगुप्त का पिता नन्दों की सेना में एक अधिकारी था, जो किसी कारण से नन्दों द्वारा मार डाला गया। चंद्रगुप्त भी पीछे नंदों का सेनापति हुआ, किंतु इनसे भी नंदों की न पटी। इसलिये चंद्रगुप्त ने नंदों की नौकरी छोड़ दी औ नंद-वंश के विनाश का साधन एकत्रित करने लगा। वह बड़ा ही प्रतिभाशाली और मनस्वी नवयुवक था। उसने दृढ़ संकल्प के साथ काम शुरू कर दिया। चाणक्य को ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकता थी। जब वह उत्तर भारत में घूम रहा था तो चंद्रगुप्त से उसकी भेंट हुई। दोनों के उद्देश्य एक थे—नंद-वंश का विनाश। चंद्रगुप्त गण-तंत्र में उत्पन्न हुआ था, परन्तु नंदों की सैनिक शक्ति के सामने छोटे-छोटे राज्यों को नष्ट होते देखा था और एक केन्द्रित साम्राज्य की शक्ति और महत्ता उसकी समझ में आ गयी थी। इस प्रकार चाणक्य और चंद्रगुप्त दोनों नंद-वंश के विनाश और एक विशाल केन्द्रित साम्राज्य की स्थापना में प्रवृत्त हुये।

(४) नन्द-साम्राज्य पर पहला आक्रमण—चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने मिल कर विन्ध्य-मेखला के पास बहुत सा द्रव्य एकत्रित किया और एक बड़ी भृतक (भाड़े की) सेना तैयार की। इसको लेकर उन्होंने नन्दसाम्राज्य के केन्द्र मगध पर आक्रमण कर दिया। परन्तु नन्दों की शक्ति अभी बड़ी प्रबल थी और उनको जन-धन की हानि के साथ हार खानी पड़ी। वे अपनी जान लेकर भागे और गुप्त वेश में इधर उधर घूमने

लगे। नन्द-राजा धननन्द ने उनके प्राण-दण्ड की घोषणा की। चाणक्य और चन्द्रगुप्त को घूमते और ठोकर खाते इस बात का अनुभव हुआ कि नंद-साम्राज्य के केन्द्र पर आक्रमण करके उन्होंने एक बड़ी राजनैतिक और सैनिक भूल की थी। साम्राज्य की शक्ति केन्द्र के पास प्रबल होती है। वहाँ पर उसका सामना करना और उसको हराना कठिन होता है। इसके विपरीत साम्राज्य की सीमा और उसके बाहर के प्रदेशों में साम्राज्य के प्रति असंतोष होता है और साम्राज्य की शक्ति वहाँ दुर्बल होती है। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि साम्राज्य के बाहर कहीं सैनिक आधार बना कर वहाँ से साम्राज्य के सीमांत पर आक्रमण शुरू करना चाहिये। इस विचार से चाणक्य चंद्रगुप्त को लेकर उत्तरापथ चला गया और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैयारी करने लगा। चाणक्य उत्तरापथ की परिस्थिति से परिचित था और वहाँ पर उसको अपने आक्रमण का आधार बनाना सरल था।

(५) उत्तरापथ में युद्ध की तैयारी—जब चाणक्य और चंद्रगुप्त उत्तरापथ में पहुँचे, उस समय सिकंदर पंजाब के राज्यों पर आक्रमण कर रहा था। उनमें यह शक्ति तो नहीं थी कि वे सिकंदर का विरोध करते, परंतु नंद-साम्राज्य के विरोध में सिकंदर का उपयोग करना चाहते थे। उनका यह ख्याल था कि सिकंदर नंद-साम्राज्य को तोड़ कर यहाँ से चला जायगा और उससे उत्पन्न राजनैतिक अव्यवस्था से लाभ उठा कर वे मगध का साम्राज्य अपने हाथ में कर लेंगे। इसी उद्देश्य से चंद्रगुप्त सिकंदर से मिला। इस मिलन के सम्बंध में यूनानी लेखकों ने कई कहानियाँ लिखी हैं। इस काम में चन्द्रगुप्त सफल नहीं हुआ। उसकी स्पष्ट और गर्वित बातचीत से सिकन्दर अप्रसन्न हो गया और उसके वध की आज्ञा की। परन्तु चन्द्रगुप्त भाग निकला और यूनानियों के हाथ न लगा। भारत से सिकन्दर के लौट जाने के बाद उत्तरापथ की स्थिति चन्द्रगुप्त के अनुकूल हो गयी। यूनानियों से द्वेष और घृणा तो जनता में थी ही। सिकन्दर के वापस जाने पर यूनानी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गया। विद्रोहाग्नि को प्रज्वलित करने में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का बहुत बड़ा हाथ था। यूनानी लेखक इस बातको मानते है कि चन्द्रगुप्त ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया और यूनानियों को भारत से निकाल कर दम लिया और उनके बहुत बड़े

भाग पर आधिपत्य भी स्थापित किया। किंतु उसके उद्देश्य की पूर्ति इससे नहीं होती थी। वह तो नन्द-साम्राज्य को आत्मसात् कर बृहत् साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। इसकी सिद्धि के लिए चाणक्य की सहायता से उसने काश्मीर की पहाड़ियों के राजा पर्वतक से संधि की और उस की संयुक्त शक्ति से नंद-साम्राज्य पर आक्रमण की तैयारी करने लगा। एक विशाल सेना संगठित की गयी जिसमें पंजाबी सैनिकों के अतिरिक्त गांधार, कम्बोज, किरात और भाड़े के पारसीक, शक और यवन आदि भी शामिल थे। अब पंजाब को अपना आधार बनाकर नंद-साम्राज्य पर आक्रमण करने में चाणक्य और चंद्रगुप्त समर्थ थे।

(६) मगध-साम्राज्य पर आक्रमण और नन्दवंश का अंत—पंजाब से समुद्र के समान उमड़ती हुई सेना लेकर अपने पथप्रदर्शक चाणक्य और मित्र पर्वतक के साथ चंद्रगुप्त ने मगध-साम्राज्य पर उसके पश्चिमी सीमांत के ओर से आक्रमण कर दिया। मध्यदेश में घोर युद्ध हुआ। पंजाब से पाटलिपुत्र पहुँचने में चंद्रगुप्त को पूरे दो वर्ष लग गये। इसके बाद पाटलिपुत्र का घेरा हुआ। धननंद अपने वंशवालों के साथ मारा गया और चाणक्य ने चंद्रगुप्त को मगध के राज-सिंहासन पर बैठाया। यह घटना ३२१ ई० पू० में हुई। परंतु इसके बाद दूसरी समस्या खड़ी हो गयी। मुद्राराक्षस के अनुसार पर्वतक मगध-विजय के बाद विजय का आधा भाग अपने लिए माँगने लगा। चाणक्य ने इस परिस्थिति को संभाला। उसने कूटनीति से पर्वतक और उसके पुत्र मलयकेतु को चंद्रगुप्त के मार्ग से हटाकर उसका सम्राटपद निष्कंटक कर दिया।

(७) चन्द्रगुप्त की विजय और साम्राज्य-निर्माण—नन्द साम्राज्य को जीत लेने से ही चंद्रगुप्त को सन्तोष न हुआ। पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठने के बाद उसने पहले सम्पूर्ण आर्यावर्त (उत्तर भारत) का विजय किया, जिसमें सुदूर पश्चिम और पूर्व के प्रान्त भी शामिल थे। पश्चिम अपरान्त (छोरका प्रदेश) में सुराष्ट्र प्रान्तके चन्द्रगुप्तके साम्राज्य में सम्मिलित होने का प्रमाण रुद्रदामनके गिरिनार शिला-लेखमें मिलता है। इसमें लिखा है कि चन्द्रगुप्त का राष्ट्रिय (प्रांतीय शासक) पुष्यगुप्त सुराष्ट्र पर शासन करता था, और उसने सुदर्शन नाम का झील बनवाया था।

विन्ध्य के दक्षिण के कुछ प्रदेश भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में आ गये थे। इसके प्रमाण जैन और तामिल साहित्य में मिलते हैं। तामिल साहित्य में कई स्थलों पर इस बात की चर्चा है कि मौर्यों के रथ तिनेवली जिले की पोदिगिल पहाड़ियों तक पहुँच गये थे। इस प्रकार चन्द्रगुप्त का साम्राज्य और आधिपत्य कुछ प्रान्तों को छोड़कर प्रायः सारे भारत पर स्थापित हो गया। यूनानी लेखक प्लूटार्क और जस्टिन ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि चन्द्रगुप्त ने ६ लाख सैनिकों को लेकर सारे भारत को आक्रांत कर लिया। महावंश में तो चंद्रगुप्त को सारे जम्बूद्वीप ( =भारतवर्ष ) का सम्राट कहा गया है।

(८) चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस—पश्चिमोत्तर में सिंधु के उस पार भी चंद्रगुप्त के समय में मौर्य साम्राज्य का विस्तार हुआ। सिकंदर के सेनापति सेल्यूकस निकेटर ने, जो सिकंदर के मरने के बाद उसके साम्राज्य के पूर्वी भाग का अधिकारी हुआ था, ३०५ ई० पू० में भारतवर्ष के ऊपर आक्रमण किया। वह चाहता था कि सिकन्दर के भारत के भीतर जीते प्रदेशों को फिर वापस कर ले। किंतु इस समय भारत की स्थिति सिकंदर के आक्रमण के पूर्व की स्थिति से भिन्न थी। इस समय उत्तरापथ छिन्न-भिन्न न हो कर एक संगठित और केन्द्रित साम्राज्य के अंतर्गत था, जिसकी बागडोर चंद्रगुप्त जैसे शासक के हाथ में थी। देश की पश्चिमोत्तर सीमा अच्छी तरह सुरक्षित थी। चंद्रगुप्त की सेना ने सिंधु के उस पार यूनानियों को रोका। इस सेना में रथ और हाथी भी थे जो सिकंदर के सामने पुरु की हार के कारण माने जाते हैं। परंतु चंद्रगुप्त की सेना स्थायी, नियमित अभ्यास करने वाली और विशाल साम्राज्य के निर्माण में नित्यशः युद्ध का अनुभव रखने वाली थी। दूसरे पश्चिमोत्तर भारत में शशिगुप्त और आम्भि के समान विदेशी शत्रुओं का कोई साथ देने वाला नहीं था। इस परिस्थिति में बिना किसी लम्बे युद्ध के ही सेल्यूकस को हार माननी पड़ी और वह संधि करने को विवश हुआ। इस संधि की चार शर्तें थीं—(१) सेल्यूकस को वर्तमान अफगानिस्तान और बलोचिस्तान का सारा प्रदेश जो खैबर दर्रे से हिंदूकुश तक फैला हुआ था, चंद्रगुप्त को देना पड़ा, (२) कन्योपायन अर्थात् विजयी को

कन्या देना: इसके अनुसार सेल्यूकसने अपनी राजकुमारी चंद्रगुप्तको व्याह दी,(३) उपहार में चंद्रगुप्त ने ५०० हाथी सेल्यूकस को दिये और (४) दूत-विनिमय: यूनानी राजदूत मेगस्थनीज पाटलिपुत्र में आया। इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि चंद्रगुप्त के समय में भारतीय साम्राज्य की वैज्ञानिक सीमा पश्चिमोत्तर में हिन्दूकुश तक पहुँच गयी। यह वही सीमा थी जिसके लिये मुगलों और अंग्रेजों ने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु पा न सके।

(९) साम्राज्य का विस्तार और स्वरूप—चंद्रगुप्त के समय में मौर्य-साम्राज्य की सीमा पश्चिमोत्तर में हिंदूकुश से दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी और सीधे उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक थी। परंतु इसमें काश्मीर, कलिंग और दक्षिण के कुछ भाग शामिल न थे। कृष्णा के दक्षिण का प्रदेश इसके बाहर था। चंद्रगुप्त ने जिन राज्यों को जीता उनको केवल अधीन न किया,अपितु अधिकांश में वहाँ के राजवंश को हटाकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। इसलिये उसका साम्राज्य बहुत कुछ केन्द्रित था। केन्द्रसे नियुक्त शासक प्रांतों पर शासन करते थे। साम्राज्य के कुछ ऐसे भाग थे जिन्हें आंतरिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। इनमें कुछ जीते हुये गणतंत्र जैसे लिच्छवि, वृज्जि, मल्ल, मद्र आदि थे। पश्चिमोत्तर में यवन, काम्बोज को भी भीतरी स्वतंत्रता मिली थी। इसी प्रकार साम्राज्य में दक्षिण-पश्चिम सुराष्ट्र तथा महाराष्ट्र और विंध्य के आस-पास की जंगली और पर्वतीय जातियों को भी अपने आंतरिक शासन की स्वतंत्रता प्राप्त थी।

(१०) शासन-प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त केवल एक महान् विजेता ही नहीं था अपितु योग्य शासक भी था। उसने अपने विशाल साम्राज्यको सुव्यवस्थित शासन से दृढ़ किया। इस काम में उसको अपने गुरु और मित्र और आगे अपने प्रधान मंत्री चाणक्य से बड़ी सहायता मिली। चाणक्य राजनीति का आचार्य था। उसने मौर्य-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था चलाने के लिए 'अर्थशास्त्र' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा जिससे मौर्य शासन के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री मिलती है। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी चन्द्रगुप्तके शासन का वर्णन अपने 'इंडिका' नामक ग्रंथ में किया था। कुछ यूनानी लेखकों ने इस बात की शिका-

यत की है कि चन्द्रगुप्त ने भारतीयों को यूनानी सत्ता से मुक्त करके उनके ऊपर अपने निरंकुश और निर्दय शासन का जुआ लाद दिया। परन्तु ये उल्लेख यहाँ से बाहर ढकेले हुये विदेशियों के असंतोष और निराशा को ही प्रकट करते हैं।

**(क) केन्द्रीय शासन**—एकतांत्रिक राज्य की व्यवस्था के अनुसार राज्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी राजा था। सिद्धांत रूप में राज्य की सारी शक्ति उसके हाथ में केन्द्रित थी, यद्यपि व्यवहार में कई प्रतिबंधों के कारण उसकी शक्ति और निरंकुशता सीमित थी। उसके मुख्य तीन कर्तव्य थे—(१) शासन सम्बन्धी (२) न्याय सम्बन्धी और (३) सैनिक। शासक की हैसियत से वह राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति करना, अर्थविभाग के कागज पत्र को देखता, विदेशी राजदूतों से बात चीत करता और अपने राजदूत बाहर भेजना, गुप्तचरों द्वारा राज्य के सम्बंध में विवरण सुनता और प्रजा तथा राजपुरुषों के पास शासन अथवा आज्ञा-पत्र भेजता था। न्यायाधीश की हैसियत से वह अपनी राजसभा में नीचे के न्यायालयों से अपील सुनता, प्रजा के सीधे आवेदन-पत्र भी लेता और उनके अभियोगों पर अपना निर्णय देता। सैनिक कर्तव्य के पालन में युद्ध के समय वह स्वयं सेना का नेतृत्व करता और शांति के समय सैन्य-संगठन और साम्राज्य-रक्षा की व्यवस्था करता।

**मंत्रि-परिषद्**—राज्य के विधान के अनुसार राजा की सहायता के लिए मंत्रि परिषद् (मंत्रियों की सभा) थी। इसमें बारह से लेकर बीस तक अथवा आवश्यकतानुसार कम या अधिक मंत्री होते थे। मंत्रि-परिषद् का अधिकार बहुत कुछ मंत्रात्मक (सलाह देने का) था। फिर भी राजा प्रायः उसके निश्चय को मानता था, यद्यपि उसको मंत्रि परिषद् के ऊपर विशेषाधिकार प्राप्त था। परिषद् के कार्य ये थे—(१) राज्य का जो काम प्रारम्भ न हुआ हो उसको शुरू करना (२) जो प्रारम्भ हो गया हो उसको पूरा करना (३) जो पूरा हो गया हो उसमें वृद्धि करना और (४) सब कामों की सिद्धि के लिये साधन जुटाना और उसका उपयोग करना।

**केन्द्रीय शासन का संगठन**—शासन की सुविधा के लिये केन्द्रीय शासन कई विभागों में बंटा हुआ था, जिनको तीर्थ कहते थे।

प्रत्येक विभाग के संचालन और निरीक्षण के लिये उसका एक अध्यक्ष होता था, जिसे अमात्य कहते थे। अमात्यों के नीचे कई एक उपविभागों के भी अध्यक्ष होते थे। अमात्यों की निम्नलिखित अठारह संख्या थी :—

(१) प्रधान—(मंत्री एवं पुरोहित)
(२) समाहर्ता—(राजकर इकट्ठा करने वाला राजस्व-मंत्री)।
(३) सन्निधाता—(कोषाध्यक्ष)
(४) सेनापति—(सेना के प्रधान अधिकारी)
(५) युवराज—(भावी राजा; शासन में राजा की सहायता करता था)।
(६) प्रदेष्टा—(शासनसम्बंधी न्यायों के लिये अमात्य)।
(७) व्यावहारिक—(स्वाम्य, उत्तराधिकार आदि से सम्बंध रखने वाले न्यायालयों के लिये अमात्य)
(८) नायक—(सेनानायक)
(९) कर्मान्तिक—(उद्योग-मंत्री)
(१०) मंत्रि-परिषद्-अध्यक्ष
(११) दण्डपाल—(सेना के लिये सामग्री जुटाने वाले मंत्री)
(१२) अन्तपाल—(सीमा की रक्षा-सम्बंधी कार्य के मंत्री)
(१३) दुर्गपाल—(गृह-रक्षा-मंत्री)
(१४) पौर—(राजधानी के प्रबंध का अध्यक्ष)
(१५) प्रशास्ता—(राजकीय कागज-पत्र के अध्यक्ष)
(१६) दौवारिक—(राजद्वार की रक्षा के मुख्य अधिकारी)
(१७) आंतर्वंशिक—(राजा और उसके परिवार के रक्षकों के मुख्य अधिकारी)
(१८) आटविक—(जंगल-विभाग के मंत्री)

(ख) प्रान्तीय शासन—चन्द्रगुप्त का विस्तृत साम्राज्य उसकी राजधानी पाटलिपुत्र से सीधे सुचारू रूप से संचालित नहीं हो सकता था। इस

लिये शासन की सुविधा के विचार से वह कई प्रांतों में बंटा हुआ था। अर्थशास्त्र में प्रांतों के नाम नहीं दिये हुये हैं। परन्तु अशोक के लेखों से प्रसिद्ध प्रांतों के नाम मालूम हैं। चन्द्रगुप्त के समय में भी वे ही प्रांत रहे होंगे। मगध और उसके आस-पास के प्रदेशों को मिलाकर चन्द्रगुप्त का गृह-राज्य था, जिसके ऊपर वह सीधा शासन करता था। ऐसे प्रांत जो सैनिक और राजनैतिक दृष्टि से महत्व के थे, उनके ऊपर राजवंश के कुमार शासन करते थे। साधारण प्रांतों पर शासन करने के लिये राजपुरुषों में से कोई नियुक्त किया जाता था। कुछ प्रांतों के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

(१) गृह-राज्य—(मगध और आस पास के प्रदेश अथवा प्राची जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र था)

(२) उत्तरापथ—(इसमें पंजाब, सीमांत, सिन्ध आदि शामिल थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी)

(३) सेल्यूकस द्वारा दिये हुये प्रदेशों का एक प्रान्त जिसकी राजधानी संभवत: कपिशा थी।

(४) सुराष्ट्र—(इसकी राजधानी गिरिनगर गिरिनार = जूनागढ़ था)

(५) अवन्ति-राष्ट्र—(इसकी राजधानी उज्जयिनी थी)

(६) दक्षिणापथ—(इसकी राजधानी सुवर्णगिरि था)

इनके अतिरिक्त और भी प्रांत रहे होंगे, किंतु उनका उल्लेख नहीं मिलता। प्रांतों के और भी उपविभाग शासन की सुविधा के लिये किये गये थे। अर्थशास्त्र में ये इस प्रकार दिये हुये हैं :—

(१) जनपद

(२) स्थानीय—(इसमें ८०० गांव शामिल थे)

(३) द्रोणमुख—( ,, ४०० ,, )

(४) खार्वटिक—( ,, २०० ,, )

(५) संग्रहण— ,, १० ,, )

(६) ग्राम

ये विभाग राजस्व और न्यायव्यवस्था को ध्यान में रख कर किये गये थे।

(ग) स्थानीय शासन : ग्राम-शासन—चंद्रगुप्त के केन्द्रित साम्राज्य में भी ग्राम-शासन का महत्व समझा गया था और गाँव का शासन ग्राम-सभा के द्वारा होता था। अब केवल अन्तर यह हो गया कि ग्रामिक ( =ग्राम सभा का प्रमुख ) जो गाँववालों द्वारा निर्वाचित होता और बहुत कुछ स्वतंत्र रहता था, सरकार द्वारा गाँववालों में से नियुक्त होता था और सरकारी अधिकारी समझा जाता था। उसकी सहायता के लिये ग्राम-सभा होती थी, जिसके सदस्य ग्राम-वृद्ध गाँव वालों के द्वारा चुने जाते थे। ग्राम-सभा को काफी अधिकार मिले हुये थे। वह गाँव के साधारण झगड़ों के लिये न्याय-सभा का काम करती थी और अपराधियों को दण्ड भी देती थी। सभा का अपना कोष था जिसमें अपराधियों के ऊपर अर्थदण्ड और गाँव के दूसरे साधनों से आय होती थी। सड़क, पुल, पोखरे आदि लोकोपकारी काम भी ग्राम-सभा के हाथ में थे और सरकार इनमें उसको सहायता देती थी। ग्राम-सभा गाँववालों के मनोरंजन का प्रबंध भी करती थी।

नगर-शासन - इस शासन का प्रमुख पौर अथवा नागरक होता था। उसके नीचे बहुत से स्थायी अथवा अस्थायी अध्यक्ष होते थे। इनमें से मुख्य थे स्थानिक और गोप। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलि-पुत्र का शासन करने के लिये ( यह बात प्रायः और नगरों के लिये भी लागू होती है ) ३० सदस्यों की नगर-सभा होती थी जो भिन्न-भिन्न कार्य करने के लिये छः समितियों में बंटी हुई थी :

(१) शिल्प-कला-समिति—औद्योगिक कलाओं के लिये सामान की शुद्धता का निरीक्षण, कारीगरों के पारिश्रमिक का निर्णय, कारीगरों और कलाकारों की रक्षा आदि इसके मुख्य काम थे।

(२) विदेशी यात्री-समिति—इसका काम विदेशी यात्रियों की गतिविधि का निरीक्षण और उनकी आवश्यकताओं पर ध्यान रखना था। उनके निवास और भोजन, औषधादि की व्यवस्था भी यही समिति करती थी। उनके मर जाने पर उनका शव गाड़ दिया जाता था और उनकी सम्पत्ति उनके उत्तराधिकारियों को सौंप दी जाती थी।

(३) जन-गणना-समिति—इसका काम था नगर में जन्म और मरण का लेखा रखना। कर, शिक्षा, न्याय आदि में इसका उपयोग होता था।

(४) वाणिज्य-समिति—इस समिति का अधिकार वाणिज्य के ऊपर था। बिकने वाले सामान, माप और तौल के ऊपर इसका नियंत्रण था।

(५) उद्योग-समिति—कारखानों में और व्यक्तिगत वस्तु-निर्माण के ऊपर देखभाल करना इस समिति का काम था। मिश्रण करने और अनुचित लाभ उठाने के लिये उत्पादकों को नियमत: दण्ड मिलता था।

(६) कर-समिति—बिक्री के ऊपर कर और चुंगी वसूल करना इस समिति के जिम्मे था। जो कोई जानबूझ कर कर से बचने का प्रयत्न करता था, उसको कड़ा दण्ड मिलता था।

अर्थशास्त्र के अनुसार नगर-शासन में सार्वजनिक भोजनालय, रक्षा या पुलिस विभाग, जल, मनोरंजन, स्वास्थ्य और सफाई, वास्तु-कर्म, शिक्षा और जनता की नीति और आचरण भी सम्मिलित थे।

## (घ) शासन के मुख्य विभाग

(अ) राजस्व—यह एक बहुत आवश्यक विभाग समझा जाता था, क्योंकि राज्य की सारी योजनायें इसी के ऊपर अवलम्बित थीं। राजस्व अथवा सरकारी आय के मुख्य साधन सात थे—(१) दुर्ग (राजधानी और नगरों से आमदनी) (२) राष्ट्र (भूमि कर) (३) खनि (खान) (४) सेतु (फल, शाक, औषधी) (५) वन (जंगल से आय) (६) व्रज (चरागाह से आय) और (७) वणिक-पथ व्यापार और यातायात से आय। भूमि दो प्रकार की थी, एक तो ऐसी जिसके ऊपर किसानों का स्वाम्य होता था और जिससे राज्य को केवल कर मिलता था जो उपज का १/६ से लेकर १/१२ तक होता था। भूमि का दूसरा प्रकार ऐसा था जो राज्य का सीर था और राज्य की ओर से उस पर खेती होती थी। ऊपर बताये हुये सात साधनों के अतिरिक्त आय के और भी स्रोत थे। राज्य का मुद्रा, शस्त्र-निर्माण, मादक द्रव्य, जूआ, वेश्यावृत्ति आदि पर एकाधिकार होता था और उससे

काफी आमदनी होती थी। न्यायालयों से भी शुल्क मिलता था। आवश्यका पड़ने पर युद्ध, अकाल आदि के समय नये आवश्यक कर भी लगाये जाते थे।

राज्य की सारी आय नियमित अनुमान-पत्र(बजट) के अनुसार खर्च होती थी। व्यय के शीर्षों में मुख्य ये थे—राज परिवार, धार्मिक कृत्य, सेना, शौल्य, रक्षा, वेतन, भत्ता, शिक्षा, वृत्ति, दान, यातायात, सिंचाई, भवन-निर्माण और अन्य लोकोपकारी कार्य। राजस्व-विभाग का संचालन समाहर्ता करता था और उसकी अधीनता में कई एक अध्यक्ष थे, जैसे शुल्काध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष (सूत और कपड़े के निरीक्षक) सीताध्यक्ष (सरकारी खेती के निरीक्षक) सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष (बूचड़ खाने के अध्यक्ष), गणिकाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, आकराध्यक्ष (खान के निरीक्षक) पण्याध्यक्ष (दूकान के निरीक्षक) आदि।

(आ) न्याय-विभाग—चंद्रगुप्त के समय में न्याय सुव्यवस्थित था। प्रत्येक ग्राम-संघ संग्रहण, द्रोणमुख जनपदसंधि में न्यायालय स्थापित थे। सबसे ऊपर पाटलिपुत्र में मुख्य न्यायालय था। नीचे की अदालतों की अपील ऊपर की अदालतों में होती थी। न्यायालय दो प्रकार के थे—(१) कंटकशोधन जिनमें फौजदारी के अभियोगों का निर्णय होता था और (२) धर्मस्थीय जिनमें दीवानी के अभियोगों का निर्णय होता था। प्रत्येक अभियोग में नियमित आवेदन-पत्र होता था जिसमें वादी और प्रतिवादी के सम्बंध में ज्ञातव्य बातें लिखी होती थीं। फिर प्रमाण, साक्षी और सरकारी जाँच-भाल के बाद न्यायधीश अपना निर्णय सुनाते थे। फौजदारी और राज्य के प्रति अपराध के अभियोगों में दण्ड कड़ा मिलता था। अपराध के हलकापन या गम्भीरता के आधार पर धिक्कार, अर्थ दण्ड, बंधन (जेल), अंग-भंग निर्वासन और मृत्युदण्ड मिलते थे। मेगस्थनीज के वर्णन से प्रतीत होता है कि अपराध कम होते थे, किंतु अर्थ-शास्त्र के दण्ड-विधान से अपराधियों की संख्या कम नहीं जान पड़ती और इस सम्बंध में सरकार पूरी सचेत रहती थी। प्रदेष्टा न्याय-विभाग के मुख्य अधिकारी होते थे।

(इ) सेना और पुलिस विभाग—चन्द्रगुप्त का समय सैनिक युग था। नन्दों को नष्ट और यवनों का मुकाबला करने तथा एक विशाल

साम्राज्य का निर्माण करने के लिये उसने बहुत बड़ा सैन्य-संगठन किया था। सैन्य-संगठन के तीन उपविभाग थे (१) दुर्ग और रक्षा (२) अस्त्र-शस्त्र-निर्माण और शस्त्रागार (३) सेना। दुर्ग पाँच प्रकार के होते थे - (१) स्थल दुर्ग (२) जल दुर्ग (३) वन दुर्ग (४) गिरि दुर्ग और मरु-दुर्ग थे। अस्त्र-शस्त्र निर्माण पर सरकारी एकाधिकार था। सरकारी कारखानों में आक्रमणात्मक और रक्षात्मक कई प्रकार के हथियार बनते थे। चंद्रगुप्त की सेना मुख्यतः चतुरंगिणी (चार अंगोंवाली) थी, जिसमें पदाति या पैदल ६ लाख, अश्वारोही ३० हजार, हाथी ३६ हजार और रथ २४ हजार थे। ऊँटों और खच्चरों की भी सैनिक टुकड़ियाँ होती थीं। नौ-सेना (जहाजी बेड़ा) का विभाग अलग था। इनके अतिरिक्त सेना के साथ रसद-विभाग, गुप्तचर, दैशिक (स्काउट) औषध और उपचार विभाग, पुरोहित और बन्दी चारण भी सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिये होते थे। सेना-विभाग का मुख्य अधिकारी सेनापति था और इसके आधीन बहुत से अध्यक्ष थे, जो सेना के विभिन्न अंगों का निरीक्षण करते थे।

राज्य के भीतर आंतरिक अपराधों से जनता की रक्षा के लिये पुलिस विभाग का भी संगठन हुआ था। इसके दो उपविभाग थे.... (१) प्रकट पुलिस और (२) गुप्तचर विभाग। प्रकट पुलिस के सिपाहियों को रक्षिन् (रक्षा करने वाला) कहते थे। गुप्तचर विभाग दो भागों में बंटा था (१) संस्था अर्थात् एक स्थान पर रहने वाले गुप्तचर, जिनमें विद्यार्थी, साधु, तपस्वी, दुकानदार और कुछ गृहस्थ भी शामिल होते थे (२) संचार अर्थात घूमनेवाले गुप्तचर। गुप्तचर-विभाग का काम अपराधों का छिपकर पता लगाना और न्यायविभाग और सरकार की सहायता करना था। इस विभाग के मुख्य अधिकारी को महामात्रापसर्प कहते थे।

**(ई) लोक हितकारी कार्य-विभाग**—चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबंध में जनता को अधिक-से-अधिक सुविधा और आराम देने का प्रयत्न किया गया था। इस दिशा में पहला काम था आने-जाने के मार्गों का निर्माण और सुरक्षा। साम्राज्य के विभिन्न भागों और नगरों को मिलाने के लिये सड़कें बनी हुई थीं और उनके किनारे वृक्ष, कूयें और पांथशालायें होती थीं। इसके अतिरिक्त नदियों के द्वारा भी यात्रा और व्यापार होता था। दूसरा काम था सिंचाई। कृषकों की सुविधा

के लिये सिंचाई के कई साधन सरकार की ओर से प्राप्त थे, जिनमें हाथ से, कंधे से, यंत्र आदि से पानी निकालने का प्रबंध था। नदी, सर, (प्राकृतिक और कृत्रिम झील), तटाक, कूप आदि से सिंचाई होती थी। सुराष्ट्र में प्रान्तीय शासक पुष्पगुप्त ने एक विशाल सुदर्शन नामक झील बनवाया था। इस प्रकार के और झील और पोखरे सरकार द्वारा बनवाये जाते थे। इस विभाग का तीसरा काम था जनता का स्वास्थ्य और सफाई। बहुत से भैषज्यगृह (चिकित्सालय) खुले थे और कई रोगों के विशेषज्ञ वैद्य और चिकित्सक नियुक्त थे। नगरों की सफाई और भोजन-सामग्री की शुद्धता के लिये निरीक्षक रखे गये थे। चौथा लोक-हितकारी कार्य था शिक्षण। यह प्रधानमंत्री अथवा पुरोहित की अध्यक्षता में था। व्यक्तिगत शिक्षकों और विद्यालयों को वृत्ति और सहायता सरकार की ओर से मिलती थी। आकस्मिक संकटों—रोग, महामारी, विसूचिका आदि; अकाल, अग्नि और बाढ़ आदि से रक्षा के लिये भी सरकार की ओर से प्रबंध था।

चन्द्रगुप्त के शासन प्रबंध का जो संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया, है उससे साफ प्रकट है कि वह बहुत ही संगठित और सुव्यवस्थित था। कई बातों में यह आधुनिक अच्छी-से-अच्छी शासन-व्यवस्था की तुलना में ठहर सकता है। बहुत से पाठकों को आश्चर्य होगा कि चौथी शताब्दी ई० पू० में इतनी अच्छी शासन-पद्धति भारत में प्रचलित थी! परन्तु इस सम्बंध में इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि यह शताब्दियों के विकास और अनुभव का फल था।

(११) चन्द्रगुप्त के अंतिम दिन—लगभग चौबीस वर्ष (३२१ पू० से २९७ ई० पू०) शासन करने के बाद चन्द्रगुप्त का देहांत हुआ। जैन ग्रंथ भद्रबाहु-चरित्र और मैसूर में मिले कुछ शिलालेखों के आधार पर यह कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त अपने जीवन काल में जैन हो गया था और जैन यति भद्रबाहु के साथ सुदूर दक्षिण में श्रवण बेल गोला नामक स्थान पर चला गया था; यहीं पर अनशन कर उसने शरीर का त्याग किया। इस जैन अनुश्रुति की प्रमाणिकता में संदेह है। यह बहुत कुछ अशोक के पौत्र सम्प्रति ( चन्द्रगुप्त द्वितीय ) पर लागू होती है।

## २. बिन्दुसार

(१) राज्यारोहण और विरुद्—चंद्रगुप्त के मरने के बाद २९७ ई० पू० में उसका पुत्र बिन्दुसार मगध के सिंहासन पर बैठा। उसका विरुद (लोक-प्रसिद्ध उपाधि) अमित्रघात (अमित्र = शत्रु; घात = हनन अर्थात् शत्रुओं का हनन करने वाला) था। यूनानी लेखक उसको अमिट्रोचेटिज कहते थे जो अमित्रघात का ही यूनानी रूपांतर मालूम होता है। जनता में यह बात प्रसिद्ध थी कि वह शत्रुहन्ता विजयी राजा था।

(२) दिग्विजय की नीति जारी—बिन्दुसार ने अपने पिता चन्द्रगुप्त की दिग्विजय की नीति जारी रक्खी। जैन और बौद्ध दोनों अनुश्रुतियों से मालूम होता है कि चंद्रगुप्त के मरने के बाद भी चाणक्य जीवित था और उसने बिन्दुसार के शासन के प्रारम्भ में उसकी नीति का संचालन किया। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ लिखता है: बिन्दुसार के बड़े अमात्यों में से चानक (= चाणक्य) ने सोलह नगरों के राजाओं और सरदारों का विनाश किया और राजा (बिंदुसार) ने पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी) और पश्चिमी समुद्र (अरब सागर) के बीच के सारे प्रदेश का अपने को अधिपति बनाया।" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दक्षिणापथ के वे प्रदेश जो चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में शामिल नहीं हुये थे, उनको जीत कर बिन्दुसार ने अपने साम्राज्य में मिलाया। शांतिवादी अशोक के लेखों से मालूम होता है कि उसने मैसूर तक के प्रांतों पर शासन किया। उसने स्वयं केवल काश्मीर और कलिंग को जीता था। अतः यह अनुमान होता है कि चन्द्रगुप्त के बाद सम्पूर्ण दक्षिणापथ का दिग्विजय बिन्दुसार ने पूरा किया।

(३) उत्तरापथ में विद्रोह—उत्तरापथ में बिन्दुसार का प्रतिनिधि और प्रांतीय शासक उसका बड़ा लड़का सुसीम था। मौर्य अमात्यों के कड़े शासन से तंग आकर तक्षशिला (= गान्धार) की प्रजा ने विद्रोह किया। सुसीम इसको दबा न सका। इसका समाचार बिन्दुसार के पास पाटलिपुत्र पहुँचा। बिन्दुसार ने उज्जयिनी (अवन्ति-राष्ट्र) के शासक अशोक को तक्षशिला भेजा। जब वह तक्षशिला से दूर था तभी प्रजा ने स्वागत के लिये प्रतिनिधि-मंडल के साथ यह आवेदन-पत्र भेजा: "हम लोग न तो राजकुमार (सुसीम) के विरोध में हैं और न बिन्दुसार

के। दुष्ट अमात्य हमारा अपमान करते हैं, अतः हम लोग विद्रोह में उठ खड़े हुये हैं।" ऐसा जान पड़ता है कि साम्राज्य की सीमा के प्रान्तों में कड़ी नीति का व्यवहार किया जाता था, जिसको अपने शासन-काल में बदल कर अशोक ने उदार और सहकारी नीति का प्रयोग किया। अशोक ने वहाँ पहुँचने के साथ ही परिस्थिति अपने अधिकार में कर ली और गांधार का विद्रोह दब गया।

(४) विदेशी नीति—इसमें भी बिन्दुसार ने अपने पिता चन्द्रगुप्त की नीति का अवलम्बन किया। वह नीति अपने देश में आक्रमण और विदेशी राज्यों के साथ मैत्री की थी। पश्चिम के यूनानी राज्यों के साथ जिस मैत्रीपूर्ण नीति को चन्द्रगुप्त ने अपनाया था, उसी को बिन्दुसार ने भी जारी रखा। यूनानी राज्यों और भारत के बीच दूत-विनिमय और व्यापारिक सम्बंध स्थापित था। यूनानी लेखक स्ट्रैबो के अनुसार सीरिया के राजा एंटियोकस ने डाइमेकस को अपना राज-दूत बनाकर बिन्दुसार की सभा में भेजा था। प्लीनी लिखता है कि मिश्र के राजा टालमी ने डॉयोनिसस को अपना दूत बनाकर पाटलिपुत्र भेजा था। यूनानी और भारतीय राजा के बीच प्रायः पत्र-व्यवहार और उपहारों का आदान-प्रदान होता था। बिन्दुसार और प्रथम एंटियोकस सोटर के बीच एक दोस्ताने पत्र-व्यवहार की विचित्र कहानी एथेनेऑस नामक यूनानी लेखक कहता है: "बिन्दुसार ने अपने मित्र यूनानी राजा के पास एक पत्र अंगूरी शराब, अंजीर और सोफिस्ट (=तर्क-प्रिय दार्शनिक) भेजने के लिये लिखा। उत्तर मिला—'मैं प्रथम दो वस्तुओं को प्रसन्नता के साथ आपके पास भेजता हूँ, परन्तु तीसरे के लिये मेरे देश का कानून बाधक है।" यूनानी राजाओं की मैत्री में भारत की शक्ति और उसके प्रति आतंक ही मुख्य कारण थे। अशोक के समय तक यह नीति बनी रही। परन्तु उसके दुर्बल उत्तराधिका-रियों के समय से यूनानी राजा भारत के शत्रु हो कर उसके ऊपर आक्रमण करने लगे।

## आ. मौर्य साम्राज्य की पराकाष्ठा : धर्मविजय

### १. अशोक

(१) अशोक का शैशव और शिक्षण—लंका के पाली साहित्य

अनुसार बिन्दुसार की सोलह रानियाँ और १०१ पुत्र थे। ये दोनों गायें अतिरंजित हैं, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि बिन्दुसार की कई रयाँ और बहुत से लड़के थे। सबसे बड़ा लड़का सुसीम था। एक ी से अशोक और उसका सहोदर भाई तिष्य था। बिन्दुसार को ीम जेठा और सुन्दर होने के कारण अधिक प्रिय था। अशोक ने में कुरूप था, अतः उसके ऊपर स्नेह कम था। सभी राजकुमारों साथ-साथ शिक्षा हुई। शास्त्र और शस्त्र में सभी शिक्षित हुये। में अशोक ही सबसे अधिक प्रतिभाशाली, योग्य और महत्वाकांक्षी। इस कारण सुसीम उससे भीतर-भीतर द्वेष करता था और बिन्दु- भी सशंक रहता था। शिक्षण के बाद शासन के काम में भी ोक सफल सिद्ध हुआ। बिन्दुसार ने उसकी योग्यता देखकर न्ति राष्ट्र (=मालवा) का उसको शासक नियुक्त किया। जब ापथ में विद्रोह हुआ और वहाँ का शासक सुसीम उसको दबा न ा तो वहाँ की स्थिति संभालने के लिये अशोक को भेजा गया। बिना के ही बड़ी चतुराई के साथ उसने विद्रोह शान्त कर दिया।

(२) उत्तराधिकार के लिये युद्ध और राज्यारोहण—२७२ ई० के लगभग बिन्दुसार बीमार पड़ा। वह चाहता था कि उसका बड़ा लड़का ीम गद्दी पर बैठे। किन्तु उसके पुत्रों में दो दल हो गये। सुसीम उसके अधिकांश भाई एक तरफ और अशोक और तिष्य दूसरी फ थे। सुसीम के व्यवहार से बिन्दुसार के मंत्री असंतुष्ट थे और ोंने अशोक का साथ दिया। दोनों दलों में युद्ध हुआ। सुसीम ने कई भाइयों के साथ मारा गया। सफलता अशोक को मिली। यह ् अनुश्रुति कि अपने सभी ९९ सौतेले भाइयों को मारकर अशोक पर बैठा गलत है। अशोक के अभिलेखों से मालूम होता है कि के राज्य के तेहरवें वर्ष में भी उसके कई भाई और बहनें जीवित और उनके प्रति अशोक को बड़ा स्नेह था। अशोक का राज्यारोहण २७२ ई० पू० में ही हो गया, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उसका ाध चलता रहा, इसलिये उसका राज्याभिषेक २६८ ई० पू० हुआ। ोक ने सम्राट होकर 'देवानां प्रिय' और 'प्रियदर्शी' की उपाधि ण की।

(३) अशोक की विजय अपने शासन के प्रारम्भ में अशोक ने

भारत के प्राचीन राजाओं के राजनैतिक आदर्श दिग्विजय को ही अपने सामने रखा और भारत के वे प्रान्त जो अभी मौर्य साम्राज्य में शामिल नहीं थे, उन पर आक्रमण किया। कल्हण की 'राजतरंगिनी' से मालूम होता है कि पहले उसने काश्मीर को विजय किया। काश्मीर के इतिहास में अशोक मौर्यवंश का पहला राजा है, अतः इससे यह प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के समय यह मौर्य-साम्राज्य के बाहर था। काश्मीर-विजय के बाद अशोक ने दक्षिण-पूर्व में अपने पड़ोसी राज्य कलिंग पर आक्रमण किया। कलिंग बड़ा बलशाली राज्य था और उसके साथ घोर युद्ध हुआ। लड़ाई में एक लाख आदमी मारे गये, डेढ़ लाख बन्दी हुये और युद्ध के दुष्परिणाम-भूख और रोग से कई गुने अपने आप मर गये। अन्त में अशोक की विजय हुई। इन विजयों का फल यह हुआ कि मौर्य-साम्राज्य में काश्मीर और कलिंग भी सन्मिलित हो गये। मौर्य साम्राज्य बिना किसी अंतराल के हिंदु-कुश से बंगाल की खाड़ी और हिमालय से लेकर मैसूर तक फैल गया। सुदूर दक्षिण के राज्यों—चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सतियपुत्र, ताम्रपर्णी (लंका)—को अशोक ने अभय दान दे दिया था, किन्तु इसमें रंचमात्र सन्देह नहीं कि वे अशोक के राजनैतिक प्रभाव-क्षेत्र के भीतर थे।

(४) अशोक का नीति-परिवर्तन—कलिंग के युद्ध में जो भयानक विध्वंस और नर-संहार हुआ और उससे वहाँ की जनता को जो दुःख और कष्ट झेलने पड़े उनका अशोक के हृदय पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह करुणा और दया से द्रवित हो गया। उसने अनुभव किया कि सबसे बड़ी विजय धर्म-विजय है और इसके साधन हैं—भूत-दया और लोक-सेवा। उसने निश्चय किया कि वह अपने अहंकार की तृप्ति के लिये राज्य का विस्तार करने के लिए भविष्य में कभी युद्ध न करेगा। उसका भेरिघोष (युद्ध के नगाड़े का शब्द) धम्मघोष (धर्म के प्रचार के लिये शब्द) में बदल गया। उसकी नीति दिग्विजय के बदले धर्म-विजय की हो गयी।

(५) अशोक का धर्म-परिवर्तन—कलिंग-युद्ध के बाद अशोक ने अपने हृदय-परिवर्तन के फलस्वरूप अहिंसा-प्रधान और शांतिवादी बौद्ध धर्म को ग्रहण किया। संभव है कि युद्ध के पहले से ही बौद्ध धर्म की ओर उसका झुकाव रहा हो और इसी कारण से युद्ध के

ऊपर उसको पश्चात्ताप भी हुआ। परन्तु युद्ध के बाद तो वह पूरा बौद्ध हो गया। अपने तेरहवें शिला-लेख में उसने स्पष्ट कहा है: "कलिंग-विजय के अनन्तर देवानां प्रिय (अशोक)-धर्माचरण, धर्म-कामता और धर्मानुशष्टि (धर्म का अनुशासन) में उत्साही हुआ।" यह घटना उसके शासन के आठवें वर्ष में हुई। जिस धर्म का यहाँ उल्लेख है वह बौद्ध धर्म ही था। पहले कुछ इतिहासकार इस बात में संदेह करते थे कि अशोक बौद्ध था। परन्तु उसके बौद्ध होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथ दीपवंश और महावंश में साफ वर्णन है कि किस प्रकार अशोक एक बालपण्डित द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। चीनी यात्री हुयेन-संग ने भी अशोक के बौद्ध होने की परम्परा का उल्लेख किया है। अशोक के अभिलेखों के आन्तरिक प्रमाण भी बौद्ध-परम्परा की पुष्टि करते हैं। भाब्रू-लेख में अशोक ने बौद्ध त्रिरत्न-बुद्ध, संघ और धर्म—को नियमतः प्रणाम किया है। दैनिक पाठ और अध्ययन के लिये जिन ग्रंथों का वह निर्देश करता है वे सभी बौद्ध पाली साहित्य के हैं। अशोक के स्मारक और कृतियाँ भी अशोक के बौद्ध होने की सूचना देती हैं।

**(६) अशोक का राजनैतिक आदर्श और उसके-शासन सुधार**—अशोक के मानसिक और धार्मिक परिवर्तन ने उसके राजनैतिक आदर्श और शासन-प्रबन्ध को भी प्रभावित किया। सिद्धांत रूप में तो उसके पहले भी प्रजा का हित करना राजा का कर्तव्य माना गया है। परन्तु व्यवहार में यह यंत्रवत् चलता था और बहुत-से राजा अपने व्यक्तिगत सुख को प्रजापालन से अधिक महत्व देते थे। अशोक ने अपने धार्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण अपना सारा जीवन—राजनैतिक और व्यक्तिगत—प्रजा की सेवा में समर्पित कर दिया। प्रजा-हित की चिन्ता को वह इन शब्दों में प्रकट करता है। "(राज्य के) सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं। जिस तरह मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इस लोक और परलोक में सभी प्रकार का सुख और आनन्द पावे उसी प्रकार मैं सभी मनुष्यों को भी चाहता हूँ।" अपने अभिलेखों में उसने कई बार कहा है। 'सर्वलोक-हित से बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं। × × × मैं प्रजा के लिये उत्थान (परिश्रम) और अर्थ-कर्म (सरकारी काम काज) से अघाता नहीं।' अशोक के इन विचारों ने राजनैतिक जीवन में एक प्रकार की

आदर्शवादिता और पवित्रता ला दी।

**शासन-सुधार**—मौर्य-शासन-प्रणाली पहले से ही संगठित और विकसित थी। इसलिये अशोक को किसी नयी शासन-पद्धति का निर्माण नहीं करना था। परन्तु जिस नैतिक आदर्श को उसने अपनाया था उसकी सिद्धि पुराने शासन-यंत्र से नहीं हो सकती थी। इसलिये उसने नीचे लिखे आवश्यक सुधार शासन-प्रबन्ध में किये :

(क) धर्म-महामात्रों की नियुक्ति—पहले के शासन में भी धार्मिक विभाग था। किन्तु उसका काम था वर्ष के कुछ अवसरों पर राजा और राज्य के लिये कुछ कर्मकांडी ढंग के धार्मिक कृत्य करा देना। प्रजा के नैतिक जीवन से उसका कुछ सम्बन्ध न था। अशोक ने प्रजा में शुद्ध नैतिक जीवन का प्रचार करने और उसका नैतिक और भौतिक स्तर ऊंचा करने के लिए धर्म-महामात्र नामक अधिकारियों की नियुक्ति की। वैसे तो सारे साम्राज्य में वे कार्य करते थे, परन्तु साम्राज्य का जो प्रदेश या समाज का जो वर्ग सांस्कृतिक अथवा नैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था उस पर विशेष ध्यान रखा जाता था। स्त्रियों में काम करने के लिये स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र, व्रज, (चरागाह में बसने वाले गोपों में काम करने के लिए व्रजभूमिक, सीमान्त के प्रदेशों में काम करने के लिये अन्त-महामात्र नियुक्त किये गये। इनके मुख्य काम थे सभी धार्मिक सम्प्रदायों के धार्मिक और नैतिक जीवन की देख भाल, दान-वितरण, कानूनी अन्याय और अत्याचार का निराकरण और सभी ऐसे काम जिससे प्रजा में धर्म की वृद्धि और उसका हित और सुख बढ़े।

(ख) धर्म-महामात्रों के अतिरिक्त शासन के विभिन्न विभागों के अधिकारियों—राजुक (भूमि और न्याय), प्रादेशिक (प्रांत के शासक) युक्त (विषय अथवा जिले के माल और न्याय के अधिकारी), नागरक (नगर-शासन का प्रमुख), व्यावहारिक (न्याय विभाग)—को भी अशोक का आदेश था कि वे शासन के साथ-साथ जनता की नैतिक और धार्मिक उन्नति में सहयोग करें। वे प्रति पाँचवें अथवा तीसरे वर्ष दौरा करते थे और प्रजा के निकट सम्पर्क में आकर उनकी समस्याओं को समझते थे।

(ग) स्थायी रूप से साम्राज्य में दौरा करने के लिये व्युष्ट नामक अधिकारी नियुक्त किये गये।

(घ) सम्राट को हर समय और हर स्थान पर प्रजा की अवस्था का विवरण सुनाने के लिये प्रतिवेदक रखे गये थे।

(ङ) राजधानी के सामाजिक जीवन में परिवर्तन किये गये। समाज और उत्सव जिनमें मद्य, मांस, नृत्य का अनावश्यक दौरा चलता था बंद कर दिये गये और धार्मिक समाजों की स्थापना की गयी। इसी प्रकार विहार-यात्रा (मृगया, आमोद-प्रमोद) को बंद करके धर्म-यात्रा (धार्मिक प्रचार के लिये) चलायी गयी। राजकीय पाक-शाला में मांस क्रमशः बंद कर दिया गया।

(च) भूत-दया के प्रचार के लिये पशुवध बहुत-से अवसरों पर बन्द कर दिया गया और बहुत से जीव अवध्य ठहराये गये। मनुष्य और पशु के सुख के लिये चिकित्सालय खुले और औषधियों के उद्यान लगाये गये।

(छ) शुभ अवसरों पर जेलखानों से बन्दी छोड़ जाते थे।

(ज) सीमान्त की अर्द्ध सभ्य और लड़ाकू जातियों के साथ कठोरता और दण्ड की नीति का परित्याग कर उनके साथ उदारता और सहयोग की नीति का अवलम्बन कर उनके आर्थिक और नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया।

इस प्रकार अशोक के लिये उसकी राज्य-व्यवस्था केवल एक शासन-यंत्र न थी, किंतु लोक-सेवा का माध्यम थी। शासन के क्षेत्र में यही उसकी मौलिक देन थी।

(७) अशोक का धर्म——संसार के इतिहास में अशोक का यश उसके राज्य-विस्तार और शासन की क्षमता के कारण नहीं, किंतु उसके उच्च धार्मिक आदर्श, उसके प्रति अशोक की अनुपम आस्था और उसको व्यवहार में लाने के लिये लगन और योग्य व्यवस्था पर अवलम्बित है। अब प्रश्न होता है कि अशोक का वह धर्म क्या था। इस में सन्देह नहीं कि अशोक बौद्ध हो गया था और बौद्ध धर्म का वह अनुगमन करता था। परन्तु जिस धर्म का रात-दिन नाम लेने और उसका चिन्तन करने में अशोक अघाता नहीं था, वह कोई साम्प्रदायिक

और संकीर्ण धर्म नहीं था। वह था, सभी धर्मों से सम्मानित नैतिक सिद्धान्तों और आचरणों का संग्रह। इस धर्म का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :

(क) धार्मिक उपदेश के विषय —कुछ विषय ऐसे थे जिनको शुद्ध आन्तरिक गुण कहा जा सकता है; जिनको प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना चाहिये और उनके द्वारा अपनी बुद्धि और भावनाओं को पवित्र करना चाहिये, जैसे, (१) साधुता या बहुकल्याण (२) दया (३)दान (४)सत्य (५)शौच और (६)मार्दव (माधुर्य)। अशोक ने इनको कार्यरूप में लाने के लिये नीचे लिखे धार्मिक आचरणों का अभ्यास करना भी बतलाया : (१) पशुवध का त्याग (२) अहिंसा (३) माता और पिता की सेवा (४) बड़ों और वृद्धों की सुश्रूषा (५) गुरुओं के प्रति आदर (६) मित्र, परिचित, जाति-भाई, ब्राह्मण और श्रमणों (साधु, सन्यासी) के साथ उचित व्यवहार (७) सेवकों और मजदूरों के साथ अच्छा बर्ताव और (८) थोड़ा व्यय तथा थोड़ा संग्रह। साथ-ही-साथ अशोक ने निषेधात्मक धर्म का भी उपदेश किया, जिसका निचोड़ था अल्प आस्निव ( कम-से-कम पाप करना )। इसके लिये आवश्यक था निम्नलिखित दुर्भावनाओं से मुक्तिः (१) चण्डता (२) निष्ठुरता (३) क्रोध (४) अभिमान और (५) ईर्ष्या। धार्मिक भावना और आचरण के विकास के लिये यह आवश्यक बतलाया गया कि मनुष्य बराबर आत्म-निरीक्षण ( पटिवेखा ) किया करे। अपने धर्म की इस कल्पना पर अशोक मुग्ध रहता था और इसको कर्मकांडी पूजा-पाठ मंगल-कृत्य और दान-पुण्य से बहुत श्रेष्ठ समझता था।

(ख) अशोक के धर्म की विशेषतायें —ऊपर के धार्मिक विषयों को देखकर यह स्पष्ट है कि अशोक-धर्म सार्वभौम धर्म था। इसमें वे ही उपदेश रखे गये हैं जो सभी धर्मों को समान रूप से मान्य थे। इसमें साम्प्रदायिकता की कहीं गन्ध भी नहीं है। इसकी दूसरी विशेषता यह दिखाई पड़ती है कि इसमें धर्म के सार पर जोर दिया गया है, उसके दार्शनिक सिद्धान्तों और बाहरी क्रिया-कलाप पर नहीं। इस धर्म की तीसरी विशेषता यह है कि यह शुद्ध नैतिक था, इसका सम्बन्ध संसार में मनुष्य के आचरण से था। इस धर्म की चौथी विशेषता यह है कि यह पूर्ण उदार था और सभी धर्मों और सम्प्रदायों के

अनुयायियों को अपना-अपना विश्वास रखते हुये इसको मानने की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

(ग) अशोक की धार्मिक नीति— धार्मिक मामलों में अशोक अत्यन्त सहिष्णु और उदार था। उसके साम्राज्य में सभी धार्मिक संप्रदायों को रहने की पूरी स्वतंत्रता और सुविधा थी। रहने की स्वतंत्रता के साथ, धार्मिक कृत्यों की स्वतंत्रता, सरकारी नौकरियों में स्थान, सरकारी सहायता और वृत्ति आदि भी साम्राज्य के सभी निवासियों को समान रूप से प्राप्त थी। परन्तु अशोक ने केवल उदार नीति का निर्धारण ही नहीं किया अपितु यह भी बतलाया कि साम्राज्य में धार्मिक उदारता कैसे स्थिर रह सकती है। उसके अनुसार धार्मिक सहिष्णुता के लिये वचन और भाव की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। साथ-ही साथ जनता को बहुश्रुत भी होना चाहिये, जिससे वह संकीर्ण दायरे से निकल कर दूसरे के विचारों, विश्वासों और धर्म तथा संस्कृति को समझ सके। अशोक की धार्मिक उदारता पर यह आक्षेप किया जाता है कि उसने पशुवध का निषेध करके दूसरे सम्प्रदाय के धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप किया। परन्तु सच बात तो यह है कि उदारता की भी सीमा होती है और जहाँ जीवन के उच्चतम सिद्धान्त खतरे में हों वहाँ समझौता असंभव हो जाता है। नर-वध को धर्म के नाम पर कोई सरकार सहन नहीं करती। अशोक के लिये केवल मनुष्य ही अवध्य नहीं, किंतु पशु भी उतना ही अवध्य था और उसका जीवन उतना ही पवित्र और मूल्यवान था जितना कि मनुष्य का। इसलिये धर्म के नाम पर पशुवध भी अशोक की सरकार के लिये असह्य था।

(८) अशोक का धर्म-विजय—संसार के इतिहास में बहुत से दिग्विजयी राजा हुये हैं, जिन्होंने युद्ध करके संसार के बहुत बड़े भाग पर अधिकार प्राप्त किया है, परन्तु अकेला अशोक ही ऐसा राजा है, जिसने धर्म (कोई धार्मिक सम्प्रदाय नहीं) अर्थात् ऊँचे नैतिक सिद्धांतों और लोक-सेवा के द्वारा संसार पर विजय करनी चाही। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध धर्म के प्रचार में इससे सहायता मिली। वास्तव में विजय शब्द तो अलंकार मात्र है, उसका मतलब था लोक-सेवा अथवा सर्वभूत-हित, परंतु उस समय की भाषा में उसको (धर्म) विजय ही कहा गया। कलिंग के युद्ध के बाद अशोक ने यह निश्चय

किया कि सबसे बड़ी विजय धर्म-विजय है और उसने भेरिघोष (युद्ध के नगाड़े) को धर्म-घोष में बदल दिया। उसने निश्चय किया कि सार्वभौम नैतिक धर्म से वह न केवल भारतवर्ष का किंतु सारे संसार (सर्वलोक) का हित (सेवा) करेगा। यही उसकी धर्म-विजय की कल्पना और उसकी महत्वाकांक्षा थी। इस विजय की प्राप्ति के लिये उसने नीचे लिखे उपायों का अवलम्बन किया :

(क) धर्म-विभाग—अशोक ने एक धर्म-विभाग की स्थापना की जिसके मुख्य अधिकारी धर्म महामात्र थे। इन्होंने जनता के नैतिक और भौतिक उत्थान के लिये सर्वत्र प्रयत्न किया।

(ख) धार्मिक प्रदर्शन— लोगों को धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिये स्वर्ग लोक के बहुत से दृश्यों के प्रदर्शन का प्रबंध किया। इसका उद्देश्य यह था कि सामान्य लोग इस बात को जान जायें कि जो नैतिक आचरण करेंगे वे इस लोक और परलोक दोनों में सुखी रहेंगे।

(ग) धर्म यात्रा—राज्य की ओर से अशोक ने धर्म यात्रा की प्रथा चलायी। अशोक स्वयं और उसके मुख्य कर्मचारी धार्मिक स्थानों और धर्म के प्रचार के लिये यात्रा करते थे और रास्ते में जनता और जनपद के सम्पर्क में आते थे।

(घ) धर्मश्रावण—धर्म श्रावण की व्यवस्था थी, जिसमें धार्मिक विषयों के ऊपर भाषण, कथा आदि होते थे। इस कार्य में राजुक, व्युष्ट, प्रादेशिक युक्त आदि अधिकारी लगे थे।

(ङ) दान—राजधानी और अन्य सभी मुख्य स्थानों में रोगि-यों, भूखे और दीन-दुखियों को राज्य की ओर से दान मिलता है।

(च) धर्मलिपि—अशोक ने धर्म के सिद्धांतों और उपदेशों को पर्वत की चट्टानों, पत्थर के खम्भों और पर्वत की गुफाओं में लिख-वाकर साम्राज्य के विभिन्न भागों में फैलाया। इसके दो उद्देश्य थे। एक तो यह कि पत्थर पर खुद जाने से धर्म-लेख स्थायी रहेगा। दूसरा यह कि भविष्य में लोग पढ़कर धर्माचरण में अशोक का अनुसरण करेंगे। चौदह शिला लेख, सात स्तम्भ-लेख, कुछ गुहा लेख और कई एक फुटकर लेख अशोक के प्राप्त और प्रकाशित हो चुके हैं।

(छ) लोक हित—मनुष्य, पशु और दूसरे जीवधारियों के लिये

बहुत से लोकोपकारी कार्य अशोक ने किया, जैसे, सड़कें और उन पर वृक्ष लगाना, कूआं खोदना और पांथशाला का निर्माण; पशु और मनुष्यों की चिकित्सा के लिये औषधालय खोलना और औषधियों का उद्यान लगाना; पशुओं को अभयदान देने के लिये पशुवध और हिंसा का निषेध आदि।

(ज) धर्म के प्रचारकों का संगठन और उनको भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों और बाहर के देशों में धर्म-विजय (=सर्वलोक-हित) के लिये भेजना—अपने एक शिला लेख में अशोक कहता है: "देवानां प्रिय धर्म के द्वारा इस विजय को मुख्य विजय समझता है, यहाँ (भारत) पड़ोसी देशों, यहाँ तक कि छ सौ योजन दूर के देशों में भी यह विजय देवानां प्रिय को प्राप्त हुई है।" उसके ही लेखों से मालूम होता है कि सुदूर दक्षिण के प्रांतों, उत्तरापथ, हिमालय प्रदेश, और यवन-राज्यों में धर्मप्रचारक भेजे गये। बौद्ध-साहित्य से भी मालूम होता है कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघ-मित्रा को नेपाल और लंका में धर्म प्रचार के लिये भेजा था। एशिया के दक्षिणी और पश्चिमी देशों मेंअशोक के समय में हीनयान बौद्ध धर्म का काफी प्रचार हुआ।

(झ) अशोक ने पाटलिपुत्र में बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति (सभा) का आयोजन किया जो मोद्गलिपुत्र तिष्य की अध्यक्षता में हुई। बौद्ध धर्म के जो सम्प्रदाय अब तक उत्पन्न होगये थे उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। साथ ही धार्मिक प्रचारकों के कई जत्थे संगठित किये गये जो काश्मीर, गांधार, महीशमंडल (मैसूर), वनवासी (उत्तरी कर्नाटक), अपरांत (बंबई का उत्तरी भाग), महाराष्ट्र, यवन-प्रांत (गांधार के उत्तर पश्चिम में), हिमवन्त (हिमालय प्रदेश), सुवर्ण-भूमि (ब्रह्मा) और लंका में भेजे गये।

इस धर्म-विजय का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म एशिया और विश्व की सभ्यता में एक बड़ी शक्ति के रूप में विकसित हुआ। इससे भारत भी आन्तर्सांस्कृतिक जगत में उच्च स्थान प्राप्त कर सका। भारत का सन्देश—धर्म और सेवा के द्वारा संसार-विजय—और देशों तक पहुँच गया। यद्यपि पश्चिमी एशिया में इसका प्रभाव स्थायी नहीं हुआ, दक्षिण और मध्य एशिया में इस विजय के संस्कार और अवशेष अभी तक उपलब्ध हैं। वास्तव में बिना किसी राजनैतिक और

आर्थिक स्वार्थ के धर्म के प्रचार का यह पहला उदाहरण था, और इसका दूसरा उदाहरण शायद अभी तक उपस्थित नहीं हुआ।

(९) अशोक के चरित्र और नीति की समीक्षा—अशोक अपनी युवावस्था में बहुतेरे प्राचीन भारतीय राजाओं की तरह सेना, शिकार, युद्ध और आमोद-प्रमोद में रस लेने वाला था। वह संभवतः स्वभाव से कठोर और प्रचण्ड भी था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह एक बहुत सफल सेना का संगठन करने वाला और सेनानायक था। काश्मीर और कलिंग-विजय इसके चमकते हुए प्रमाण हैं। कलिंग-युद्ध के पश्चात् जब अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तब भी उसने अदम्य उत्साह, अथक पराक्रम, अध्यवसाय और कार्य क्षमता का परिचय दिया। एक विशाल पैमाने पर धर्म-संगठन और धर्म-प्रचार की योजना संसार के इतिहास में अशोक द्वारा एक अभिनव, परन्तु सफल, प्रयास था। इसके साथ, राजनैतिक, आर्थिक और सभी प्रकार के स्वार्थों का सम्पूर्ण त्याग और सर्वलोक-हित के आदर्श के लिये अपने जीवन का पूर्ण समर्पण संसार के इतिहास में कोई उपमा नहीं रखता। लोक-प्रसिद्ध इतिहासकार एच. जी. वेल्स ने अशोक के चरित्र का मूल्यांकन करते हुए लिखा है: "इतिहास के स्तम्भों को भरने वाले राजाओं, सम्राटों, धर्माधिकारियों, सन्त-महात्माओं आदि के बीच अशोक का नाम प्रकाशमान है और यह आकाश में प्रायः एकाकी तारा की तरह चमकता है।" ( आउट लाइन ऑफ् हिस्ट्री )। अशोक की धर्म-विजय की नीति के फलस्वरूप सारे देश में और इसके बाहर भी, धर्म, नीति और सदाचार का प्रचार हुआ; संस्कृति और कला फैली; लोक-धर्म और लोक-संस्कृति के माध्यम रूप में पालीभाषा और ब्राह्मीलिपि का प्रचार हुआ; अन्तर्राष्ट्रीयता और मानववादिता की वृद्धि हुई आदि। वास्तव में अशोक की यह शानदार सफलता थी। परन्तु ठीक उस समय जब कि कलिंग विजय के बाद अशोक अपनी सैनिक और राजनैतिक शक्ति की चरमसीमा पर था, उसकी दिग्विजय की नीति के परित्याग, भेरीघोष के धर्मघोष में परिवर्तन, राज्य के अधिकारियों को धर्म प्रचारकों के रूप में खड़े होने, राज्य के आय को दान और प्रचार में लगाने, मृगया और समाजोत्सवों को बन्द करने, सीमान्त की असभ्य और लड़ाकू जातियों के साथ अत्यन्त उदार नीति

बरतने, मौर्यों की दिग्विजयिनी सेना के प्रति उपेक्षा-भाव, उसके सैनिकों को अनभ्यस्त और युद्ध में अनुभवहीन बनाने तथा अस्त्र-शस्त्र और दूसरी युद्ध-सामग्रियों में जंक लगा देने की नीति पर प्राचीन भारत के दिग्विजयी सम्राटों की आत्मायें अवश्य आश्चर्य-चकित और सशंकित हुई होंगी। संसार की जैसी रचना है उसमें धर्म, संस्कृति, कला आदि जीवन की बहुमूल्य कोमल निधियों की रक्षा करने के लिये भी कठोर सैनिक तैयारी, राजनैतिक दाव-पेच तथा जागरूकता की आवश्यकता होती है। अशोक की नीति से जीवन का कठोर अंग शिथिल पड़ गया। मौर्य-सेना और राजनीति अनभ्यास से दुर्बल हो गयी। धर्म-विजय का प्रभाव साधारण जनता पर अच्छा ही पड़ा, किन्तु अशोक की नीति मध्य और पश्चिमी एशिया के राजनैतिक कुचक्रियों और रक्तपिपासु लड़ाकुओं पर यह प्रभाव न जमा सकी। अशोक के महान व्यक्तित्व के उठ जाने पर सैनिक दृष्टि से दुर्बल और राजनैतिक कूटनीति में असावधान भारत के ऊपर उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गये।

## ३. मौर्य-साम्राज्य का ह्रास

### १. अशोक के उत्तराधिकारी

एक लम्बे और महत्वपूर्ण शासन के बाद अशोक का देहान्त २३२ ई० पू० में हुआ। इसके बाद का मौर्य-इतिहास बहुत कुछ अनिश्चित और अन्धकारमय है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मौर्य-साम्राज्य का धीरे धीरे ह्रास होता गया। अशोक के उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी समता करने की बात तो अलग रही, उसमें से एक भी ऐसा नहीं हुआ जो इतने बड़े साम्राज्य के भार को सँभालता। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य के टुकड़े होते गये और अशोक की मृत्यु के पचास वर्ष के भीतर ही मगध का साम्राज्य मौर्यों के हाथ से जाता रहा।

**(१) कुणाल (सुयश)**—कई स्रोतों से यह मालूम होता है कि अशोक के पांच पुत्र थे-तीवर, कुणाल, महेन्द्र, कुस्तन और जालौक। इनमें से पुराणों के अनुसार अशोक के बाद कुणाल राजसिंहासन पर बैठा। इसके पहले वह गान्धार प्रांत का शासक था। बौद्ध और जैन

परम्परा के अनुसार अपनी विमाता कारुवाकी के षड्यंत्र से वह अंधा कर दिया गया था, परन्तु किसी महात्मा की कृपा से फिर उसकी दृष्टि लौट आयी। ऐसा जान पड़ता है कि उसी के समय में मगध-साम्राज्य का पश्चिमोत्तर साम्राज्य से अलग होने लगा। अशोक का दूसरा पुत्र जालौक काश्मीर में स्वतंत्र राजा बन बैठा। आठ वर्ष के बाद कुणाल की मृत्यु हो गई।

(२) दशरथ (बन्धुपालित)—यह कुणाल के बाद गद्दी पर बैठा। यह धार्मिक प्रवृत्ति का था और आजीविकों के लिये नागार्जुनी की पहाड़ीयों में इसने गुहा-विहार बनवाया। इसके समय में कलिंग मगध साम्राज्य से अलग हो गया। आठ वर्ष के शासन के बाद इसका देहावसान २१६ ई०पू० में हुआ।

(३) सम्प्रति—दशरथ के कोई पुत्र नहीं था, इसलिये उसका भाई सम्प्रति सिंहासन पर बैठा। इस समय तक इसको शासन का काफी अनुभव हो चुका था। अशोक, कुणाल और दशरथ तीनों की सहायता इसने शासन-कार्य में की थी। वास्तव में अशोक के बाद मौर्यवंश में यही एक शक्तिमान शासक हुआ जो मगध-साम्राज्य के अधिकांश पर सफल अधिकार रख सका। पाटलिपुत्र और उज्जयिनी इसकी दो प्रमुख राजधानियाँ थीं। सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था और जैन धर्म के इतिहास में उसका वही स्थान है जो बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का। कई एक इतिहासकार इसको मौर्यवंश का द्वितीय चन्द्रगुप्त मानते हैं और भद्रबाहु और श्रवण बेलगोला से इसका सम्पर्क जोड़ते हैं। इसका देहान्त २०७ ई० पू० में हुआ।

(४) शालिशुक—यह अपने बड़े भाई को मारकर गद्दी पर बैठा। गार्गी संहिता के अनुसार यह 'दुष्टात्मा, प्रियविग्रह, अपने राष्ट्र का घोर मर्दन करनेवाला, धर्मवादी किंतु अधार्मिक था। इसी के समय में काश्मीर के मौर्य राजा जालौक ने मगध पर आक्रमण किया और सिन्धु के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर सम्प्रति के लड़के वृषसेन अथवा सुभागसेन ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। इसी समय तृतीय अंतियोकस (यूनानी राजा) ने भारत पर आक्रमण किया, परन्तु सीमा पर से ही सुभागसेन से सन्धि करके लौट गया। अभी मगध

ाम्राज्य बिल्कुल निर्जीव नहीं था, इसलिये अंतियोकस को आगे
ढ़ने का साहस न हुआ।

(५) देववर्मा, शतधनुष और बृहद्रथ—शालिकशुक के बाद
ववर्मा और शतधनुष नाम के राजा हुये। मौर्यवंश का अंतिम
ाजा बृहद्रथ था। यह बहुत विलासी और असावधान था और
सका सम्पर्क सेना और शासन से छूट गया था। इसका
ारिणाम यह हुआ कि उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने बृहद्रथ को
ेना दिखाने के बहाने से मारडाला और मगध का बचा हुआ साम्राज्य
अपने हाथ में कर लिया।

## २. मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

मौर्य-साम्राज्य के पतन में कई कारणों ने काम किया। अशोक
के समय में भारत के राजनैतिक जीवनमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अपनी चरम
ीमा पर पहुंच गयी थी। इसको बनाये रखने के लिये बहुत ही जाग-
रूक और शक्तिमान शासन की आवश्यकता थी। पिछले मौर्यों में
ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जो इस प्रकार का शासन कर सकता। अशोक
के बाद केन्द्रीकरण की प्रतिक्रिया में राजनीति का वेग विकेन्द्रीकरण की
ओर झुका। साम्राज्यों के सीमांतों में विद्रोह और स्वतंत्र राज्यों की
थापना होने लगी। मौर्यों के पतन का दूसरा कारण था—अशोक के
ुर्बल और अदूरदर्शी उत्तराधिकारी। वे न केवल विकेन्द्रीकरण और
वेद्रोहों को रोकने में अबल और असफल थे, किंतु उन्होंने स्वयं इन प्रवृ-
त्तियों को प्रोत्साहन दिया। उनमें से कई ने विद्रोह और स्वतंत्र राज्य
थापित करके केन्द्रीय शासन को दुर्बल और शिथिल बना दिया।
ातन का तीसरा कारण था सैनिक दुर्बलता और विदेशी आक्रमण। अशोक
की शांतिवादी नीति ने मौर्य सेना को अनभ्यस्त और दुर्बल और जनता
की सैनिक प्रवृत्ति को शिथिल कर दिया। जिन मध्य और पश्चिमी
एशिया के यूनानियों को अशोक ने अपना मित्र और शांतिवादी बनाने
के लिये बड़ा प्रयत्न किया था और जो अशोक के धर्मोपदेश से नहीं, परन्तु
उसके पीछे राजनैतिक शक्ति से दबे और मित्र बने रहे, उन्होंने भारत की
केन्द्रीय शक्ति को दुर्बल और यहाँ के राजनैतिक जीवन को विशृङ्खलित पाते
ही आक्रमण करना शुरू कर दिया। शालिशुक के समय में ही यवनों
ने भारत के ऊपर आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी और उसके पश्चिमी

द्वारों को खटखटाने लगे। मौर्यसाम्राज्य के पतन का चौथा कारण मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म किंतु अधिक गंभीर था। यह था मौर्य साम्राज्य के विरोध में वैदिक प्रतिक्रिया। यह सच है कि अशोक ने यज्ञ में पशु-वध-निषेध के अतिरिक्त प्राचीन परम्परागत वैदिक धर्म में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, सभी धार्मिक सम्प्रदायों को विश्वास और पूजा-पद्धति की स्वतंत्रता दी और सरकारी नौकरियों में सभी वर्ण और धर्म वालों को स्थान दिया। स्वयं बौद्ध होते हुये भी श्रमणों से पहले ब्राह्मणों का आदर किया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी सारी नीति परम्परागत भारतीय धर्म और राष्ट्रीयता के विरोध में थी। उस ने सार्वभौमता, अन्तर्राष्ट्रीयता और मानववादिता के आवेश और आग्रह में राष्ट्रीय धर्म, भावना और आचार की उपेक्षा ही नहीं की, अपितु उन पर व्यंग और समय पर आलोचना भी की। एक ओर इस नीति ने राष्ट्रीय ममता और शत्रुद्वेषी भावना को शिथिल किया जो विदेशी आक्रमण को रोकने के लिये प्रबल शक्तियाँ हैं और दूसरी ओर इससे वैदिक धर्म के माननेवालों के हृदय पर, जिनकी संख्या जनता में बहुत अधिक थी, अवश्य ही चोट पहुंची। यदि उपर्युक्त नीति अशोक की व्यक्तिगत होती तो किसी प्रकार सह्य भी थी। इस को राज्य की नीति बनाकर अशोक ने बहुसंख्यक जनता के असंतोष को और बढ़ा दिया। अशोक के पहले के मौर्य सम्राट भी सुधारवादी और बौद्ध-तत्पर थे। (भविष्य पुराण चन्द्रगुप्त को बौद्धतत्पर कहता है) और उसके बाद के मौर्य शासकों ने भी परम्परागत धर्म के स्थान में नये धर्मों—बौद्ध, जैन, या आजीवक—को अपनाया। इसी-लिये पुराणों ने मौर्यों को 'असुर' लिखा है और गार्गी-संहिता ने शालिशुक को 'धर्मवादी अधार्मिक' पदवी से लांछित किया है। ये उल्लेख इस बात के द्योतक हैं कि वैदिक-मार्गी जनता में मौर्य-साम्राज्य के प्रति असंतोष था। इसलिये जब अन्य सहायक कारणों से मौर्य-साम्राज्य लड़खड़ाने लगा तो उसके संभालने के लिये जन-साधारण से जो सहा-यता मिलनी चाहिये थी, वह नहीं मिली। इसके विरुद्ध वैदिकमार्गी जनता ने इससे लाभ उठाया। पुष्यमित्र शुंग इसी प्रतिक्रिया का एक सजीव प्रतीक था जिसने मौर्यों का विनाश कर राज्य-सत्ता अपने हाथ में कर ली।

## ६. मौर्यकालीन समाज और संस्कृति

अर्थशास्त्र, अशोक के अभिलेख, अशोक के स्मारकों और यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के विवरण से मौर्यकालीन समाज और संस्कृति पर काफी प्रकाश पड़ता है। इन्हीं के आधार पर नीचे की पंक्तियों में मौर्यकालीन समाज और संस्कृति का चित्र खींचा जा रहा है।

(१) समाज की रचना—अर्थशास्त्र में परम्परागत चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास का वर्णन और उल्लेख मिलते हैं और राज्य से इस बात की आशा की जाती थी कि वह वर्ण और आश्रम-धर्म की रक्षा करेगा। इन चार वर्णों के अतिरिक्त कर्षक, गोपाल श्वगणिक (कुत्तों के सहारे शिकार खेलनेवाला), वागुरिक-मार्गयुक (शिकारियों के प्रकार), सत्रिक (भोजनालय चलानेवाला), कारु-शिल्पिन-वैदेहक (बढ़ई और अन्य कारीगर)आदि व्यावसायिक वर्गों और समूहों के नाम भी मिलते हैं, परन्तु उन सबका समावेश चार वर्णों के भीतर हो जाता है। अशोक के लेखों में ब्राह्मण, इभ्य (वैश्य) और दास-भृतक (शूद्र) के उल्लेख मिलते हैं। उनमें क्षत्रिय-वर्ण की कहीं चर्चा नहीं है। फिर भी इससे यह अनुमान नहीं निकलता कि क्षत्रिय-वर्ण उस समय था ही नहीं, क्योंकि स्वयं मौर्य सम्राट अपने को गर्व से क्षत्रिय कहते थे। इससे तो यही जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म ने यद्यपि धार्मिक जीवन में एक नयी विचारधारा चलायी, परन्तु सामाजिक रचना और व्यवस्था को बहुत कम प्रभावित किया। भारत की सामाजिक व्यवस्था को ठीक न समझने के कारण मेगस्थनीज ने भारत में सात जातियों का वर्णन किया—(१) दार्शनिक (२) किसान (३) ग्वाले (४) कारीगर (५) सैनिक (६) निरीक्षक और (७) अमात्य (सरकारी अधिकारी)। वास्तव में उसने यूनानी समाज को ध्यान में रख कर वर्णों, कुछ व्यवसायों और सरकारी वर्गों को एक में मिला दिया था। वह लिखता है कि कोई भी व्यक्ति अपनी जाति और व्यवसाय नहीं बदल सकता था और न जाति के बाहर विवाह-सम्बन्ध कर सकता था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्ण और जाति-व्यवस्था अत्यन्त कठोर हो गयी थी। परन्तु अशोक के लेख और

बौद्ध-साहित्य से प्रकट होता है कि जाति-तथा और सामाजिक व्यवहार में अभी लचक काफी थी और लोग अपना व्यवसाय बदल सकते थे और अन्तर्जातीय विवाह संभव थे।

(२) विवाह-संस्था—इस काल की विवाह-संस्था शास्त्रीय नियमों और प्रथाओं से मर्यादित थी, यद्यपि इनके अपवाद में भी कुछ विवाह होते थे। आठ प्रकार के विवाह प्रचिलित थे—(१) ब्राह्म (कन्या को अलंकृत और सुसज्जित कर वर को पिता द्वारा सौंपना) (२) प्राजापत्य (संतान के लिये विवाह जिसके अनुसार धर्म, अर्थ और काम में कन्या और वर का अधिकार समान होता था) (३) आर्ष (इसमें वर पक्ष से गौओं का एक जोड़ा लेकर कन्या का पिता दान में पुनः वर को दे देता था) (४) दैव (दैवकार्य में लगे योग्य और सुशील ऋत्विज् को कन्या देना) (५) आसुर (द्रव्य लेकर लड़की को व्याहना) (६) गान्धर्व (कामवश बिना माता पिता की आज्ञा से वर और कन्या का संयुक्त होना) (७) राक्षस (कन्या को उसके परिवारवालों से बलात् छीन लेना) और (८) पैशाच (छल अथवा बल से सोई या मादक वस्तु से मत्त कन्या का उपभोग करना)। इनमें पहले चार प्रकार के विवाह प्रशस्त और पिछले चार अप्रशस्त माने जाते थे, परन्तु पिछलों को भी उस समय का कानून स्वीकार करता था। विवाह प्रायः अपने वर्ण और जाति में होते थे, किन्तु असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह भी संभव थे। कुछ जातियों—शाक्य, मौर्य आदि—में सगोत्र विवाह भी होते थे। दहेज की प्रथा भी प्रचिलित थी। पुरुष एक साथ कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था। इसका कारण अर्थशास्त्र में इस प्रकार बतलाया गया है। "बहुत सी स्त्रियों को व्याहे; स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने के लिये हैं।" मेगस्थनीज ने भी लिखा है कि कुछ स्त्रियाँ आनंद के लिए और कुछ संतान के लिये व्याही जाती थीं। पुरुष और स्त्री दोनों को पुनर्विवाह का अधिकार था। बड़े-बड़े घरानों में नियोग (अपने पति के बहुत समय तक विदेश में रहने या उसके नपुंसक होने पर पत्नी का किसी दूसरे योग्य पुरुष से अपनी वंश-परम्परा की रक्षा के लिये सहवास करना) भी होता था। किन्ही परिस्थतियों में विवाह-सम्बंध का विच्छेद (तलाक) भी संभव था।

(३) स्त्रियों की अवस्था—स्त्रियों का स्थान समाज में

ऊंचा था। उनको परिवार की सम्पत्ति में दाय का अधिकार मिला हुआ था। जैसा कि विवाह के प्रसंग में बतलाया गया है स्त्री-पुरुष के आपसी सम्बन्ध में स्त्री को काफी स्वतंत्रता थी। पति के दुर्व्यवहार करने पर स्त्री न्यायालय में न्याय माँग सकती थी। परंतु यह होते हुये भी समाज में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र और स्थान अलग-अलग माने जाते थे। उनको प्रायः घर के भीतर काम करना होता था और स्वछंद रूप से मनमानी घूमने की स्वतंत्रता नहीं थी। यह अधिकार केवल परिव्राजिका (सन्यासिनी) और थेरी (बौद्धभिक्षुणी)को ही प्राप्त थे, जिनकी संख्या समाज में बहुत थोड़ी थी। बड़े घर की स्त्रियों में अंशतः पर्दा-प्रथा का भी प्रचार था। अशोक के लेखों से मालूम होता है कि स्त्रियों में अंध-विश्वास अधिक था। किन्हीं अर्द्धसभ्य जातियों में स्त्री-विक्रय भी होता था। वेश्या-वृत्ति भी समाज में थी जो सरकार से नियंत्रित थी। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि कन्या, स्त्री और माता के सीमित क्षेत्र में स्त्रियों का आदर समाज करता था।

(४) भोजन और पेय—मौर्यकालीन भारत समृद्ध और सुखी था, इसलिये उस समय के लोग खाने-पीने के बड़े शौकीन थे। धनी और राज-परिवारों में कई प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनते थे। भोज्य-पदार्थों में अन्न, फल, दूध और मांस शामिल थे। अधिकांश लोग मांस खाते थे। अशोक अपने शिला लेख में कहता है: "मेरे भोजनालय में पहले प्रतिदिन हजारों जानवर शोरबा बनाने के लिये मारे जाते थे। परंतु आज जब यह धर्मलिपि लिखी जा रही है केवल तीन जीव—एक मृग और दो मोर—मारे जायेंगे। भविष्य में ये भी नहीं मारे जायेंगे।" इससे जान पड़ता है कि मांस खाने की प्रथा बहुत थी, किंतु अहिंसा-प्रधान जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव से कम हो रही थी। नगरों में तैयार भोजन बेचने वाली दूकानों में पकान्न, मांस, चावल, रोटी आदि की दूकानों का उल्लेख मिलता है। शराब कई प्रकार की बनती थी, जो पानी और दूध के अतिरिक्त मुख्य पेय थी। शराब बेचने और पीने के स्थान सरकार द्वारा निश्चित होते थे। भोजन करने के ढंग पर मेगस्थनीज लिखता है: "जब भारतीय खाने बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने तिपाई की शक्ल की मेज रखी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सब

से पहले चावल डाले जाते हैं। वे ऐसे उबले होते हैं जैसे उबले जौ। इसके बाद दूसरे बहुत से पकान्न रखे जाते हैं जो भारतीय विधि से तैयार होते हैं।" वह यह भी लिखता है कि भारतीय अकेले खाते हैं और सामूहिक भोजन के लिये उनके यहाँ कोई समय निश्चित नहीं होता।

(५) आमोद-प्रमोद—मन बहलाने के कई साधन इस युग में वर्तमान थे। अर्थशास्त्र के अनुसार समाज में कुछ ऐसे वर्ग थे जिनका व्यवसाय ही मनोरंजन करना था, जैसे, नट, नर्तक (नाचने वाला), गायक, वादक (बाजा बजाने वाला), वाग्जीवी (कई प्रकार की बोली बोलने वाला), कुशीलव (प्राचीन वीरों का यश गाने वाला), सौभिक (मदारी) और चारण (बड़ाई करने वाला)। मेगस्थनीज ने रथदौड़, घुड़दौड़, सांड-युद्ध, हस्तियुद्ध आदि को भी मनोविनोद में गिनाया है। मृगया (शिकार) भी मनोविनोद का साधन था। प्रत्येक नगर में जूआ खेलने के लिये सरकारी प्रबन्ध था। प्रेक्षा-गृहों में नाटक के अभिनय से भी जनता का मनोरंजन होता था। मनोविनोद के लिये समाज, विहारयात्रा, उत्सव, मेले आदि भी होते थे। परंतु सरकार इस प्रकार का कोई मनोरंजन या तमाशा न होने देती थी जिन में जनता के साधारण काम-काज में बाधा पड़े।

(६) धार्मिक-जीवन—इस समय का धार्मिक जीवन तीन मुख्य सम्प्रदायों में बंटा हुआ था—(१) वैदिक, (२) जैन और (३) बौद्ध। धार्मिक सुधारणाओं के बाद भी वैदिक धर्म को मानने वालों की संख्या अधिक थी। इसके प्रधान अंग थे यज्ञ, बलिदान, श्राद्ध आदि। यज्ञों में पशु भी मारे जाते थे, जिसका निषेध अशोक ने किया। वैदिक धर्म के साथ पौराणिक शैव और वैष्णव धर्म का प्रचार भी था और शिव, वासुदेव, संकर्षण आदि की पूजा होती थी। बौद्ध धर्म की दो शाखायें—स्थविरवादी और महासांघिक—बन चुकी थीं। इनके अतिरिक्त भी बौद्ध धर्म में मतभेद बढ़ता जा रहा था, जिसको दबाने का अशोक ने बड़ा प्रयत्न किया। जैन धर्म में भी कई एक वर्ग बन गये थे। सभी धार्मिक सम्प्रदायों को उस समय की भाषा में पाषण्ड कहते थे। चन्द्रगुप्त के समय में कई विचित्र सम्प्रदायों पर प्रतिबंध था। परंतु अशोक के समय में सभी सम्प्रदायों को

विश्वास और पूजा-पद्धति की पूर्ण स्वतंत्रता थी। मन्दिर और धर्म-स्थानों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। तीर्थयात्रा करने की प्रथा थी। जनता स्वर्ग और नरक में विश्वास करती थी। उसमें कई एक अंधविश्वास भी प्रचलित थे। कुछ धूर्त लोग छद्म-वेश बना कर धर्म के नाम पर लोगों को लूटते भी थे। अशोक ने अपनी धर्म-विजय की योजना में जनता को उसके परम्परागत रूढ़ धर्म से हटा कर नैतिक धर्म की ओर ले जाने की चेष्टा की।

(७) भाषा और लिपि—मौर्यकालीन भाषा की दो धारायें थीं—(१) संस्कृत जिसमें पूरी वैदिक-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद और सूत्र-साहित्य लिखा गया था। यह साहित्यिक और पढ़े-लिखे लोगों की भाषा थी। इसका स्वरूप व्याकरण के नियमों से बंधा हुआ था। (२) प्राकृत अथवा पाली जो सामान्य जनता की भाषा थी। इसको भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य—त्रिपिटक और जातक—इसी में लिखे गये। इस भाषा ने भी साहित्यिक रूप धारण किया, किंतु यह फिर भी संस्कृत की अपेक्षा जनता के अधिक निकट थी। उत्तर भारत की यह जन-साहित्य की भाषा थी और दूसरे प्रांतों की जन-भाषाओं से भी इसका मेल था। अशोक ने इसीको अपने सारे साम्राज्य की राज-भाषा स्वीकार किया और उसके धर्म-लेख, जो सारे देश में वितरित थे, इसी भाषा में लिखे। इस समय देश में दो लिपियाँ प्रचलित थीं—(१) ब्राह्मी, जो आधुनिक नागरी और भारत के विभिन्न प्रांतों, ब्रह्मा, स्याम, लंका तिब्बत की लिपियों की जननी है, पश्चिमत्तोर सीमांत को छोड़कर सारे भारत में प्रचलित थी। यह बाँयें से दायें लिखी जाती थी। यह भारत की राष्ट्रीय लिपि थी। इसका विकास इसी देश में हुआ था। इसकी रचना प्राचीन भारतीयों की बहुत ही ऊँची प्रतिभा का द्योतक है। (२) दूसरी लिपि खरोष्ठी थी, जिसका प्रचार भारत की पश्चिमोत्तर सीमा में था। यह अरबी लिपि की तरह दायें से बाँयें की ओर लिखी जाती थी। अशोक के जो धर्म-लेख इस भाग में पाये जाते हैं, उनकी भाषा तो पाली है, किंतु लिपि खरोष्ठी है। यह एक ध्यान देने की बात है कि खरोष्ठी की वर्णमाला भी पाली की वर्णमाला की तरह संस्कृत से ही ली गयी थी। कुछ विद्वानों का मत है कि पश्चिमोत्तर

सीमांत पर ईरानी आधिपत्य के समय बाहर से खरोष्ठी का प्रचार इस देश में हुआ।

(८) साहित्य और शास्त्र—इस समय का साहित्य तत्कालीन तीन मुख्य धार्मिक सम्प्रदायों के आधार पर तीन धाराओं में बंट गया था। वैदिक धारा में यह काल सूत्र-ग्रंथों का था, जिनमें कई एक गृह्य-सूत्र, धर्मसूत्र और वेदाङ्ग-ग्रंथ लिखे गये। शुद्ध साहित्य में भास के नाटकों का रचना-काल भी यही है। संभवतः रामायण और महाभारत के कुछ अंशों का परिवर्धन इसी युग में हुआ। इस काल का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ राजनीति पर कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। अर्थशास्त्र कई प्रकार के साहित्य और शास्त्रों की चर्चा करता है, जैसे अन्वीक्षकी (दर्शन), त्रयी (प्रथम तीन वेद, ऋक, साम, और यजुष्), वार्ता (अर्थ-शास्त्र), दण्डनीति (शासन और राजनीति)। दार्शनिक सम्प्रदायों में सांख्य, योग और लोकायत का ही संकेत है। पाठ्य-विषयों में पुराण, इतिवृत्त (इतिहास), आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थ-शास्त्र शामिल थे। व्याडि और कात्यायन के व्याकरण-ग्रंथ भी इस युग में ही रचे गये थे।

बौद्ध-साहित्य में अभी प्रारम्भिक पाली साहित्य का युग चल रहा था। यह अशोक द्वारा आयोजित तीसरी बौद्ध महासभा (संगीति) के बाद पूरा हुआ। इस सभा के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अभि-धम्म-पिटक के कथावत्थु की रचना की। इसके अतिरिक्त बहुत से सुत्तों को इस काल में रखा जा सकता है। जैन धर्म के प्रसिद्ध लेखक जम्बु-स्वामी, प्रभव और स्वयम्भव इस युग में उत्पन्न हुये। अंतिम ने 'दश-वैकालिक' नामक ग्रन्थ लिखा। इनके बाद यशोभद्र, सम्भूति और भद्रबाहु हुये। आचार्य भद्रबाहु द्वितीय चन्द्रगुप्त के समकालीन थे। इन्होंने प्रारम्भिक जैन-ग्रंथों पर भाष्य (निर्युक्ति) लिखा। आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र, भगवती सूत्र, उपासक दशांग, प्रश्न-व्याकरण आदि जैन-ग्रंथों के अधिक भाग इसी समय में लिखे गये थे। साहित्य की दृष्टि से भी मौर्य-काल काफी समृद्ध था। विद्या की उन्नति और प्रसार के कई केन्द्र थे, जैसे वाराणसी, तक्षशिला, राजगृह, पाटलिपुत्र आदि।

(९) कला—विशाल मौर्य-साम्राज्य की स्थापना के बाद देश में शांति, सुव्यवस्था, सुख और समृद्धि विराजने लगी। इससे कला के

विकास को बहुत ही प्रोत्साहन मिला पहले स्थापत्य (भवन-निर्माण-कला) का परिचय संक्षेप में दिया जायेगा। पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त का बड़ा विशाल और भव्य राज-प्रासाद था। इसका सभा-भवन स्तम्भों पर खड़ा था जिन पर बहुत सुन्दर मूर्ति और चित्रकला का प्रदर्शन किया गया। मेगस्थनीज के मत में ईरान की राजधानी सूसा के राजप्रासाद से मौर्य-प्रासाद अधिक सजा हुआ और सुन्दर था। अशोक ने भी कई राजभवनों का निर्माण कराया। जब चीनी यात्री फाहियान पाँचवीं शताब्दी में पाटलिपुत्र गया था तो कई एक भवन ऐसे थे जो अशोक के बनवाये कहे जाते थे। उनको देख कर यह यात्री चकित हो गया और इसने समझा कि शायद देवों ने उनकी रचना की थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने कई हजार स्तूप (ठोस अंडाकार समाधि), चैत्य (सामूहिक पूजामन्दिर) और विहार (भिक्षुओं के रहने का मठ) बनवाये थे। सारनाथ में इसके बनवाये हुये धर्मराजिका स्तूप का निचला भाग अब भी वर्तमान है। बोध गया में इसने चैत्य (मंदिर) बनवाया जो कालक्रम में गिर गया और उसके स्थान पर आधुनिक मंदिर खड़ा है। अशोक के बाद दशरथ ने आजीवन साधुओं के लिये बराबर की पहाड़ियों में गुहा-मंदिर बनवाया। भारत के प्राचीन स्थापत्य में लकड़ी की प्रधानता थी। इस कालमें यद्यपि ईंट और पत्थर का उपयोग भी शुरू हुआ, फिर भी लकड़ी का व्यवहार काफी होता था। स्थापत्य की विशेषताओं में विशालता और सजावट मुख्य थी।

इस काल की कलात्मक कृतियों में अशोक के स्तम्भों का प्रमुख स्थान है। अपने धर्मलेखों को प्रचारित करने के लिये अशोक ने घोषणार्थ पृथ्वी की उठी हुई भुजाओं के समान इन स्तम्भों को देश के कई स्थानोंमें खड़ा किया था। अशोक के सभी स्तम्भ चुनार के बलुआ-पत्थर के बने हुये हैं। एक स्तम्भ पूरा एक पत्थर की शिला को काटकर बनाया गया था। स्तम्भों की औसत उँचाई ४० फीट है। स्तम्भ आधार की तरफ मोटे और शीर्ष की तरफ पतले होते गये हैं। इनके तीन भाग किये जासकते हैं:—(१) ध्वज या स्तम्भ का तना जो बिल्कुल सादा परंतु अत्यन्त चिकना और चमकीला है (२) अण्ड या गला जो गोला बना हुआ है और धार्मिक प्रतीकों—चक्र, पशु, पक्षी, लता, पुष्प आदि—से विभक्त और अलंकृत है (३) सबसे ऊपर स्तम्भ का

शीर्ष (शिर) है । जिसमें सिंह, हस्ति, अश्व, वृषभादि की मूर्तियाँ—एक या कई साथ—बनी हैं । इसका सबसे सुन्दर उदाहरण सारनाथ का सिंह-शीर्ष वाला स्तम्भ है । मूर्तिकला की दृष्टि से स्तम्भ और उस पर बनी हुई पशु, पक्षी, लता, पुष्प की अनुकृतियाँ संसार की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से हैं । प्रकृति से उनकी अनुरूपता और सजीवता सराहनीय हैं । मूर्तिकला का यह विकास कई शताब्दी के अनुभवों से ही संभव था । इस काल की मूर्तियों में मथुरा के पास पारखम में मिली हुई यक्ष-मूर्ति, बेसनगर में मिली एक स्त्री की मूर्ति, पटना और दीदारगंज में मिली हुई (पारखम के यक्ष से मिलती-जुलती) मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं । इन सभी के देखने से मालूम होता है कि भारत में मूर्तिकला अच्छी तरह विकसित हो चुकी थी ।

प्रेक्षागृहों ( नाटकों के अभिनय के लिये बने हुये भवन ) और रंगशालाओं ( नाटक-मंच ) का उल्लेख करना भी ( इस युग की कला के साथ ) आवश्यक जान पड़ता है । अर्थशास्त्र में प्रेक्षागृहों के कई उल्लेख हैं । भास के दृश्य नाटक भी इस बात का संकेत करते हैं कि भारत में रंगशाला का निर्माण और विकास हो चुका था । प्रेक्षा-गृहों के कुछ नमूने सरगुजा राज्य की रामगढ़-पहाड़ियों को काटकर बनाये हुये गुहा-भवनों में पाये जाते हैं । इनमें कुछ ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं जो तीसरी शताब्दी ई० पू० के हैं, जिनसे जाना जाता है कि इन गुहा-भवनों में नाटकों का अभिनय होता था ।

# बारहवाँ अध्याय

## वैदिक प्रतिक्रिया

भारतवर्ष में, छठवीं शताब्दी ई० पू० में, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जैन और बौद्ध दो बड़े परम्परा-विरोधी और सुधारवादी धर्मों का उदय हुआ। जनता में इन धर्मों का प्रचार हुआ जिससे प्रजा वैदिक मार्ग और परम्परा-विरोधी पंथ दो दलों में बँट गयी। एक ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि महावीर और बुद्ध के बाद नाग, नन्द और मौर्य-वंश के अधिकांश राजाओं ने इन नये पंथों को ग्रहण किया: जो इनके पक्के अनुयायी नहीं थे वे भी इनसे प्रभावित थे। इन राजाओं ने वैदिक धर्म, आचार, नीति का त्याग किया तथा धर्म और राजनीति दोनों क्षेत्रों में नये-नये प्रयोग किये। वैदिक धर्म मानने वालों की समाज में अब भी संख्या बड़ी थी। वैदिक मार्गियों का नये प्रयोगों और मार्गों से असंतोष पुराणों और धर्म-शास्त्र के ग्रंथों में स्पष्ट दिखायी पड़ता है, जहाँ व्रात्य, वृषल, शूद्र, पतित, वर्ण-संकर आदि उपाधियों से सुधारवादी राजवंश लांछित किये गये हैं। अशोक के समय में नये आदर्शों का प्रयोग अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। इससे एशिया के कई देशों में बौद्ध धर्म और नीति-मार्ग का प्रचार अवश्य हुआ, परन्तु मध्य और पश्चिमी एशिया के यवनों पर इस नीति का प्रभाव नहीं पड़ा। इस नीति के फलस्वरूप देश में राष्ट्रीयता और सैनिकता की प्रवृत्तियाँ शिथिल पड़ गयीं। अंतिम मौर्य राजे धर्मवादी (पाखंडी), विलासी और दुर्बल थे। वे मगध-साम्राज्य को आन्तरिक विद्रोहों से बचाने और विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने में बिल्कुल असमर्थ थे। इस परिस्थिति में मौर्य-वंश के विरोध में धार्मिक और राजनैतिक दोहरी प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के नेता अधिकतर वैदिक मार्गी ब्राह्मण थे। मौर्यवंश के पतन के बाद लगातार शुंग, कण्व और आंध्र-सात-

वाहन तीन ब्राह्मण राजवंश हुये जिन्होंने वैदिक धर्म, वर्णाश्रम-व्यवस्था, शत्रु-द्वेषी राष्ट्रीय राजनीति और परम्परा के अनुरूप जीवन के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया।

## अ. शुंग-वंश

१. उत्पत्ति—शुंग एक प्राचीन ब्राह्मण-वंश था। इसका गोत्र भारद्वाज था। वैदिक साहित्य में इस वंश के कई आचार्यों का उल्लेख है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने शुंगों को साफ ब्राह्मण लिखा है। शुंग राजाओं के नामान्त 'मित्र' से कुछ लोगों का मत है कि शुंग ईरानी थे, किन्तु यह कल्पनामात्र है। मध्य भारत में विदिशा (भिलसा) से इस वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण कई विद्वानों का अनुमान है कि मौर्य-काल में शुंग-वंश विदिशा में ही रहता था। संभवतः इस वंश के ब्राह्मण पहले मौर्यों के आचार्य और पुरोहित थे। अशोक के समय में जब मौर्य-राजवंश पूरा बौद्ध हो गया तो शुंगों का पौरोहित्य भी जाता रहा। परन्तु शुंगों ने मौर्यों का सम्बन्ध न छोड़ा। उन्होंने शास्त्र का व्यवसाय छोड़कर शस्त्र ग्रहण कर लिया और मौर्य-सेना में ऊंचे पदों पर नियुक्त हुये। ब्राह्मणों के व्यवसाय-परिवर्तन की यह कोई नयी घटना नहीं थी। परशुराम, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, द्रोणाचार्य आदि के उदाहरण पहले से वर्तमान थे। इसके अतिरिक्त शास्त्रों की यह स्पष्ट आज्ञा थी कि जब राष्ट्र और धर्म पर संकट हो तो ब्राह्मण को भी शस्त्र ग्रहण करना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि अंतिम मौर्य-राजा बृहद्रथ के समय में यह परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। शुंगवंशी ब्राह्मण पुष्यमित्र ने मगध-साम्राज्य की सेना का नेतृत्व अपने हाथ में लिया।

२. मगध-साम्राज्य पर अधिकार मौर्य-वंश का अंतिम राजा बृहद्रथ विलासी, असावधान और दुर्बल था। हर्षचरित में उसको प्रतिज्ञादुर्बल (प्रजा-रक्षण की प्रतिज्ञा-पालन में असमर्थ) कहा गया है। इस कारण से उसकी सारी शक्ति धीरे-धीरे उसके सेनापति पुष्यमित्र के हाथ में चली गयी। प्राचीन राजा सेना का नेतृत्व स्वयं करते थे, परन्तु बृहद्रथ का सम्पर्क सेना से कुछ भी नहीं था। पुराणों में लिखा है कि सेनानी पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को उखाड़ (संभवतः मार) कर राज्य अपने अधिकार में कर लिया। पुराणों के अनुसार यह

घटना १८५ ई० पू० में हुई। बाण ने हर्षचरित में और स्पष्ट रूप से इसका वर्णन किया है: "अनार्य (बुरा कर्म करने वाला) सेनानी पुष्यमित्र ने सेना दिखाने के बहाने अपने स्वामी प्रतिज्ञादुर्बल बृहद्रथ को मार डाला।" सेना ने इस घटना का बिल्कुल विरोध नहीं किया। इससे जान पड़ता है कि सेना भी बृहद्रथ से असंतुष्ट और पुष्यमित्र के पक्ष में थी। राज्य अपने अधिकार में करने के बाद भी पुष्यमित्र अपने को सेनानी या सेनापति ही कहता था। ऐसा अनुमान होता है कि वह शायद अपना राज-वंश नहीं स्थापित करना चाहता था, परन्तु परिस्थिति-वश मौर्य-वंश का पुनरावर्तन न हो सका और शुंग-राजवंश की स्थापना हो गयी।

३. पुष्यमित्र द्वारा मगध-साम्राज्य का संघटन—बृहद्रथ की मृत्यु से मौर्य-वंश का अन्त हुआ, किन्तु मगध-साम्राज्य का नहीं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सीमान्त के प्रान्तों के निकल जाने से यह क्षीण और आन्तरिक विद्रोह से खोखला हो गया था। इसलिये मगध साम्राज्य के बचे हुये भाग को संभालना और यदि संभव हो तो इसका विस्तार करना पुष्यमित्र के सामने मुख्य समस्या थी। पाटलिपुत्र पर अधिकार जमाने के बाद उसने पहले मगध और उसके आसपास के प्रांतों को संघटित किया जिनमें प्राची, कोसल, वत्स, आकर, अवन्ति आदि सम्मिलित थे। पश्चिम के प्रांतों पर पूरा अधिकार रखने के लिये उसने आकर के प्रमुख नगर विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी बनाया और अपने पुत्र अग्निमित्र को आकर-अवन्ति प्रान्त का शासक बनाया। अपने राज्य का विस्तार करने के लिये मध्यभारत को आधार बनाकर पुष्यमित्र ने विदर्भ (बरार) पर आक्रमण किया। विदर्भ कुछ ही समय पहले मगध-साम्राज्य से अलग हुआ था। कालि-दास के लिखे हुये नाटक मालविकाग्नि के अनुसार विदर्भ का राजा यज्ञसेन मौर्य राजा बृहद्रथ का साला था। संभवत: वह पहले दक्षिणापथ का शासक था और बृहद्रथ की मृत्यु के समय उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। शुंगों से उसकी शत्रुता स्वाभाविक थी। अग्निमित्र ने उसके विरुद्ध बड़ी योग्यता से युद्ध का संचालन किया। अपनी भेद-नीति से उसने यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन को अपनी ओर फोड़ लिया। यज्ञसेन को झुकना पड़ा। विदर्भ का दो भागों में बँटवारा

हो गया—एक भाग यज्ञसेन और दूसरा माधवसेन को मिला। दोनों ने शुंगों की अधीनता स्वीकार कर ली। इस तरह मगध-साम्राज्य दक्षिणापथ के कुछ भाग को फिर अपने अधीन कर सका। पश्चिम में स्यालकोट तक उसके राज्य का विस्तार था। अपने साम्राज्य का पुनः संघटन कर पुष्यमित्र ने उसको अपने आठ पुत्रों के बीच सामन्त-राज्यों में बाँट दिया और स्वयं सम्राट् हो पाटलिपुत्र से शासन करने लगा।

**४. यवनों से देश की रक्षा**—पिछले मौर्य राजाओं के समय से ही भारत के लिये यवन (बाख्त्री)-आक्रमण का संकट उपस्थित हो गया था। बाख्त्री यवन पश्चिमोत्तर के दर्रों से टकरा रहे थे। पुष्यमित्र के शासन के प्रारम्भ में ही उन्होंने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण किया। संस्कृत ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। पतञ्जलि (पुष्यमित्र के समकालीन और ऋत्विज्) ने अपने महाभाष्य में लिखा है कि यवनों ने माध्यमिका (चित्तौड़ के पास नगरी) और साकेत (अयोध्या) का घेरा किया। गार्गी-संहिता के अनुसार यवनों ने मथुरा, पांचाल (गंगा-यमुना दोआब), साकेत और कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) को अपने अधीन कर लिया; परन्तु उनमें आपस में ही घोर युद्ध छिड़ गया, इसलिये मध्यदेश (उत्तर भारत) में ठहरे नहीं। पुष्यमित्र शुंग ने यवनों का तीव्र प्रतिरोध किया और उनको मध्यदेश से निकाल कर सिन्धु के किनारे तक खदेड़ा। यवनों की इस पराजय का वर्णन मालविकाग्निमित्र में दिया हुआ है। इसके अनुसार पुष्यमित्र की दिग्विजयिनी सेना उसके पौत्र वसुमित्र के नेतृत्व में पश्चिमोत्तर भारत में घूम रही थी।

इस सेना की मुठभेड़ यवनों से सिन्धु नदी के किनारे हुई और यवन पराजित हुए। ऐसा जान पड़ता है कि यवन मध्य भारत से निकल कर सिन्धु के आसपास के प्रदेशों में रुक गये थे। यहीं पर वसुमित्र से उनका युद्ध और पराजय हुआ। यवनों से देश की रक्षा पुष्यमित्र का एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था।

यवन आक्रमणकारी कौन था? इस विषय में मतभेद है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार पुष्यमित्र के समय में भारत पर आक्रमण करने वाला यूनानी नेता डिमिट्रियस और कुछ के अनुसार मीनांडर था।

वास्तव में डिमिट्रियस ही इस आक्रमण का संगठनकर्ता था। अपालोडोटस और मीनांडर उसके सेनानायक थे। तीनों ने ही इस आक्रमण में भाग लिया।

५. अश्वमेध—उत्तर भारत और दक्षिणापथ के कुछ भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित करने और यवनों को मध्य देश से भगाने के बाद नियमतः अपना प्रभुत्व प्रदर्शित करने के लिये पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया। जनमेजय के बाद यह पहला दिग्विजयी था जिसने अश्वमेध यज्ञ किया। बीचके महापद्मनन्द, चन्द्रगुप्त और अशोक आदि राजाओं ने इसको अनावश्यक समझा था। पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख मालविकाग्नि मित्र में इस प्रकार मिलता है: "स्वस्ति। यज्ञ-मंडप से सेनापति पुष्यमित्र विदिशा में स्थित अपने पुत्र आयुष्मान् अग्निमित्र को स्नेह से आलिंगन कर यह आदेश देता है। विदित हो। राजसूय की दीक्षा लिये मेरे द्वारा सैंकड़ों राजपुत्रों से परिवृत्त (घिरा हुआ) वसुमित्र की संरक्षता में एक वर्ष के भीतर लौट आने के नियम के अनुसार (यज्ञीय) घोड़ा मुक्त कर दिया गया। वह सिन्धु के दाहिने तट पर विचरता हुआ अश्वारोही सेना से युक्त यवन ( राजा ) द्वारा पकड़ा गया। इसके पश्चात् दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। धनुर्धर वसुमित्र से शत्रुओं को पराजित कर बलपूर्वक छुड़ा कर मेरा वाजिराज ( अश्वमेध का घोड़ा ) लाया गया है। जिस प्रकार पौत्र अंशुमान द्वारा वापस लाये हुए घोड़े से सगर ने यज्ञ किया था उसी प्रकार मैं भी यज्ञ करूँगा। अतएव इस समय प्रसन्नचित्त होकर यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए तुम्हें वधूजन ( बहुओं ) के साथ यहाँ आना चाहिये।" [ पुष्यमित्र का अग्निमित्र को पत्र ] अयोध्या में मिले हुये एक उत्कीर्ण लेख से भी पता लगता है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार पुष्यमित्र कलिंग के राजा खारवेल से हार गया था, अतः दुबारा दिग्विजय कर पुष्यमित्र को अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये पुनः दूसरा अश्वमेध करना पड़ा। यह प्रस्थापना बड़ी संदिग्ध है। लिपि-विज्ञान के आधार पर अब यह निश्चित हो गया है कि खारवेल प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्त या प्रथम शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में हुआ था। इसलिये पुष्यमित्र के समय में उसके द्वारा मगध-आक्रमण का प्रश्न ही नहीं उठता। दुबारा

अश्वमेध यज्ञ पुण्यार्थ भी होता था। पुष्यमित्र की दूसरी दिग्विजय का भी प्रमाण नहीं मिलता। अतः उसका दूसरा यज्ञ पुण्यार्थ ही था।

६. पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म—बौद्ध साहित्य में पुष्यमित्र का वर्णन बौद्ध धर्म के शत्रु के रूप में मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार उसने बहुत से विहारों को जलवा दिया और शाकल (स्यालकोट) के पास यह घोषणा की कि एक श्रमण (बौद्ध भिक्षु) के शिर के लिये वह एक सौ दीनार ( सोने का सिक्का ) देगा। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि पुष्यमित्र नास्तिकों का पौरोहित्य करने वाला और बौद्धों का शत्रु था। इन साहित्यिक प्रमाणों के विरोध में पुरातत्व का साक्ष्य है। पुष्यमित्र शुंग की दूसरी राजधानी विदिशा के पास ही साँची और भर्हुत में अधिकांश और उत्तम बौद्ध कृतियाँ शुंगों के समय की हैं। यदि शुंगों की नीति बौद्ध धर्म के विनाश की होती तो उनकी छत्रच्छाया में बौद्ध धर्म के इतने सुन्दर स्मारक नहीं बन पाते। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध राजवंश का उन्मूलन करने के कारण बौद्ध साहित्यकारों ने पुष्यमित्र के अत्याचारों का वर्णन करने में अतिरंजन से काम लिया है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि वह बौद्ध धर्म से मतभेद रखता था और बौद्ध राजाओं की राजनैतिक और सैनिक दुर्बल नीति का वह विरोधी था। यह बहुत सम्भव है कि उसने कुछ विहारों को जलवाया और कुछ श्रमणों को मरवा डाला। श्रमणों के मरवाने की घोषणा उसने स्यालकोट ही में क्यों की इसमें एक रहस्य जान पड़ता है। इस सम्बन्ध में यूनानी इतिहास के विशेषज्ञ टार्न का एक प्रबल अनुमान है। पश्चिमोत्तर भारत में यूनानियों और दूसरे विदेशियों को सफलता क्यों मिली, इसके दो कारण वह बतलाता है—(१) वहाँ की जनता में विदेशी तत्व और (२) बौद्धों का विदेशियों से सहयोग। पुष्यमित्र शुंग से अप्रसन्न होकर बौद्ध श्रमणों ने यूनानियों का साथ दिया हो यह सम्भव जान पड़ता है और इस पर क्रुद्ध होकर उनके ऊपर पुष्यमित्र शुंग का अत्याचार भी।

७. पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी—पुष्यमित्र ने १८५ ई० पू० से लेकर ३६ वर्ष तक सफलता और शान के साथ राज्य किया। पुराणों के अनुसार कुल दस राजा हुये जिनका सम्पूर्ण शासन-काल ११२ वर्ष था। पुष्यमित्र शुंग के बाद के नव राजाओं के सम्बन्ध में बहुत कम मालूम

है। पुष्यमित्र के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर बैठा। विदिशा के प्रान्तीय शासक के पद से उसकी व्यवस्था, सैन्य-संचालन और भेद-नीति का परिचय हम पा चुके हैं। इन अनुभवों को लेकर वह मगध का सम्राट् बना। परन्तु उसके शासन-काल की किसी घटना का पता नहीं, केवल उत्तर पांचाल में कुछ सिक्के मिले हैं जो संदिग्ध रूप से उसके कहे जा सकते हैं। अग्निमित्र के बाद उसका भाई ज्येष्ठ-मित्र अथवा सुज्येष्ठ गद्दी पर बैठा। सुज्येष्ठ के अनन्तर वसुमित्र राजा हुआ। यह एक वीर सेना-नायक था और इसने अपने पितामह पुष्यमित्र के समय यवनों को सिन्धु के किनारे हराया था। हर्षचरित के लेखक बाण के अनुसार यह नाट्य-कला में बड़ा आसक्त रहता था और मित्र-देव नामक एक व्यक्ति ने अभिनायकों में छिप कर इसका सिर काट डाला। शुंग-वंश का पाँचवाँ राजा ओद्रक हुआ, जिसका उल्लेख कोशाम्बी के पास मिले हुये एक उत्कीर्ण लेख में है। छठे से लेकर आठवें राजा के बारे में नाम और शासन-काल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम है। इस वंश का नवाँ राजा भागवत अथवा भागभद्र था। इसके शासन के १४ वें वर्ष में तक्षशिला के यूनानी ( बाख्त्री ) राजा अंतलि-किदस का राजदूत डियॅन का पुत्र हेलियदोरस विदिशा में आया था। इससे यह मालूम होता है कि शुंगों की शक्ति अभी भी प्रबल थी और यूनानी राजा इनसे मैत्री का सम्बन्ध बनाये रखते थे तथा उनकी सभा में अपने राजदूत भेजते थे। शुंगवंश का अंतिम राजा देवभूति या देव-भूमि था। यह अत्यन्त विलासी और लम्पट था और अपने मंत्री वसु-देव के षड्यंत्र से मारा गया। इसका वर्णन हर्षचरित में इस प्रकार दिया है: "शुंगों के अमात्य वसुदेव ने रानी के वेष में देवभूति की दासी की लड़की द्वारा स्त्री के प्रसंग में अत्यन्त आसक्त और कामदेव से विवश देवभूति को जीवनरहित ( मृत ) कर दिया।" पुष्यमित्र शुंग ने अमात्यों द्वारा राजाओं के वध की जो परिपाटी चलायी थी वह उसके वंश पर भी लागू हुई।

**८. शुंगों के समय में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान**—लगभग तीन सौ वर्ष के बौद्ध धर्म के प्रचार और बौद्ध राजाओं की नीति की प्रतिक्रिया में शुंगों ने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान और संगठन किया। इस समय में तिरस्कृत और दबा हुआ वैदिक कर्मकाण्ड फिर आदर पाने लगा।

शुंगों ने यज्ञ, हवन आदि क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया और बहुत दिनों से छोड़े हुये अश्वमेध को बड़ी धूमधाम से किया। वैदिक कर्म-काण्ड के साथ वैदिक परम्परा का वैष्णव धर्म भी विकसित होने लगा। बेसनगर में स्थित गरुड़स्तम्भ के ऊपर खुदे हुए लेख से पता लगता है कि तक्षशिला के यवन राजा अंतियलकिदस का दूत हेलियदोरस भागवत (भगवान् वासुदेव का उपासक) हो गया था और उसने (विष्णुमन्दिर के सामने) गरुड़स्तम्भ भक्ति-प्रदर्शन के लिये खड़ा कराया। इस लेख से यह भी मालूम होता है कि बहुत से विदेशी भारतीय धर्मों से प्रभावित होकर उन्हें ग्रहण कर रहे थे और संकीर्णता के कारण उस समय के वैदिक धर्म का द्वार बाहर वालों के लिये बन्द नहीं था।

९. सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन—बौद्ध धर्म ने वैसे तो वर्ण और आश्रम का सैद्धांतिक विरोध नहीं किया और केवल उनकी बुराइयों की ही आलोचना की, परन्तु उसकी मूल प्रवृत्तियों के कारण वर्णाश्रम व्यवस्था शिथिल हो गयी थी। विशेषकर हजारों की संख्या में नवयुवक और युवतियों का भिक्षु और भिक्षुणी होना सामाजिक कर्तव्यों और साधारण कामकाज में दुरव्यवस्था उत्पन्न कर रहा था। इस प्रवृत्ति को रोकने और वर्णाश्रम को दृढ़ करने का प्रयत्न शुंग काल में लिखी हुई मनुस्मृति में स्पष्ट दिखायी पड़ता है। वर्ण और आश्रम की उपयोगिता और उनके कर्तव्यों की मर्यादा फिर विस्तार से स्पष्ट की गयी और उनके पालन पर बहुत जोर दिया गया। श्रमण-प्रवृत्ति को रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वान-प्रस्थ और सन्यास-आश्रमों का पालन क्रम से होना चाहिये और इनमें व्यतिक्रम नहीं करना चाहिये। जिन लोगों ने इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया उनकी गणना व्रात्य, वृषल, संकर और असभ्य तथा अर्द्ध-सभ्य अंत्यज (सभ्य समाज के किनारे पर रहने वाली) जातियों में होने लगी। विवाह आदि सामाजिक संस्थाओं के बंधन भी पहले की अपेक्षा कस दिये गये, यद्यपि अंतर्जातीय विवाह, भोज आदि की स्वतं-त्रता आंशिक रूप में अभी थी।

१०. साहित्य—वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत साहित्य को भी प्रोत्साहन मिला। संस्कृत के बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ

शुंगों के समय में लिखे गये। संस्कृत भाषा के परिवर्तित स्वरूप को स्थिर करने के लिये गोनर्द (युक्तप्रांत में गोंडा) के निवासी पतञ्जलि ने पाणिनि के अष्टाध्यायी-व्याकरण पर एक वृहत 'महाभाष्य' लिखा। यह महाभाष्य इस बात का प्रमाण है कि शुंग-काल में संस्कृत साहित्य बहुत व्यापक और उन्नत था। कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत के शांतिपर्व और अश्वमेध-पर्व के परिवर्धन में इस काल के पंडितों का हाथ था। वैदिक धर्मशास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण स्मृति—मनुस्मृति इसी काल में लिखी गयी। संभवतः कालिदास का बचपन भी शुंगों के अन्तिम समय में विदिशा में बीता था। इन लेखकों के अतिरिक्त दूसरे साहित्यकार भी इस काल में अवश्य ही हुये होंगे, किन्तु उनका इतिहास अतीत के गर्भ में छिपा हुआ है।

११. कला—शुंग राजा साहित्य और कला के आश्रयदाता थे और उनके समय में कला की भी उन्नति हुई। बेसनगर में स्थित गरुड़-स्तम्भ इस समय की कला का एक सुन्दर उदाहरण है। साँची और भर्हुत के कई स्तूप और उनकी वेष्टनी (घेरा) तथा तोरण उसी काल के बने हुये हैं। इन पर अंकित मूर्तियाँ और दृश्य, मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इनमें प्रकृति का सच्चा अनुकरण और सजीवता पायी जाती है। पत्थर में अंकित दृश्यों से स्थापत्य, चित्र, संगीत, वस्त्र, आभूषण, शृंगार आदि का ज्ञान भी प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक प्रभाव कला के अनुकूल नहीं था। भिक्षु-धर्म से ज्यों-ज्यों उपासक (गृहस्थ) धर्म की ओर इसका प्रचार होने लगा और व्यावहारिक जीवन से इसका सम्बन्ध बढ़ा त्यों-त्यों इसका कला-पक्ष भी विकसित होने लगा। यह प्रक्रिया अशोक के समय में स्पष्ट हो गयी। शुंग काल में सामाजिकता-प्रधान वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से कला के लोक-पक्ष को अधिक प्रोत्साहन मिला। साँची और भर्हुत की मूर्तियों में इसका साफ प्रमाण मिलता है।

## आ. काण्व-वंश

१. राज्यप्राप्ति—एक सौ बारह वर्ष के शासन के बाद शुंग-वंश ७३ ई० पू० में समाप्त हुआ। इसके बाद का काण्व-वंश भी ब्राह्मण वंश था और इसका संस्थापक वसुदेव शुंग-राजा देवभूति का अमात्य (मन्त्री) था। इससे यह मालूम होता है कि जो वैदिक प्रतिक्रिया

ब्राह्मणों के नेतृत्व में शुरू हुई थी वह अभी उनके नायकत्व में जारी थी; साथ ही यह भी प्रकट है कि इस काल में मन्त्रियों की शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी और दुर्बल राजाओं से राज-शक्ति छीन लेना उनके लिये आसान हो गया था। वसुदेव कारव ने किस प्रकार राज्य प्राप्त किया इसका वर्णन विष्णु-पुराण में इस प्रकार दिया हुआ है। "व्यसनी शुंग राजा देवभूति को उसी का अमात्य कारव वसुदेव मार कर पृथ्वी का स्वयं भोग करेगा।" हर्षचरित में इसका और स्पष्ट व्यौरा दिया है: "शुंगों के अमात्य वसुदेव ने रानी के वेश में देवभूति की दासी की लड़की द्वारा स्त्री-प्रसंग में अत्यन्त आसक्त और काम से विवश देवभूति को जीवनरहित (मृत) कर दिया।"

२. वसुदेव के वंशज—राज्य-प्राप्ति की घटना के अतिरिक्त वसुदेव और उसके वंशजों के सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय बात मालूम नहीं है। उन्होंने वैदिक धर्म और समाज की रक्षा की, किन्तु राजनीति में उनके समय में कोई प्रसिद्ध घटना नहीं हुई। वसुदेव ने नव वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद भूमिमित्र ने चौदह वर्ष और नारायण ने बारह वर्ष राज्य किया। नारायण के बाद इस वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा ने दस वर्ष तक राज्य किया। यह भी बृहद्रथ और देवभूति के ही समान दुर्बल था, यद्यपि उसके व्यसन और लम्पटता के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। २८ ई० पू० में आन्ध्र शिमुक (सिन्धुक) ने, जो कारवों की नौकरी में (संभवतः मन्त्री या सेनापति) था, सुशर्मा को मार कर मगध के साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।

३. मगध-साम्राज्य की क्षीणता—शुंग राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से बलशाली थे और उन्होंने मगध-साम्राज्य की रक्षा की। परन्तु उनके बाद साम्राज्य क्रमशः क्षीण होने लगा और कारव इसको रोक न सके। उत्तरापथ तो विदेशियों के हाथ में चला ही गया, पूरा दक्षिण भी उनके हाथ से निकल गया और पूर्वी पंजाब, सम्पूर्ण राजस्थान, आकर, अवन्ति सभी उनके अधिकार के बाहर चले गये। केवल बिहार और संयुक्त प्रान्त के प्रदेशों पर कारवों का अधिकार शेष रहा।

## ३. कारव-कालीन शक्तियां

(१) गणतंत्र—कई एक गण-राज्य उत्तर भारतमें मौर्यों और शुंगों

के समय में उनके अधीन होकर बचे रहे। उनमें से कई ( बाख्त्री ) यूनानी आक्रमण के समय पंजाब और सीमांत छोड़कर राजस्थान और मालवा में आ बसे। जब तक शुंग मगध-साम्राज्य पर शासन करते रहे इन गण-राज्यों को पूर्ण स्वतंत्र होने का अवसर नहीं मिला। परन्तु काण्वों के दुर्बल शासन में उन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर ली और अपने नाम के सिक्के चलाने लगे। इस समय में ऐसे गण पूर्वी पंजाब, राजस्थान, मध्यभारत, मालवा, आकर, अवन्ति, सिन्धु और सुराष्ट्र में पाये जाते हैं। इनमें मालव, यौधेय, मद्र, शिवि, आर्जुनायन, उत्तमसंकेत, शूद्र, वृष्णि, महाराज-जनपद, औदुम्बर आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें मालव और यौधेय सबसे अधिक संगठित और शक्तिशाली थे।

(२) राजतंत्र—काण्वों के समय में मगध-साम्राज्य के बाहर कई एक राजतंत्र भी थे। इनमें कलिंग, आन्ध्र, कर्णाट, पाण्ड्य और सिंहल पूर्व और दक्षिण में और पश्चिमोत्तर सीमान्त में यूनानियों के छोटे-छोटे राज्य थे।

(३) प्रथम शक-आक्रमण और विक्रमादित्य—काण्वों की क्षीण शक्ति पूर्वी और उत्तरी भारत के कुछ भाग तक सीमित थी। पूर्वी पंजाब, राजस्थान, मालवा, सुराष्ट्र और सिन्धु छोटे-छोटे गण-राज्यों में बँटा था। पश्चिमोत्तर सीमान्त में दुर्बल यवन किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये हुये थे। इस परिस्थिति में ७१ ई० पू० के लगभग शकों का प्रथम आक्रमण भारतवर्ष के ऊपर हुआ। सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरापथ की गणतंत्री जातियों और राजतंत्रों ने यूनानियों का सामना वीरता के साथ किया था, परन्तु वे सभी क्रमशः पराजित हुये। काण्वकालीन गण-जातियों ने सफलता के साथ शकों का विरोध किया। मालव-गण के प्रमुख विक्रमादित्य ने सभी गण-तंत्रों का विशाल संघ बनाया। शकों को कुछ प्रारम्भिक सफलता भी मिली थी और अवन्ति पर उन्होंने अधिकार भी कर लिया था। विक्रमादित्य के नेतृत्व में गण-संघ ने ५७ ई० पू० में शकों को मालवा में पराजित किया और देश के बाहर खदेड़ कर निकाल दिया। इस विजय के उपलक्ष्य में मालव-गण ने एक संवत् का प्रवर्तन किया जो प्रारम्भ में कृत, फिर मालव और अन्त में विक्रम-संवत् कहलाया। देश के इतिहास

में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी और विक्रम-संवत् आज भी भारत के बहुत बड़े भूभाग में प्रचलित है।

## ६. आन्ध्र-सातवाहन-वंश

(१) आंध्र-जाति की उत्पत्ति और विकास—इस जाति का प्राचीनतम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। इसके अनुसार विश्वामित्र के वंशजों ( ब्राह्मण शाखा के ) ने गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेश में जाकर आर्येतर स्त्रियों से विवाह किया। इस प्रकार जो जाति उत्पन्न हुई वह आन्ध्र कहलायी। यह आर्य-द्रविड के मिश्रण से बनी हुई जाति थी। वर्ण मे अपने को यह ब्राह्मण मानती थी। आन्ध्र-सातवाहन उत्कीर्ण लेखों में आन्ध्रों को 'सर्वोच्च ब्राह्मण' कहा गया है और 'दूसरे परशुराम के समान क्षत्रियों का मानमर्दन करने वाला' बतलाया गया है। किस परिस्थिति और समय में आन्ध्र ब्राह्मणों ने राजनैतिक जीवन अपनाया, यह बतलाना कठिन है। परन्तु इतना मालूम है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आन्ध्रों की शक्ति प्रबल थी। मेगस्थनीज़ के अनुसार मौर्यों के बाद सबसे बड़ी सेना आन्ध्रों की ही थी और उनके राज्य में तीस बड़े-बड़े नगर थे। इस समय आन्ध्रों की राजधानी श्री काकुलम् थी। बिन्दुसार के समय में आन्ध्र मगध-साम्राज्य में शामिल था। किन्तु अशोक के बाद वह फिर स्वतंत्र हो गया। दक्षिणापथ के ऊपर से मौर्यों का अधिकार उठ जाने पर आन्ध्र-सत्ता पूर्व से पश्चिम बढ़ती हुई महाराष्ट्र तक पहुंच गयी और उसकी राजधानी प्रतिष्ठान ( गोदावरी के किनारे पैठन ) में स्थापित हुई। इधर आने पर आन्ध्र सातवाहन (=शातवाहन, सिंह है वाहन जिनका) कहलाने लगे। इसलिये सुविधा के लिये इनको आन्ध्र-सातवाहन कहा गया है।

(२) भारतीय साम्राज्य पर अधिकार—पुराणों के अनुसार आन्ध्र काण्वों के भृत्य(नौकर )थे;संभवतः वे मगध के सम्राट् काण्वों के नाम-मात्र के सामन्त और अमात्य थे। २८ ई० पू० में शिमुक ( सिंधुक ) नामक आन्ध्र ने अंतिम काण्व राजा सुशर्मा को मार डाला और मगध-साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। महाभारत के बाद से पुराणों ने मगध को ही भारतीय साम्राज्य माना है और उसी क्रम में आन्ध्रों का

भी वर्णन किया है। परन्तु वास्तव में आन्ध्र एक दक्षिणी शक्ति थे और उनके अधीन भारतीय साम्राज्य का केन्द्र उत्तर भारत से दक्षिण खिसक गया। कुछ समय तक आन्ध्रों ने पूरे मगध-साम्राज्य पर राज्य किया, परन्तु उत्तरापथ पर विदेशी आक्रमणों के कारण और स्थानीय शक्तियों के उदय होने से उत्तर का साम्राज्य आन्ध्रों ने खो दिया और मुख्यतः दक्षिण और पश्चिम भारत के ही वे सम्राट् रहे। किंतु इसमें सन्देह नहीं कि लगभग तीन सौ वर्षों तक भारतीय राजनीति उन्हींके हाथ में केन्द्रित रही।

(३) आन्ध्रवंश के राजा—साम्राज्यवादी आन्ध्रवंश का संस्थापक शिमुक या सिंधुक था। इसने अंतिम काण्व राजा सुशर्मा को मारकर मगध-साम्राज्य अपने हाथ में कर लिया। शुंगों के कुछ वंशज मध्यभारत और दक्षिण बिहार में बचे थे; उनकी शक्ति को भी शिमुक ने नष्ट किया। शिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण (कन्ह) राज्य का अधिकारी हुआ। नासिक में मिले हुए एक शिला-लेख में उसका नाम पाया जाता है। इससे मालूम होता है कि महाराष्ट्र आन्ध्रों के अधीन था और उनका राज्य पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच फैला हुआ था। कृष्ण के पीछे शिमुक का पुत्र श्रीशातकर्णि सिंहासन पर बैठा। उसने महाराष्ट्र के महारथी की कन्या नागनिका से ब्याह कर अपना प्रभाव बढ़ा लिया। इसने दक्षिणापथ के कई प्रदेशों को, जो अभी आन्ध्रों के अधीन नहीं थे, जीता और दो बार अश्वमेध यज्ञ किया। धर्म और राजनीति की जो परम्परा शुंगों ने चलायी थी उसको श्रीशातकर्णि और दूसरे आन्ध्र राजाओं ने जारी रखा। विदिशा के आसपास मध्य भारत का प्रान्त शातकर्णि के समय में आन्ध्रों के अधीन था, यह बात साँची-स्तूप से मिले एक उत्कीर्ण लेख से प्रकट होती है। जिस समय श्री शातकर्णि का प्रखर प्रताप दक्षिणापथ और मध्य भारत में फैल रहा था उसी समय कलिंग में उसकी एक प्रतिद्वन्दी शक्ति खारवेल के रूप में उत्पन्न हुई। खारवेल ने 'पश्चिम के स्वामी शातकर्णि के बल की अवहेलना कर अपनी सेना उसके अधीन देशों में भेजी थी'। परन्तु कलिंग की शक्ति स्थायी नहीं हुई और आन्ध्रों पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

शातकर्णि के मरने के समय उसके दो लड़के वेदश्री और शक्तिश्री अवयस्क थे इसलिये उनकी मां नागनिका उनकी संरक्षिका

बनी और उसीकी देखभाल में राज्य-संचालन होता रहा। उसके बाद आन्ध्र-वंश का इतिहास अन्धकारमय है। इसी काल में लगभग ७८ ई० पू० शकों का दूसरा आक्रमण भारत पर हुआ और शकों ने महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार भारत का पश्चिमी भाग आन्ध्रों के हाथ से जाता रहा और उनकी शक्ति भी दबाव के कारण कम हो गई, यद्यपि उन्होंने शकों के पूरब की ओर बढ़ते हुए प्रवाह को रोक रखा। महाराष्ट्र में शकों का जो राजवंश स्थापित हुआ था उसका नाम क्षहरात था। क्षहरातों का आन्ध्रों से बराबर संघर्ष चलता रहा।

पहली शताब्दी के अन्त या दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में आन्ध्र वंश में हाल नाम का राजा हुआ। इसकी राजनैतिक कृतियों के बारे में कुछ नहीं मालूम है परन्तु भारतीय साहित्य में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। यह स्वयं कवि और साहित्यकारों और कलाविदों का आश्रयदाता था। इसने गाथा-सप्तशती नाम का एक प्राकृत मुक्तक काव्य लिखा। बृहत्कथा के लेखक गुणाढ्य और संस्कृत व्याकरण कातंत्र के लेखक उसकी राज-सभा में रहते थे।

**गौतमीपुत्र शातकर्णि**—आन्ध्र-सातवाहन-वंश का सबसे बलशाली और प्रतापी राजा हाल के कुछ समय पीछे गौतमीपुत्र शातकर्णि हुआ। इसका इतिहास इसकी माता गौतमी बलश्री के नासिक गुहा-लेख से मालूम होता है। इस लेख में शातकर्णि के दिग्विजय और चरित्र का विस्तृत वर्णन मिलता है—

(क) दिग्विजय—गौतमीपुत्र ने एक विशाल सेना लेकर सम्पूर्ण दक्षिणापथ और मध्यभारत का दिग्विजय किया। "उसके वाहनों (हाथी-घोड़े) ने तीन समुद्रों (पूर्वपयोधि, पश्चिमसागर और दक्षिण में हिन्द-महासागर) का जल पिया। × × × उसका राज्य ऋषिक (गोदावरी और कृष्णा के बीच का प्रदेश), अश्मक (गोदावरी का तटवर्ती प्रान्त) मूलक (पैठन के आसपास का भूभाग), सुराष्ट्र, कुकुर (उत्तर काठियावाड़), अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग), अनूप (नीमाड़ जिला), विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के ऊपर विस्तृत था। × × × सभी राजाओं ने उसके शासन को स्वीकार किया।" इस वर्णन से मालूम होता है कि गौतमीपुत्र ने सुदूर दक्षिण

के राज्यों, अवन्ति, सुराष्ट्र, महाराष्ट्र के शक राज्यों और मध्यभारत तथा राजपूताना के गण-राज्यों के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इन राज्यों में बहुत से क्षत्रिय-राज्य भी थे। इसलिये वह 'क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करने वाला' कहा गया है।

(ख) विदेशियों से विशेष संघर्ष—गौतमीपुत्र के दिग्विजय में महाराष्ट्र के क्षहरातों का विशेष रूप से उल्लेख है। क्षहरातों के महाराष्ट्र-विजय से सातवाहन-कुल की धाक उखड़ गयी थी। इसलिये गौतमीपुत्र ने 'क्षहरातों (महाराष्ट्र के शकों) का समूल विनाश कर अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थापित की।' क्षहरातों को नष्ट और अवन्ति तथा सुराष्ट्र के शकों को अधीन करने के बाद उसने पश्चिमोत्तर भारत के शक, यवन और पह्लवों को भयभीत कर दिया। यह प्रशस्ति केवल अतिरंजन नहीं है, इसका प्रमाण नासिक जिले में जोगलथंबी में मिले हुये सिक्कों के ढेर में मिलता है। महाराष्ट्र के शक शासक नहपान के बहुत से चाँदी के सिक्के इस ढेर में मिलते हैं जो गौतमीपुत्र की मुद्रा से दुबारा अंकित हैं। इससे स्पष्ट है कि शक-राज्य का उन्मूलन कर उसने अपना राज्य वहाँ स्थापित किया।

(ग) शासन-प्रबंध—गौतमीपुत्र दिग्विजयी होने के साथ-साथ एक आदर्श शासक भी था। वह अपने पौरजनों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझता था। × × × सभी कुटुम्बियों की उन्नति करने वाला था। × × × वह प्रजा पर धर्मानुकूल कर लगाता था और अपराधियों के साथ नर्मी का व्यवहार करता था।' उत्कीर्ण लेखों और पुराणों से गौतमीपुत्र की शासन-पद्धति और व्यवस्था का संतोषजनक विवरण नहीं मिलता। याज्ञवल्क्यस्मृति इसी काल में लिखी गयी थी, अतः आन्ध्रों की शासन-पद्धति की इस पर पूरी छाप है। इससे मालूम होता है कि राज्य का केन्द्रीय शासन और न्यायव्यवस्था बहुत अच्छी तरह से संगठित थी।

(घ) वैदिक धर्म और वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना—नासिक की प्रशस्ति में गौतमीपुत्र वेदों का आश्रय और एक ( पूर्ण ) ब्राह्मण कहा गया है। वास्तव में शुंग-काल में वैदिक धर्म का जो पुनुरुत्थान प्रारम्भ हुआ था, वह अभी तक चल रहा था। आन्ध्रों की धार्मिक नीति वही थी जो शुंगों की। वैदिक धर्म को प्रोत्साहन देने के अति-

रिक्त गौतमीपुत्र ने सामाजिक सुधार भी किया। चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में जो संकर (मिश्रण) उत्पन्न हो गया था (बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण) उसको हटाया।

वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी—गौतमीपुत्र शातकर्णि के बाद उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी १३० ई० पू० के एक-आध वर्ष पहले राज्य का अधिकारी हुआ। इसके समय में भी आन्ध्र-साम्राज्य शक्तिमान् बना रहा। परन्तु उज्जयिनी के शकों के फिर बलशाली हो जाने के कारण मध्यभारत और गुजरात के प्रदेश फिर आन्ध्र-साम्राज्य से बाहर निकल गये। उज्जयिनी के महाक्षत्रप रुद्रदामन के गिरिनार-लेख से मालूम होता है कि उसका पितामह चाष्टन महाक्षत्रप था; उसका पिता जयदामन (गौतमीपुत्र के विजयों के कारण) क्षत्रप (अधीन राजा) मात्र रह गया था। परन्तु रुद्रदामन ने शक-शक्ति का फिर संगठन कर कई प्रदेशों के ऊपर विजय किया। "दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि (वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी) को दो बार हराया, परन्तु निकट सम्बन्ध (वैवाहिक सम्बन्ध) के कारण उसके राज्य का उत्सादन नहीं किया।" वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी का विवाह (कान्हरी-लेख के अनुसार) रुद्रदामन की लड़की से (गौतमीपुत्र के समय) हुआ था। आन्ध्र-साम्राज्य के विनाश न करने में केवल विवाह-सम्बन्ध ही कारण था, यह माना नहीं जा सकता। उज्जयिनी के शकों की तुलना में आन्ध्रों का साम्राज्य बहुत विशाल और साधन अधिक थे। इस साम्राज्य के पश्चिमोत्तर छोर के अतिरिक्त शक-शक्ति अधिक नहीं पचा सकती थी। गौतमी बलश्री की नासिक-प्रशस्ति में मालूम होता है कि पुलुमावी इस घटना के बाद भी दक्षिणापथेश्वर बना रहा। इसने लगभग १५५ ई० पू० तक राज्य किया।

यज्ञश्रीशातकर्णि— पुलुमावी के उत्तराधिकारियों में आन्ध्रवंश का सबसे प्रसिद्ध और शक्तिशाली राजा यज्ञश्रीशातकर्णि हुआ। उसने लगभग १६५ से १६५ ई० पू० तक राज्य किया। थाना और नासिक जिलों में उसके मिले हुये उत्कीर्ण लेखों और उसके सिक्कों के प्राप्तिस्थान से मालूम होता है कि आन्ध्रों की उखड़ती हुई शक्ति को सँभाला और पूर्व पयोधि और पश्चिम सागर के बीच सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर फिर आन्ध्र-साम्राज्य की दृढ़ स्थापना की। गुजरात और सुराष्ट्र (काठियावाड़) का

वह भाग जिसको रुद्रदामन ने जीत लिया था, यज्ञश्री ने फिर वापस कर लिया। यह बात उसके उन सिक्कों से सिद्ध होती है जिनको उसने उज्जयिनी के क्षत्रपों के चांदी के सिक्कों के ढंग पर इन प्रदेशों में प्रचार के लिये चलाया था। यज्ञश्री के सुव्यवस्थित शासन-काल में वाणिज्य-व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। इसके एक प्रकार के सिक्के मिले हैं जिन पर दो मस्तूल वाले जहाजों के चित्र अंकित हैं। ये सिक्के इस बात के द्योतक हैं कि इस समय भारत का समुद्र-मार्ग से बाहरी देशों से व्यापार होता था।

अंतिम आन्ध्र-शासक—यज्ञश्री के बाद आन्ध्र-साम्राज्य क्रमशः क्षीण होता गया। उसके उत्तराधिकारियों में ऐसा कोई नहीं था जो प्रक्रिया को रोकता। विजय, चन्द्रश्री, चतुर्थ पुलुमावी आदि नाममात्र के राजा थे। आन्ध्र-साम्राज्य का अन्त लगभग २२५ ई० पू० हुआ। इस के पतन के कई कारण हुये। आन्ध्रों और शकों ने परस्पर की लम्बी शत्रुता और लड़ाइयों से एक दूसरे को दुर्बल कर दिया। इसी समय ईश्वरदत्त के नेतृत्व में आभीरों की एक प्रबल शक्ति आन्ध्र-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग में विकसित हुई और आभीरों ने महाराष्ट्र पर अधिकार जमा लिया। इस आघात से आन्ध्र-वंश सँभल भी न पाया था कि पूर्व में इक्ष्वाकु वंशियों और सुदूर दक्षिण में पल्लवों ने विद्रोह कर के अपना-अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसके बाद आन्ध्र-सत्ता अपने मूलस्थान आन्ध्र में स्थानीय शक्ति के रूप में कुछ दिन और बची रही।

## ४. आन्ध्रों की समकालीन कुछ शक्तियां

(१) कलिंग का चेदिवंश—अशोक के देहान्त के कुछ ही समय बाद कलिंग मौर्य-साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गया था। इसकी अनिश्चित राजनैतिक अवस्था के लगभग २०० वर्ष बीतने पर यहाँ एक चेदिवंश की स्थापना हुई। संभवतः अशोक के पहले भी कलिंग में इसी वंश का राज्य था। ईसा के जन्म के कुछ समय पहले इस चेदिवंश में महामेघवाहन श्री खारवेल नाम का बड़ा प्रतिभाशाली और विजयी राजा हुआ। इसकी कृतियों और विजयों का विस्तृत वर्णन भुवनेश्वर के पास उदयगिरि के हाथी-गुम्फा-लेख में मिलता है। इसका सारांश नीचे दिया जाता है :

पंद्रह वर्ष की अवस्था तक बाल-क्रीड़ाओं से गौर वर्णवाले उसके सुन्दर शरीर का विकास हुआ। इसके बाद उसने अपने युवराजपद के नव वर्ष लेख, रूप (मुद्रा), गणना (गणित), व्यवहार (न्याय), विधि (मीमांसा, तर्क आदि) और दूसरी विद्याओं के सीखने में बिताया। चौबीसवें वर्ष में उसका राज्याभिषेक हुआ। अपने शासन के प्रथम वर्ष में भग्न गोपुर (राजधानी का मुख्य द्वार), प्राकार (नगर का परकोटा) और राजभवनों की उसने मरम्मत करायी; पोखरे और बावली खुदवाये; सभी प्रकार के उद्यान लगवाये; और कई लाख मुद्रा खर्च करके प्रजा का मनोरंजन किया। दूसरे वर्ष में आन्ध्र-राजा शातकर्णि की चिन्ता न कर पश्चिम दिशा में हाथी-घोड़े-पैदल रथ से बहुत सेना भेजी; कृष्णा नदी के किनारे सेना भेजकर ऋषिकनगर को त्रस्त किया। स्वयं गंधर्व वेद में निपुण तीसरे वर्ष में उसने मल्लयुद्ध, नृत्य, गीत, वाद्य के प्रदर्शन और उत्सव-समाजों से राजधानी को प्रसन्न किया। चौथे वर्ष खारवेल ने राष्ट्रिक और भोजकों के राजचिह्न और सम्पत्ति छीन कर उनसे अपने चरणों की वन्दना करायी। पाँचवें वर्ष में नन्द-संवत् ३०० में उद्घाटित एक जल-प्रणाली को (और बढ़वाकर) राजधानी के भीतर तक ले आया। छठवें वर्ष में अपने राज्यैश्वर्य का प्रदर्शन करते हुए पौर और जानपद कल्याण के लिये लाखों मुद्राओं का उत्सर्ग किया। आठवें वर्ष में गोरथगिरि को गिराकर राजगृह का उत्पीडन किया। इस युद्ध के आतङ्क से यवन-राज डिउमेत (डायोमेडीज़) मथुरा भाग गया। दसवें वर्ष में दण्ड (सेना), सन्धि और साम (समझौता) उपायों का अवलम्बन करनेवाला खारवेल भारतवर्ष-प्रस्थान (भारत-विजय के लिये प्रस्थान) किया। ग्यारहवें वर्ष में भागे हुए शत्रुओं का मणि-रत्नादि प्राप्त किया और उनके राजप्रासादों पर हल चलवा दिया। बारहवें वर्ष में उत्तरापथ के राजाओं में भय उत्पन्न किया; मागधों को त्रस्त करता हुआ अपने हाथी और घोड़ों को गंगा-जल पिलाया; मगधराज बहस्पति मित्र से पादवन्दना करायी; नन्दराज द्वारा अपहृत कलिंग-जिन की मूर्ति वापस की; मगध और अंग की सम्पत्ति का अपहरण किया। तेरहवें वर्ष में पाण्ड्य-राज से मुक्तामणि-रत्न का अपहरण किया। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। वह बहुत उदार और बड़ा दाता था। उसने जैन-साधुओं के उपयोग के लिए बहुत से गुहा-विहार और गुहा-मंदिर बनवाये।"

ऊपर के वर्णन से मालूम होता है कि खारवेल ने उस समय की राजनैतिक स्थिति में उथल-पुथल मचा दी थी, यद्यपि इसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। वह इतिहास में उल्का की तरह आया और थोड़ी देर चमककर विलीन हो गया। उसके शासन के तेरहवें वर्ष के बाद उसका और उसके वंश का क्या हुआ, यह कहा नहीं जा सकता।

(२) सुदूर दक्षिण के राज्य—हम पहले देख चुके हैं कि अशोक के समय में द्राविडराज्य चोल, पाण्ड्य, चेर, सतियपुत्त और केरलपुत्त मौर्य साम्राज्य के बाहर थे। आन्ध्रों ने बार-बार इस बात का दावा किया है कि वे दक्षिणापथेश्वर (विन्ध्य के दक्षिण में सारे भारत के स्वामी) थे। कम-से-कम यज्ञ श्री के समय तक द्राविड राज्य आन्ध्रों के अधीन थे। इसके बाद वे स्वतन्त्र हो गये। पुराने नामों के स्थान में इस समय चोल, पाण्ड्य और केरल के ही नाम सुनने में आते हैं और आन्ध्र साम्राज्य के पतन के समय तक पल्लवों की शक्ति का भी उदय हो गया था।

## ५. आन्ध्रकालीन राजनीति, समाज और संस्कृति

(१) राजनीति (क)—इस काल की मुख्य राज्य-प्रणाली एक-तांत्रिक थी। सम्पूर्ण दक्षिण-पथ में इसी का प्रचार था। परन्तु सुराष्ट्र, मध्यभारत, पंजाब और राजपूताना में गण-राज्य भी वर्तमान थे। शकों के आक्रमण से सिन्धु और सुराष्ट्र के कुछ गण नष्ट हो गये, किन्तु मध्य-भारत, राजपूताना और पंजाब के बहुत से गण स्वाधीन या अधीन अवस्था में सुरक्षित थे। इन दोनों प्रकार के राज्यों ने विदेशी आक्र-मणकारियों का घोर विरोध किया। आन्ध्रों ने तो दक्षिणापथ से शकों को निर्मूल करके ही छोड़ा। मध्यभारत और राजपूताने के गण-राज्य उज्जयिनी से शकों को निकाल न सके, परन्तु वे उज्जयिनी और मथुरा के बीच में अटल दीवार की तरह खड़े रहे और शकों के दोनों पंजों को कभी मिलने नहीं दिया।

(ख) राज्य की कल्पना मौर्य और शुंग-काल की कल्पना से ही प्रभावित थी। राज्य के सात अंग माने जाते थे—(१) स्वामी (२) अमात्य (३) जन (४) दुर्ग (५) कोष (६) दण्ड (सेना) (७) मित्र। इसके अनुसार राज्य राजा की निजी सम्पत्ति नहीं समझा जाता था; राजा स्वयं उसका अंग था; सबकी समष्टि का नाम राज्य था।

(ग) राज्य का एक अंग होते हुये भी स्वामी या राजा का स्थान राज्य में प्रमुख था। उसके हाथ में राज्य की अंतिम शक्ति होती थी। परन्तु राजा निरंकुश नहीं हो सकता था। उसके ऊपर शताब्दियों से मान्य धर्मशास्त्र का नियंत्रण होता था। वह स्वयं राज्य-संचालन के नियम या कानून नहीं बना सकता था। प्रकृति अथवा प्रजा में इतनी राजनैतिक चेतना थी कि प्रकृति-रंजन राजा के लिए आवश्यक समझा जाता था। धर्मशास्त्र के अनुसार उस समय जो राज्य का विधान था उसके अन्तर्गत राजा को 'बुद्धिमान' (प्राज्ञ) कुलीन, (मौल), विशुद्ध (शुचि) और मंत्रियों की नियुक्ति को आवश्यक माना गया था तथा राजा उनके परामर्श से ही राज्य की चिंता करता था। राजा के मुख्य कर्तव्यों में प्रजारंजन, प्रजापालन और प्रजारक्षण शामिल थे। इसमें राजा के सैनिक, शासनसम्बन्धी और न्यायसम्बन्धी कर्तव्य आ जाते थे। मंत्रियों की सहायता से राजा 'अलब्ध की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि और वृद्ध का योग्य पात्रों में वितरण' करता था। सारा केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन अमात्यों (राज्य कर्मचारियों) के द्वारा होता था। महाभोज, महारठी, महासेनापति प्रान्तों अथवा राष्ट्रों के शासक थे। भाण्डागारिक मुख्य कोषाध्यक्ष होता था। अन्य अधिकारी महामात्र या अमात्य कहे जाते थे।

(घ) स्थानीय स्वशासन—पौर (नगर-सभा), ग्राम-सभा निगम (श्रेष्ठियों की सभा), श्रेणी (व्यापारियों की सभा), जाति और गण (समूह) के द्वारा स्थानीय शासन होता था। इन संस्थाओं को अपने लिये नियम बनाने और आन्तरिक शासन की स्वतन्त्रता थी।

(२) समाज—वर्ण और आश्रम इस समय भी सामाजिक संगठन के आधार थे। इसी काल में लिखी हुई याज्ञवल्क्य स्मृति में चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—और चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास—के आचार और कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। आन्ध्रों और उनकी समकालीन शक्तियों के उत्कीर्ण लेखों में चार वर्णों के अतिरिक्त और वर्गों का भी उल्लेख है, जो सरकारी नौकरी और व्यवसाय के आधार पर बने हुये थे। महाभोज, महारठी और महासेनापति का सबसे ऊँचा वर्ग माना जाता था। अमात्य, महामात्र और भाण्डागारिक आदि सरकारी नौकरों और

नैगम ( श्रेष्ठ गण ) सार्थवाह ( व्यापारी गण ) आदि गैर-सरकारी नागरिकों से जो वर्ग बनता था उसका स्थान दूसरा था। तीसरे वर्ग में वैद्य, लेखक, सुवर्णकार, गांधिक, हालकीय ( कृषक ) इत्यादि सम्मिलित थे। चौथे वर्ग में मालाकार, वर्धकि (बढ़ई), दासक, (मछुआ), लोहवणिज ( लुहार ) आदि शामिल थे। समाज की इकाई कुटुम्ब था। इसके प्रधान को कुटुम्बिन् कहते थे।

समाज में स्त्रीत्व का विशेष आदर का स्थान था। राजाओं के नाम के साथ गौतमीपुत्र, वासिष्ठीपुत्र, माठरीपुत्र आदि मातृ परक-पदवियाँ इस बात की द्योतक हैं। अन्तर्जातीय और वर्णान्तर विवाह होते थे। आन्ध्रवंशीय राजा ब्राह्मण थे। उनमें से प्रथम शातकर्णि ने ( संभवतः ) क्षत्रियवर्ग के अंगकुलीय महारठी की कन्या नागनिका और वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावी ने महाक्षत्र रुद्रदामन ( शक = व्रात्य क्षत्रिय ) की लड़की से विवाह किया।

(३) धर्म—बौद्ध धर्म से प्रतिक्रिया और आन्ध्रों का राज्याश्रय पाकर वैदिक धर्म का इस समय विशेष उत्कर्ष हुआ। वैदिक देव मण्डल के इन्द्र, वरुण, यम, चन्द्र, सूर्य आदि देवताओं के नाम प्रायः उत्कीर्ण लेखों में मिलते हैं। वैदिक यज्ञों में अश्वमेध, राजसूय, अग्न्याधेय, अनारम्भणीय, आप्तोयाम, दशातिरात्र, गर्गातिरात्र, गवामयन आदि यज्ञों का अनुष्ठान होता था और इनमें ब्राह्मणों और दर्शकों को प्रचुर, दक्षिणा और दान मिलते थे। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ पौराणिक और वैष्णव धर्म का उदय होता हुआ भी दिखाई पड़ता है। वैदिक देवमंडल के साथ ही धर्म, शिव, कुबेर लोकपाल आदि पौराणिक और वासुदेव—संकर्षण आदि पांचरात्र वैष्णव सम्प्रदाय के देवताओं के नाम भी उत्कीर्ण लेखों में पाये जाते हैं। इसका कारण यह था कि अपने पूर्व रूप में वैदिक धर्म का पुनुरुत्थान असंभव था। वैष्णव धर्म जो ईश्वर को मानव रूप में देखता और मनुष्य के नैतिक आचरण पर अधिक जोर देता था; धीरे-धीरे लोकप्रिय होता जा रहा था। इस धर्म को यवन और शक भी अपना रहे थे। कारले के गुहा-लेखों में दो यवनों के नाम धर्म और सिंहध्वज पाये गये हैं। शक शासक उषवदात का नाम संस्कृत है और वह पक्का वैदिक धर्म का मानने वाला था।

वैदिक धर्म के पक्के अनुयायी होते हुये भी आन्ध्रों ने दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों पर कोई अत्याचार नहीं किया, इसके बदले उनका प्रश्रय और दान सबके लिये खुला हुआ था। आन्ध्र साम्राज्य के पश्चिमी भाग में बौद्ध धर्म का प्रचार और बौद्ध भिक्षुओं का काफी आदर था। राजा और प्रजा दोनों ही बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिये गुहा-विहार बनवाते और उनके भोजन-वस्त्र की व्यवस्था के लिये स्थायी निधि का दान करते थे, जो उस समय के बैंक— निगम और श्रेणी —में रखी जाती थी। भाजा, कारले और नासिक में इस प्रकार के कई-कई गुहा-विहार और चैत्य बनवाये गये थे। कलिंग में जैनधर्म का प्रचार था। भुवनेश्वर के पास उदयगिरि और खंडगिरि की पहाड़ियों में इस काल की जैन धर्म की बहुत सी कृतियाँ पायी जाती हैं।

(४) आर्थिक जीवन—लोगों की मुख्य जीविका तो अब भी खेती ही थी। परन्तु आन्ध्रों के लम्बे और सुव्यवस्थित शासन-काल में उद्योग और व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। बहुत से व्यवसाय वालों ने अपनी-अपनी सामूहिक संस्थायें बना ली थीं, जैसे धानिक ( अनाज के व्यवसायी ), कुम्भकार ( मिट्टी के बर्तन बनाने वाले ) कोलिकनिकाय ( बुनकर ), तिलपिषक (तेली), कासाकर (काँसे के बर्तन बनाने वाले), वंशकर ( बाँस का काम करने वाले ), गांधिक ( सुगंधित पदार्थों का व्यवसाय करने वाले) आदि। इन व्यवसायों के अपने निकाय, निगम या श्रेणियाँ (सामूहिक संस्थायें) थीं जो व्यवसायों का संगठन करतीं, कार्य-संचालन के नियम बनातीं, पूंजी आदि की व्यवस्था करतीं और बैंक के रूप में व्याज पर दूसरों की निधियाँ रखतीं तथा अपना धन व्याज पर दूसरों को उधार देतीं थीं।

देश के विभिन्न प्रदेशों और नगरों को मिलाने वाली सड़कें और मार्ग बने हुए थे, जिनसे होकर व्यापार के रास्ते चलते थे और वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। दक्षिण भारत में पैठन, तगर, नासिक, जुन्नार, कहाटक ( करहाड ) आदि नगर प्रसिद्ध व्यापार के केन्द्र थे। पश्चिम के देशों से समुद्री व्यापार भी होता था। पश्चिमी तट के प्रसिद्ध बन्दरगाह भड़ोच, सोपार, कल्याण आदि थे जहाँ से जहाज पश्चिमी देशों के लिये रवाना होते थे और बाहर के जहाज आकर ठहरते थे।

व्यापार, क्रय-विक्रय और विनिमय के लिये कई प्रकार के सिक्कों का प्रचार था। सबसे बड़ा सिक्का सुवर्ण था जो चाँदी के ३५ कार्षापण के बराबर होता था। इसके नीचे चाँदी का कुपण नाम का सिक्का था। कार्षापण सबसे छोटे चाँदी और तांबे के सिक्के होते थे जो साधारण व्यवहार में आते थे।

(५) साहित्य और कला—आन्ध्र-राजाओं में स्वयं कई एक विद्वान और विद्या और कला के आश्रयदाता थे। आन्ध्र शासक वैदिक धर्म और संस्कृत के पोषक थे। परन्तु प्राकृत भाषा और साहित्य को भी इनके द्वारा प्रोत्साहन मिला। उनके राजकीय लेखों में सभी जगह प्राकृत का ही प्रयोग पाया जाता है, यद्यपि उस पर संस्कृत की गहरी छाप है। हाल नामक राजा प्राकृत का अच्छा कवि था। उसने शृङ्गार रस का गाथा सप्तशती नाम का सुन्दर मुक्तक काव्य लिखा। उसकी राज-सभा में रहने वाला गुणाढ्य बृहत्कथा नामक कथा-ग्रन्थ का रचयिता था उसने पैशाची प्राकृत में इसकी रचना की थी। संस्कृत व्याकरण को तंत्र का लिखने वाला सर्ववर्मन भी हाल की ही राज-सभा में रहता था। नासिक, कारले और भाजा में गुहा-विहार और गुहा-चैत्य के अत्यन्त सुन्दर भवन इसी समय के बने हुये हैं। इनकी यन्त्र-कला, भवन-निर्माण-शैली और सजावट अद्भुत है। कई स्थानों पर इनकी छतों और दीवारों पर चित्रकारियाँ भी थीं जो रंग-बिरंगे लेपों से तैयार की गयी थीं।

# तेरहवां अध्याय

## विदेशियों के आक्रमण

### अ. बाख्त्री-यवन

भूमिका—सेल्यूकस निकेटर ने ३०५ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ अपनी शक्ति की परीक्षा की। इस समय से लेकर २१२ ई०पू० तक एशिया के यवन भारत के मित्र बने रहे और इस देश को बाहरी आक्रमण की कोई आशङ्का नहीं थी। परन्तु इस बीच में यवनों के एशियायी साम्राज्य और भारत के मौर्य-साम्राज्य में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे यहाँ यवनों का आक्रमण संभव हुआ। लगभग २५० ई० पू० पार्थिया और बैक्ट्रिया सेल्यूकस के वंशजों के साम्राज्य से अलग हो गये। बैक्ट्रिया के प्रान्तीय शासक प्रथम डायोडोटस ने विद्रोह किया और उसका पुत्र द्वितीय डायोडोटस पूरा स्वतन्त्र हो गया। अशोक के बाद जब कि मौर्य साम्राज्य क्रमशः दुर्बल होने लगा, बैक्ट्रिया में एक नये और शक्तिशाली राजवंश की स्थापना भारत के लिए एक संकट की बात थी। सेल्यूकस के वंशज तृतीय एंटियोकस ने २१२ ई० पू० के लगभग इस नयी शक्ति को दबाने का विफल प्रयत्न किया। उसको बैक्ट्रिया के तत्कालीन शासक यूथीडिमस की स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी। निराश होकर उसने हिन्दूकुश को पार किया और सिकन्दर के जीते हुए भारतीय प्रदेशों को वापस लेने के लिये भारत पर चढ़ाई की। परन्तु मौर्यों की शक्ति अभी प्रबल थी और गांधार के शासक सुभागसेन से सन्धि करके उसको वापस जाना पड़ा। इसके बाद सेल्यूकस के वंशजों को इस बात का साहस नहीं हुआ कि वे पूर्व के देशों को फिर जीतने की चेष्टा करते और बैक्ट्रिया के (बाख्त्री) यवन पूर्वी क्षेत्र में बिल्कुल स्वतंत्र और शक्तिशाली हो गये।

**१. भारत पर डिमिट्रियस का आक्रमण**—यूथीडिमस का पुत्र डिमिट्रियस एक बड़ा कुशल सैनिक नेता था। वह सिकन्दर की विजयों

से प्रभावित था और भारत में जिस काम को सिकन्दर ने अधूरा छोड़ा था उसको पूरा करना चाहता था। उसकी योजना थी कि मगध-साम्राज्य के मुख्य सैनिक और राजनैतिक केन्द्रों पर एक साथ आक्रमण कर सारे उत्तर भारत पर अपना अधिकार जमा ले। इस उद्देश्य से उसने लगभग १८३ ई० पृ० अपने दो प्रधान सेना-नायकों मिनाण्डर और अपॉलोडोटस के साथ भारत पर आक्रमण किया। समय का चुनाव जान-बूझकर किया गया था; अभी मौर्य-वंश का अन्त हुआ था और शुंगों की शक्ति स्थिर नहीं हो पायी थी; पश्चिमोत्तर की बौद्ध संस्थाओं में मौर्यों के प्रश्न पर बड़ा असंतोष था। तक्षशिला पहुँच कर उसने अपनी सेना को दो भागों में बाँट दिया। एक भाग मेनाण्डर के नेतृत्व में शाकल, मथुरा, पांचाल, साकेत (अयोध्या) और कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) को जीतने के लिये पूर्व भेजा गया और दूसरा भाग सिन्धु नदी के रास्ते से अवन्ति (उज्जयिनी), माध्यमिका (चित्तौर के पास नगरी) विदिशा (बेसनगर) जीतकर मथुरा पहुँच जाने के लिये अपॉलोडोटस के नेतृत्व में चला। यवन सेना बड़ी तेजी के साथ कुछ को छोड़ कर ऊपर के नगरों में पहुँच गयी। भारतीय साहित्य में इन यवन-आक्रमणों के स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। पुष्यमित्र के समकालीन पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में लिखा है : "यवन ने साकेत (अयोध्या को घेरा। यवन ने माध्यमिका को घेरा।" इससे अधिक विस्तृत उल्लेख वृहत्संहिता के युगपुराण में मिलता है : "इसके पश्चात् साकेत, पाञ्चाल और मथुरा को आक्रांत कर दुष्ट किंतु लड़ाकू यवन कुसुमध्वज पहुँचेंगे। युद्ध में कठिनाई से मर्दन करने योग्य यवन मध्यदेश में ठहरेंगे नहीं। उनमें परस्पर अवश्य ही वैमनस्य होगा जिससे उनके अपने ही राज्यों को उखाड़ देनेवाला परम दारुण और घोर युद्ध होगा।" दो राजवंशों के सन्धि-काल में देश के भीतर जल्दी से घुस जाना आसान था। परन्तु यवनों के मध्यदेश में न ठहरने के मुख्य कारणों में शुंगों की प्रबल शक्ति भी थी। शुंगों ने मध्यदेश में अपनी परिस्थिति शीघ्र सुधार ली और यवनों को वहाँ ठहरने न दिया। उन्होंने यवनों का भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक पीछा किया। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में लिखा है कि पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र जब शुंगों की दिग्विजयिनी सेना के साथ पश्चिमी भारत का चक्कर लगा रहा था

तब यवनों ने अश्वमेध का घोड़ा पकड़ लिया; घोर युद्ध में यवनों को हरा कर वसुमित्र घोड़ा वापस लाया। ऐसा जान पड़ता है कि विदिशा में शुंगों की सेना का जमघट होने के कारण यवन सेना अवन्ती छोड़ कर माध्यमिका पहुँची, परन्तु मथुरा की यवन-सेना से सम्पर्क नहीं स्थापित कर सकी। इस तरह मध्यदेश, मध्यभारत, राजस्थान और पूर्वी पंजाब में यवनों के पैर नहीं ठहर सके। किन्तु सीमान्त, पश्चिमी पञ्जाब और सिन्धु में डिमिट्रियस ने अपना अधिकार जमा लिया। इन प्रान्तों में यवन-सफलता के मुख्य कारण थे। (१) दूरी के कारण यहाँ शुंगों की पर्याप्त शक्ति का अभाव। (२) जनता में विदेशी तत्व का यवनों से सहानुभूति और (३) बौद्धों में असंतोष और यवनों से सहयोग। इन प्रदेशों में उसने कई एक यूनानी उपनिवेश और नगर बसाये और उनका नाम अपने पिता (जैसे यूथेडीमिया) और अपने (जैसा दत्तामित्री) नाम पर रखा। अपने विजित भारत के भागों में उसने दोभाषी सिक्के चलाये जिनके एक ओर यूनानी भाषा और लिपि और दूसरी ओर प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि में राजा का नाम और उपाधियाँ लिखी हैं।

(२) यूक्रेटाइडीज का आक्रमण—भारत के सीमान्त में डिमिट्रियस को सफलता मिली, परन्तु बैक्ट्रिया का पैतृक राज्य उसके हाथ से जाता रहा। उसके प्रतिद्वन्द्वी यूक्रेटाइडीज ने, जो सेल्यूकस की शाखा का था, बैक्ट्रिया पर अपना अधिकार जमा लिया। भारत छोड़ कर डिमिट्रियस बैक्ट्रिया लौटा, किन्तु वह अपना राज्य वापस न कर सका। यूक्रेटाइडीज केवल बैक्ट्रिया से सन्तुष्ट न था। हिन्दूकुश को पार कर उसने यूनानियों के आधीन भारतीय प्रदेशों पर भी आक्रमण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी भारत दो भागों में बँट गया—(१) पूर्वी भाग जिसके ऊपर यूथीडिमस के वंशजों का राज्य था और जिसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी (२) पश्चिमी भाग जिसके ऊपर यूक्रेटाइडीज के वंशजों का अधिकार था और जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। इन दोनों वंशों के लगभग चालीस यवन राजाओं ने यहाँ राज्य किया जिनका पता मुख्यतः उनके सिक्कों से लगता है। परन्तु उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री इतनी कम है कि उनके बारे में विशेष रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

(३) मिनाण्डर (मिलिन्द)—यूथीडिमस के वंशजों और सम्बंधियों में मिनाण्डर, अपॉलोडोटस, एगाथॉक्लीज, पैंटेलियन, एँटिमेकस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से केवल मिनाण्डर को ही भारतीय साहित्य में स्थान मिला है। वास्तव में वह कुशल सेना-नायक और योग्य शासक था। डिमिट्रियस की अध्यक्षता में उत्तर भारत का आक्रमण उसी का काम था और इस देश में यवनों की शक्ति-स्थापना में उसका बहुत बड़ा हाथ था। परन्तु भारत में उसकी प्रसिद्धि तो उसके बौद्ध हो जाने के कारण ही है। पाली-ग्रंथ मिलिन्दपञ्ह (मिलिन्द-प्रश्न) के अनुसार मिलिन्द (मिनाण्डर) ने बौद्ध-सन्त नागसेन से धर्म और दर्शन-सम्बन्धी बहुत से कठिन प्रश्न पूछे और उन्हीं के प्रभाव से बौद्ध हो गया। एक स्यामी अनुश्रुति के अनुसार मिलिन्द ने अर्हत्-पद को प्राप्त किया। मिनांडर के सिक्कों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि वह धार्मिक बौद्ध था। उसके कुछ सिक्कों पर बौद्ध 'धर्मचक्र' और 'ध्रमिक' (धार्मिक) उपाधि पायी जाती है। मिनांडर के उदाहरण से मालूम होता है कि भारत की सांस्कृतिक शक्ति विदेशियों के आक्रमण से भी क्षीण नहीं हुई थी और राजनैतिक विजेता भी उसके विजित हो जाते थे।

(४) ऐंटियालकिडस (अंतलिकिदस)—यूक्रेटाइडीज के वंशजों में उसके बाद हेलिओक्लीज हुआ। यूनानी लेखक जस्टिन के अनुसार उसने अपने पिता को मार कर राज्य प्राप्त किया, यद्यपि इस बात को टार्न जैसे इतिहासकार नहीं मानते हैं। यह एक शक्तिमान राजा था जिसके हाथ में बैक्ट्रिया और भारतीय प्रदेश दोनों ही थे। इसके अनन्तर शकों ने मध्येशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके वंशजों का राज्य केवल काबुल घाटी और पश्चिमी गान्धार तक सीमित था। इनमें से केवल अंतिलिकिदस का ही इतिहास भारतीय स्रोतों से मालूम है। बेसनगर के गरुडध्वज लेख में इसका प्रसंग इस प्रकार है: "देवदेव वासुदेव का यह गरुडध्वज तक्षशिला-निवासी, दियस के पुत्र, भागवत (धर्मानुयायी) हेलियदोर से बनवाया गया, जो तक्षशिला के महाराज अंतलिकिदस के पास से यवन-दूत होकर, राजा काशीपुत्र भागभद्र त्राता के पास आया जिसके वर्धिष्णु राज्य का चौदहवाँ वर्ष चल रहा था।" इस लेख से स्पष्ट है कि

तक्षशिला के यूनानी राजाओं में अब आक्रमण और विस्तार की शक्ति नहीं थी और अपने अस्तित्व के लिये वे भारतीय राजाओं से मिलकर रहना चाहते थे; दूसरे, वैष्णव आदि भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय यूनानियों पर अपना काफी प्रभाव डाल रहे थे। तक्षशिला जैसे विदेशी शक्ति से आक्रान्त नगर में यवन हेलियदोर ने भागवत धर्म अपनाया। अंतलिकिदस के बाद के इस वंश के राजा बिल्कुल नगण्य थे।

(५) हर्मियस—पहली शताब्दी ई० पू० के शुरू में यूक्रेटाइडीज के वंश का अंतिम राजा हर्मियस काबुल-घाटी में राज्य करता था। इस समय तक यूनानी शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गयी थी। वह चारों ओर पह्लव, शक और कुषण शत्रुओं से घिरा हुआ था। उत्तर की ओर से वर्बर जातियों का दबाव बढ़ता जा रहा था। अन्त में उसको कुषण आक्रान्ता कुजुल कैडफाइसिस के सामने ध्वस्त होना पड़ा और इस ओर यूनानी सत्ता सदा के लिये समाप्त हो गयी।

(६) यूनानी (बाख्त्री) राज्य के प्रति भारतीयों का भाव—पश्चिमोत्तर भारत में लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक बाख्त्री यवनों का राज्य रहा, परन्तु राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय कभी उनसे सन्तुष्ट न हुये; इसके बदले वे यवनों को सदा आतंक और घृणा की दृष्टि से देखते रहे। पार्जिटर ने कलियुग-राजवृत्तान्त में जो पौराणिक उद्धरण दिया है उसमें यवनों के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्गार हैं : "यवन लोग धर्म, अर्थ और काम से (पतित) होंगे। उनके राजा नियमपूर्वक अपना राज्याभिषेक नहीं करायंगे। वे राजा युगदोष के कारण दुराचारी होंगे। वे स्त्रियों और बच्चों तथा परस्पर भी एक दूसरे का वध करेंगे।" (पृ० ५६,७४) युगपुराण में भी उनको दुष्ट-विक्रान्त कहा गया है और यह बतलाया गया है कि उनके आने से देश के विषय (प्रजा) सभी आकुल हो गये। सब यवन-राजाओं में केवल मिनांडर (मिलिन्द) के लिये इस देश में सम्मान था, जो भारत में आने के संभवतः थोड़े ही दिनों बाद बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया और उसके नीति-मार्ग से प्रभावित होकर यहाँ शासन करने का प्रयत्न किया। लम्बे सम्पर्क के बाद भी यूनानी राजनीति और जीवन के प्रति कोई आकर्षण और आस्था नहीं दिखायी पड़ती।

## आ. शक

भूमिका—मध्य एशिया की जातियों के संघर्ष और संचार ने भारतीय इतिहास को कई बार प्रभावित किया है। लगभग १६५ ई० पू० में उत्तर-पश्चिम चीन में यूह्-ची नामक एक जाति रहती थी। उस को हिंग-नू (हूण) जाति ने वहाँ से निकाल दिया। इसलिये विवश हो कर यूह्-ची को दक्षिण-पश्चिम की ओर खिसकना पड़ा। यह जाति सर दरया के उत्तर में रहनेवाली शक-जाति से जा टकराई। अपनी भूमि से निर्वासित होकर शकों ने दक्षिण-पश्चिम के बाख्त्री यवन और पार्थी राज्यों पर आक्रमण किया। शकों के प्रवाह में बाख्त्री का यवन राज्य सदा के लिये बह गया। पार्थिया के दो राजाओं—द्वितीय फ्रात (१२८ ई० पू०) और आर्तबान (१२३ ई० पू०)—ने शकों से अपने राज्य की रक्षा करते हुए अपने प्राण दिये। शकों के आक्रमण से पार्थिया की शक्ति दुर्बल हो गयी। परन्तु पार्थी राजा द्वितीय मिथ्रदात (१२३–८८ ई० पू०) ने न केवल पार्थिया की लड़खड़ाती शक्ति को संभाल लिया, किन्तु शकों को पार्थिया से बाहर ढकेलकर बुरी तरह से हराया। शकों को विवश हो मिथ्रदात का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। अब शकों का पश्चिम बढ़ने वाला मार्ग रुक गया। पूर्व की ओर काबुल की घाटी में अभी यवनों का राज्य वर्तमान था, इसलिये शक लोग उधर भी नहीं बढ़ सकते थे। उनके बढ़ने का केवल एक ही रास्ता था और वह दक्षिण की ओर जहाँ आजकल पश्चिमी अफगानिस्तान और बलूचिस्तान हैं उस सारे प्रदेश पर शक फैल गये। उनकी मुख्य शक्ति और आधार पार्थिया से कुछ दूर दक्षिणी बलूचिस्तान में था जिसको सिस्तान (शकस्थान) कहते थे, यद्यपि यहाँ भी वे द्वितीय मिथ्रदात की अधीनता में ही थे। पार्थिया साम्राज्य की कड़ाई और बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रश्न को हल करने के लिये शकों का विस्तार आवश्यक था। सिस्तान के पूर्व कन्दहार होकर बोलन दर्रे का रास्ता इस हल का संकेत कर रहा था। शक बोलन दर्रे से उतर कर सिन्धु-घाटी में आने के लिये तैयार बैठे थे। लगभग ७१ ई० पू० शकों का भारत पर आक्रमण हुआ।

(१) शकों का प्रथम आक्रमण—भारत के ऊपर शकों का पहला आक्रमण किस प्रकार हुआ इसका इतिहास जैन-ग्रंथ कालकाचार्य-

कथानक और दूसरी अनुश्रुतियों में सुरक्षित है। इसके अनुसार उज्ज-यिनी के राजा गर्दभिल्ल के अत्याचार से तंग आकर जैन आचार्य कालक उसका विनाश करने के लिये पार्थिया-साम्राज्य (पारसकुल) के भीतर शक-जातियों (साग-कुल) चले गये। उनका सम्राट् साहानुसाहि (पार्थिया के सम्राट की उपाधि) कहलाता था। वह शकों से अप्रसन्न था और उनको दण्ड देना चाहता था। उसने साहियों (शक सरदारों) के पास कहला भेजा कि यदि वे अपने परिवार को उसके क्रोध से बचाना चाहें तो अपना सिर काट कर उसके पास भेज दें। कालक को शकों को गर्दभिल्ल के विरोध में चढ़ा लाने के लिये यह अवसर अच्छा मिला। उन्होंने शकों से कहा—तुम लोग अपना सिर क्यों कटवाते हो? चलो सिन्धुदेश (हिन्दुगदेस)। कालक के कहने से ९६ साहियों (शक सरदारों) ने भारत पर आक्रमण किया। बोलन दर्रे से उतर कर पहले उन्होंने सिन्धु के गण-राज्यों और यवन-सत्ता के अवशेष को समाप्त किया। इसके बाद सुराष्ट्र के गणों को समाप्त कर शकवंश की स्थापना की। वहां बरसात बिताकर लाट के राजाओं को अधीन करते और अपने साथ लेते हुये उन्होंने अवन्ति पर आक्रमण किया। युद्ध में उज्जयिनी का राजा गर्दभिल्ल पराजित और निर्वासित हुआ। शकों ने अवन्ति पर अपना राज्य स्थापित किया। इस घटना के १४ वर्ष बीत जाने पर (५७ ई० पू०) गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने अपनी शक्ति का संगठन करके शकों को उज्जयिनी से खदेड़ा और विक्रम-संवत् का प्रवर्तन किया। विक्रमादित्य ने सार्व-भौम राजा की तरह से शासन किया। संवत् की स्थापना के १३५ वर्ष बाद शकों ने भारत पर दूसरा आक्रमण किया। उन्होंने अवन्ति पर अधिकार कर (७८ ई० पू०) शक-संवत् चलाया।

(२) शकों का मालव-संघ से संघर्ष, उनका पराजय और विक्रम संवत्—कालकाचार्य-कथानक का जो संक्षेप ऊपर दिया गया है उसके कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। और स्रोतों से पार्थिया और शकों के सम्बन्ध का जो इतिहास मालूम है उससे कथा-नक के पूर्वार्द्ध की पुष्टि होती है। यह बात सच है कि केवल कालका-चार्य के निमंत्रण से शक इस देश में नहीं आये; वे पहले से तैयार थे;

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कालकाचार्य का निमंत्रण एक बहुत बड़ा निमित्त-कारण था और उनके प्रभाव से शकों को सुराष्ट्र और लाट में सहायता भी मिली। कथानक में लिखा है कि अपनी बहन सरस्वती के अपहरण करने के कारण कालक गर्दभिल्ल से अप्रसन्न थे। परन्तु इतने बड़े संघर्ष के लिये यह व्यक्तिगत कारण पर्याप्त न था। और कई कथानकों से उज्जयिनी में शैव और जैन-धर्म का पारस्परिक कलह प्रकट है। शैव मतावलम्बी गर्दभिल्लों से जैन आचार्यों का संघर्ष बहुत सरल बात थी। जिस प्रकार बाख्त्री यूनानी आक्रमण के समय पंजाब और सीमांत के बौद्ध संघारामों ने विदेशियों से सहयोग किया था उसी प्रकार अवन्ति, सुराष्ट्र और लाट के जैन आचार्यों और कुलों ने शकों का सहयोग किया और अवन्ति के पतन में सहायक हुये।

उज्जयिनी के 'गर्दभिल्ल' राजा का वास्तव में यह नाम नहीं किन्तु वंश या शाखा थी जो प्रसिद्ध मालव-गण के अन्तर्गत थी। उसके लड़के विक्रमादित्य ने एक बहुत बड़े गण-संघ का संगठन किया और मध्यभारत, राजस्थान, अवन्ति और सुराष्ट्र के गणों की सहायता से शकों को मालवा में पराजित कर उनको निकाल दिया। (संभवतः सिंधु के रास्ते जो शक उत्तरापथ में चले गये थे वे भारत में रह गये।) इसके उपलक्ष में एक संवत का प्रवर्तन हुआ। पहले कृत, फिर मालव और अन्ततः विक्रमादित्य के नाम पर विक्रम संवत् कहलाया। इसके बाद मालवा में १३५ वर्ष तक सुख और शांति रही।

**(३) शकों का दूसरा आक्रमण**—शक अपने पहले आक्रमण में सफल नहीं हुए। परन्तु यद्यपि वे मालवा (अवन्ति) और उसके आसपास के प्रदेश में नहीं ठहर सके, उनकी एक शाखा सिन्धु के रास्ते से उत्तरापथ में पहुँच गयी थी। ७८ ई० पू० में शकों ने पूरी तैयारी से दुबारा भारत पर आक्रमण किया और अवन्ति, सुराष्ट्र, लाट और महाराष्ट्र पर अपना अधिकार जमा लिया। शकों की कई शाखाओं ने भारत के भिन्न-भिन्न भागों में राज्य किया। इनका विस्तार, स्थायित्व और प्रभाव यूनानियों और बाख्त्री यूनानियों से भारतीय इतिहास में अधिक था। इनकी विभिन्न शाखाओं का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

## ४. शकों की मुख्य शाखायें

**(१) पश्चिमोत्तर भारत के शक**—शक अपने पहले आक्रमण

में ही सिन्धु के मार्ग से पश्चिमोत्तर भारत में पहुंच गये थे और पंजाब के यवन राज्यों को समाप्त कर तक्षशिला के आसपास उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित की। इधर के शक शासकों में मोअ अथवा मोग सबसे अधिक प्रसिद्ध था। तक्षशिला के ताम्र-पत्र में वह महाराय (महाराज) मसान् (महान्) कहा गया है और उसके अधीन क्षत्रपों का उल्लेख है। इससे मालूम होता है कि वह शक्तिमान् शासक था और सीमान्त तथा पंजाब का अधिकांश उसके अधिकार में आ गया था। यूनानी सिक्कों के अनुकरण पर उसने सिक्का चलाया जो पंजाब में अधिक संख्या में पाया जाता है और जिस पर अंकित है: 'राजतिराजस महतस मोअस' (राजाधिराज महान् मोअ का)। मोअ का उत्तराधिकारी अय हुआ। वह मोअ के समान ही योग्य और शक्तिमान शासक था। पंजाब में यवन-सत्ता का पूरा उन्मूलन इसी के समय में हुआ। कुछ इतिहासकारों का मत है कि विक्रम-संवत् का प्रवर्तक यही था, किन्तु यह भारतीय परम्परा के बिल्कुल विरुद्ध और निराधार है। अय के बाद अयलिस और द्वितीय अय नाम के दुर्बल शासक हुये। इसके अनन्तर पह्लवों ने शकों को हटाकर अपनी सत्ता यहाँ स्थापित की।

(२) मथुरा के शक—पश्चिमोत्तर भारत के शकों की भाँति मथुरा के शक भी प्रथम शक-आक्रमण (७१ ई० पू० के लगभग) या तो पंजाब अथवा उज्जयिनी से मथुरा पहुंचे थे। इस स्थिति में उन्होंने अंतिम शुंगों या काण्वों से मथुरा का प्रदेश छीना होगा। यही कारण है कि युग-पुराण में, जो शुंगकालीन है, यवन-आक्रमण के साथ-साथ शक-आक्रमण का भी वर्णन है। यहाँ के प्रारम्भिक शासक हगमाश और हगान थे। उन्होंने शुंग-शैली के सिक्के चलाये। उनके बाद खरओस्त और उसका दामाद रञ्जुवुल या रजुल आये। मोरा-लेख में उसको महाक्षत्रप कहा गया है। पश्चिम में बढ़कर उसने यवन-सत्ता का ह्रास किया; यह बात उसके प्रथम स्टैटो के सिक्कों के अनुकरण से सिद्ध होती है। रञ्जुवुल के बाद उसका पुत्र शोडास महाक्षत्रप हुआ और उसके अनन्तर महाक्षत्रप मेवकि। इन शकों का काण्वों और पंजाब के कुनिन्द-गण से बराबर संघर्ष होता रहा। कुषणों के आक्रमण से इनका अन्त हुआ। मथुरा में मिले हुये अभिलेखों से मालूम होता है कि धार्मिक दृष्टि से शक भारतीय हो गये थे, उनमें से कुछ ने बौद्ध-धर्म और कुछ ने जैन-धर्म स्वीकार किया।

(३) महाराष्ट्र के शक—दूसरे शक आक्रमण (७८ ई० पू०) के समय न केवल अवन्ति (मालवा) में ही शक सत्ता स्थापित हुई, किन्तु सिन्ध, सुराष्ट्र, लाट और महाराष्ट्र में भी शक फैल गये। सिन्ध में तो शकों का ऐसा अड्डा जमा कि भारतीय उसे शक-द्वीप और बाहर वाले उसको इंडो-सिथिया (हिन्दी शकस्थान) कहने लगे। महाराष्ट्र में एक शक राजवंश की स्थापना हुई जिसे क्षहरात कहते हैं। इसने अपने विजयों से सातवाहन वंश की प्रतिष्ठा को उखाड़ दिया। इस वंश ने प्रायः पूरे महाराष्ट्र, लाट और सुराष्ट्र पर शासन किया। इस वंश का भूमक प्रथम शासक था। इसके सिक्के गुजरात और सुराष्ट्र के समुद्र-तटों पर मिलते हैं, जिनके ऊपर बाण, चक्र, वज्र, सिंहध्वज और धर्म-चक्र के चिह्न पाये जाते हैं। भूमक के बाद इस वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक नहपान हुआ। इसके लेख नासिक, जुनार और कारले की गुफाओं में मिले हैं, जो उसके विस्तृत और समृद्ध राज्य के द्योतक हैं। जोगलथंबी में मिले हुये सिक्कों के ढेर से मालूम होता है कि नहपान ने कई प्रकार के बहुसंख्यक सिक्के चलाये थे। नहपान शक्तिशाली शासक था और उसने अपने समय की राजनीति में काफी भाग लिया। राजस्थान के उत्तमभद्र लोग जब मालयों (मालवों) से घिर गये थे तो उनको मुक्त करने के लिये उसने अपने दामाद उषवदात को भेजा। उषवदात ने मालवों को भगाकर पुष्कर-तीर्थ (अजमेर) में पुष्कल दान दिया। संभवतः नहपान के समय में ही गौतमीपुत्र शातकर्णि की विजयवाहिनी के सामने महाराष्ट्र का क्षहरात-वंश ध्वस्त हो गया। इस बात के प्रमाण जोगलथंबी में मिले नहपान के सिक्के हैं जो गौतमीपुत्र द्वारा फिर लांछित किये गये थे। महाराष्ट्र के शकों पर वैदिक धर्म का पूरा प्रभाव पड़ा था। नहपान की लड़की दक्षमित्रा और उसका दामाद उषवदात दोनों वैदिक धर्मानुयायी थे।

(४) उज्जयिनी के शक (महाक्षत्रप)—शकों के दूसरे आक्रमण का नेता जामोतिक का पुत्र चाष्टन उज्जयिनी के शक वंश का संस्थापक था। पहले उसने पार्थिया के सम्राटों की नाममात्र की अधीनता के कारण क्षत्रप (प्रांतीय शासक) और फिर पूर्ण स्वतंत्रता की सूचक महाक्षत्रप की उपाधि धारण की। यही शक-नृपति अथवा

शक-राज ७८ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले शक-संवत् का प्रवर्तक था। इसके सिक्के नहपान के सिक्कों से मिलते जुलते थे। चाष्टन के पुत्र जयदामन के समय में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अवन्ति को अपने अधीन किया। इसलिये जयदामन केवल अधीन क्षत्रप रहा और महाक्षत्रप नहीं हो पाया। परन्तु उसका उत्तराधिकारी रुद्रदामन बड़ा बलशाली और विजयी राजा था। उसने शक-वंश की दबी हुई शक्ति का उद्धार किया और महाक्षत्रप उपाधि धारण की। उसका विस्तृत इतिहास उसके गिरिनार-शिलालेख (७२ शक-संवत १५० ई० प०) में मिलता है। इसके अनुसार उसने अवन्ति (पश्चिमी मालवा), आकर (पूर्वी मालवा) अनूप, नीवृत, आनर्त, सुराष्ट्र, श्वभ्र (साबरमती की घाटी), मरु (मारवाड़), सौवीर, कुकुर, अपरान्त और निषाद आदि प्रान्तों को अपने अधीन किया; सब क्षत्रियों में प्रकट 'वीर' उपाधि धारण करने के कारण अभिमानी यौधेयों को पराजित किया। उसकी सबसे शानदार विजय तो आन्ध्र-साम्राज्य के विरोध में थी। ऊपर के लेख से यह भी मालूम है कि उसने दामाद वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को दो बार युद्ध में हराया, यद्यपि निकट संबन्ध के कारण उसका राज्य नहीं छीना। किन्तु रुद्रदामन के ऊपर के विजयों को देखने से मालूम होता है कि उसने आन्ध्र-साम्राज्य के पश्चिमी भाग को अपने राज्य में मिला लिया। वह एक विद्वान्, उदार, लोकप्रिय और योग्य शासक था। प्रजा-हित का बहुत ध्यान रखता था। बहुत धन खर्च कर के उसने गिरिनगर और आसपास की भूमि को जल देने वाली सुदर्शन झील की मरम्मत करायी, जो मूलतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय बनवाया गयी थी और वर्षा के कारण उसके समय में टूट गयी थी। रुद्रदामन वैदिक धर्म का अनुयायी और संस्कृत भाषा और साहित्य का आश्रय-दाता था। शुंगों के बाद उसी का सरकारी लेख शुद्ध संस्कृत में मिलता है।

रुद्रदामन के बाद उज्जयिनी के शकों की शक्ति घटने लगी। तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुराष्ट्र के अमीरों ने न केवल आन्ध्र-साम्राज्य के पतन में भाग लिया, किन्तु उज्जयिनी की शक-शक्ति को भी दुर्बल किया। इस धक्के से शकों ने अपने को संभाल लिया

और ३८० ई० पू० के आस पास तक अवन्ति में राज्य करते रहे। अंतिम शक-शासकों में तृतीय रुद्रसिंह का नाम उल्लेखनीय है। जब गुप्त-सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मध्य और पश्चिम भारत का दिग्विजय किया तो उसकी बढ़ती हुई शक्ति के प्रवाह में उज्जयिनी की शक-सत्ता विलीन हो गयी। चन्द्रगुप्त के चाँदी के शक-शैली के सिक्के इसी विजय के बाद प्रचलित हुए थे।

## ङ. पह्लव

भारतवर्ष में पह्लव (पार्थियन) जाति का इतिहास शकों के इतिहास के साथ इतना उलझा हुआ है कि उसकी धुंधली रूपरेखा ही हमारे सामने दिखायी पड़ती है। शक स्वयं पार्थिया (पह्लव-देश) से होकर यहाँ आये थे। इसलिये उन पर पह्लव भाषा और जाति की छाप थी। सबसे पहले पह्लवों की राजसत्ता अराकोशिया और सिस्तान (हरउवती और शकस्थान = कन्दहार और मकरान) में स्थापित हुई।

वनान इसका संस्थापक वनान (ग्रीक = वोनोनीज) नाम का एक व्यक्ति था। द्वितीय मिथ्रदात के मरने के कुछ समय बाद उसने हरउवती (कन्दहार) में अपना राज्य स्थापित किया। सम्भवतः यह भारत के ऊपर प्रथम शक-आक्रमण के आस-पास की घटना है और सम्भवतः दोनों में परस्पर सम्बन्ध भी था। कुछ ही काल बीतने पर उसने काबुल, गांधार और सिन्धु का प्रदेश भी जीत लिया। इसके बाद उसने 'महान् राजाधिराज' की उपाधि धारण की। उसके प्रारम्भिक सिक्कों पर पहले केवल यूनानी भाषा में ही उसका नाम मिलता है जिस से मालूम होता है कि पहले उसका अधिकार ठेठ भारत पर न होकर शकस्थान (सिस्तान) और पूर्वी ईरान पर था और उसका अधिकार क्रमशः पूरब के देशों पर फैला। यूक्रेटाइडीज के वंश के सिक्कों की शैली के अनुकरण पर बने हुये वनान के सिक्कों पर उसके साथ उसके भाई स्पलहोर (स्पलहोरीज) और स्पलिरिष (स्पलराइजीज) के नाम भी पाये जाते हैं। इन सिक्कों पर एक ओर यूनानी भाषा में वनान का नाम और दूसरी ओर प्राकृत में 'महाराज भ्रातस ध्रमिअ स्पलहोरस (अथवा स्पलिरिषस)' लिखा हुआ है। अनुमान होता है कि दोनों भाई वनान के प्रान्तीय शासक थे। वनान के बाद स्पलिरिष उसके राज्य का अधिकारी हुआ। सिक्कों की साख से मालूम होता है कि वह पश्चि-

मोत्तर भारत के शक राजा द्वितीय अय का अधिपति था। इससे प्रकट होता है कि पह्लवों का राज्य अब तक्षशिला तक फैल गया था।

गुदफर्न (विन्दफर्न)—स्पलिरिष के बाद पह्लव-वंश का सबसे प्रसिद्ध भारतीय राजा गुदफर्न (गदफर, गुदफर, गुदन, गुदव्हर = यूनानी गोंडो फरनीज) गद्दी पर बैठा। तख्ते-बाही में मिला हुआ उस का लेख यह सिद्ध करता है कि पश्चिमोत्तर भारत पर उसका राज्य फैल गया था। अस्पवर्मन के सिक्के भी इस बात की सूचना देते हैं कि गदफर्न ने शक द्वितीय अय की शक्ति का विनाश करके पश्चिमी पंजाब पर अपना आधिपत्य जमाया। उसने सम्भवतः तक्षशिला को अपनी राजधानी भी बना लिया। ईसाई अनुश्रुति के अनुसार गुदफर्न 'सम्पूर्ण भारत का राजा' था और सन्त टामस उनके दरबार में गये थे। इस अनुश्रुति का पूर्वार्द्ध तो विश्वसनीय नहीं। उत्तरार्द्ध केवल यह संकेत करता है कि ईसाई प्रचारकों को गुदफर्न के दरबार में कुछ सफलता मिली। गुदफर्न के कुछ ही समय बाद कुषणों के आक्रमण से इस वंश का अन्त हो गया। इस वंश के सिक्कों पर 'ध्रमित्र' अथवा 'ध्रमिक' (धार्मिक) उपाधि और प्राकृत भाषा से यह प्रकट है कि पह्लव राजाओं ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और भारतीय प्राकृत का शक-स्थान से लेकर हिन्दूकुश तक प्रचार था।

## ई. ऋषिक-तुषार (कुषण)

**१. ऋषिकों का मूलस्थान और परिभ्रमण**—शक आक्रमण के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि १६५ ई० पू० में चीन के पश्चिमोत्तरीप्रान्त (कान-सू) में यूह्-ची नाम की एक जाति रहती थी। इसी को भारतीय साहित्य में ऋषिक (यूह्-ची = युइषि = ऋषिक) कहते हैं। पड़ोस की एक हिंगनू (हूण) जाति ने उसको कान-सू से निकाल दिया। ऋषिक वहां से दक्षिण-पश्चिम की तरफ चले। रास्ते में इली नदी की घाटी में वु-सुन जाति को हराया और उसके राजा को मार डाला। इसके बाद ऋषिक की एक छोटी शाखा तिब्बत की सीमा पर जाकर बस गयी। मुख्य शाखा और दक्षिण-पश्चिम बढ़कर सीर दरिया की घाटी में आयी और सै-वांग् पर आक्रमण किया। यहां से सै (= शक) लोग दक्षिण की ओर भाग गये। परन्तु ऋषिक जाति बहुत दिनों तक सीर

की घाटी में न रह सकी। मृत वु-सुन राजा के लड़के कोन-मो ने हिंग-नू की सहायता से ऋषिकों को वहां से खदेड़ दिया। विवश होकर ऋषिकों को सीर दरिया के दक्षिण में भागना पड़ा। वे वंक्षु (आक्सस) पार कर ताहिया या तुषार प्रदेश में पहुंचे। ताहिया या तुषार, जो ऋषिकों के ही भाई-बन्धु थे और पश्चिमोत्तर चीन से कुछ समय पहले यहां आये थे, एक सुखप्रिय व्यापारी जाति के लोग थे। इन्होंने ऋषिकों की अधीनता स्वीकार कर ली। यहां पर ऋषिकों की सत्ता जम गयी। उन्होंने बाख्त्री, काम्बोज और आसपास के प्रदेशों को जीत लिया।

२. तुषार और बाख्त्री-प्रदेश में संस्कार और संघटन—तुषार-प्रदेश में आने के पहले ऋषिक लोग घुमक्कड़ जाति के थे और उनमें सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। तुषार और बाख्त्री में पहुंचने पर तीन पुरानी संस्कृतियों से उनका सम्पर्क हुआ—(१) बाख्त्री में यवन संस्कृति (२) इसकी पश्चिमी छोर पर पह्लव संस्कृति और (३) पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती हुई रोमन संस्कृति। अपनी कोई संस्कृति विशेष न होने से ऋषिकों ने उपर्युक्त संस्कृतियों के मिश्रण को अपनाया और सभ्यता का पाठ सीखा। राजनैतिक दृष्टि से ये लोग पांच राज्यों में विभक्त थे जिनके चीनी नाम इस प्रकार थे : (१) हिऊ मी (२) शुआंग-मी (३) कुएई-शुआंग (४) ही-तूं औ (५) काओ-फू (अथवा तू-मी)। प्रत्येक के ऊपर एक ही-हू (साहू अथवा साही) शासन करता था। ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ में कुएई-शुआंग का राज्य कुषण* नामक साही या सरदार को मिला। वह बड़ा शक्तिशाली था। उसने शेष चार ऋषिक राज्यों को अपने अधीन कर लिया। और एक बड़े संयुक्त राज्य की स्थापना की। इस नये देश में बढ़ती हुई जन-संख्या और राजनैतिक महत्वाकांक्षा बाहर जाने को प्रोत्साहित करने लगी।

३. कुषण (कुजुल कदफिस) का हिन्दूकुश के दक्षिण के प्रदेशों और भारत पर आक्रमण—हिन्दूकुश को लाँघ कर कुषण (कुजुल कदफिस) ने दक्षिण के उन प्रदेशों पर आक्रमण किया जिनके ऊपर यूक्रेटाइडीज के वंशज यवनों का अधिकार था। अंतिम यवन-राजा

* कई एक इतिहासकार कुषण उस शाखा का नाम समझते हैं।

हर्मियस और कुषण के संयुक्त सिक्के काबुल घाटी में मिले हैं। इनको एक ओर यूनानी अक्षरों में उपाधियों के साथ यवन-राजा का नाम है और दूसरी ओर प्राकृत भाषा और खरोष्टी अक्षरों में कुषण-राजा का नाम है। दूसरे प्रकार के सिक्के ऐसे भी मिले हैं जिन पर हर्मियस का नाम नहीं है; केवल कुजुल कदफिस का ही नाम है। ये दो प्रकार के सिक्के दो राजनैतिक अवस्थाओं के द्योतक हैं। पहले प्रकार के सिक्के उस अवस्था को प्रकट करते हैं जब कुजुल कदफिस काबुल घाटी का वास्तविक शासक होते हुये भी जनता को धोखे में रखने के लिये यवनों का नाममात्र का आधिपत्य स्वीकार करता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी और मुगलों के सम्बन्ध से इसकी तुलना की जा सकती है। दूसरे प्रकार के सिक्के पीछे के हैं और उस अवस्था के द्योतक हैं जब कुषण ने झूठा पर्दा हटा कर अपना पूर्ण आधिपत्य घोषित किया। कुजुल ने पार्थिया पर आक्रमण किया और पूर्वी गान्धार जीतकर भारत के पह्लव वंश का विनाश किया इसकी पुष्टि सिक्कों और उत्कीर्ण लेखों से होती है। इस प्रकार उसके अधिकार में प्रायः सारा अफगानिस्तान और भारत का गान्धार प्रदेश आ गया। इस समय भी उसकी राजधानी तुषार-प्रदेश में ही थी। अस्सी वर्ष की दीर्घायु में उसका देहान्त प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में हुआ।

४. विम कदफिस—कुषण (कुजुल कदफिस) के बाद उसका पुत्र विम कदफिस राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। चीनी इतिहास के अनुसार विम ने तिएन-चू (हिन्द) को जीता और अपने शासकों की नियुक्ति की। यद्यपि इसमें अतिरंजन अधिक है किन्तु उसके सिक्कों के व्यापक प्रचार और उसकी ऊंचाई राजनैतिक पदवी (महाराज राजाधिराज सर्वलोक-ईश्वर) से मालूम होता है कि उसने सिन्धु के पूर्व प्रायः सारे पंजाब, काश्मीर, सिन्धु और वर्तमान संयुक्त प्रांत के पश्चिमी भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसको दृष्टि में रखते हुये चीनी इतिहासकार लिखते हैं : "इन विजयों से यूह्-ची की शक्ति बढ़ गयी। उन्होंने भारत के राजाओं को मार डाला और उनके स्थान पर अपने शासक नियुक्त किये।" अपने जीते हुये प्रान्तों में विम ने क्षत्रपों द्वारा शासन किया। विम के समय में कुषण साम्राज्य एक तरफ मध्य एशिया में चीन-साम्राज्य, पश्चिम में रोमन-साम्राज्य और दक्षिण

पूर्व में सातवाहन-साम्राज्य की सीमा से मिला हुआ था। विम ने पूर्वोत्तर एशिया में अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिये चीन के ऊपर आक्रमण किया किन्तु उसको हार खानी पड़ी और विवश होकर कर देना पड़ा।

कुषण-वंश ज्यों ज्यों भारतवर्ष की ओर बढ़ता आया त्यों-त्यों भारतीय धर्म से प्रभावित होने लगा। कुषण ( कुजुल कदफिस के सिक्कों और अभिलेखों से मालूम होता है कि वह हिन्दू-कुश को पार करते ही बौद्ध हो गया। विम के सिक्कों पर शिव, नन्दी और त्रिशूल अंकित हैं और उसने 'महेश्वर' की उपाधि धारण की। इससे जान पड़ता है कि उसने शैव मत का अवलम्बन किया। संभवतः इसी के समय में कपिशा से कश्यप मातंग और धर्मरत्न दो बौद्ध-भिक्षुओं ने चीन जाकर सद्-धर्म का प्रचार किया।

५. कनिष्क—विम कदफिस की मृत्यु और कनिष्क के राज्यारोहण में कुछ वर्षों का अन्तर है। पहले कनिष्क के समय के बारे में बड़ा मतभेद था। परन्तु अब यह बात प्रायः मान ली गयी है कि लगभग १२५ ई० पू० में वह सिंहासन पर बैठा। विम और कनिष्क में क्या सम्बन्ध था यह बतलाना कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कनिष्क भी कुषण-वंश का ही था। सिक्कों पर उसको कोषण (कुशण-वंशी) कहा गया है। वास्तव में वह विम के ही कुषण-साम्राज्य का उत्तराधिकारी था।

(क) विजय और राज्य-विस्तार— विम कदफिस चीन-साम्राज्य से टकरा कर हार मान चुका था। कनिष्क ने इस गलती को अपने शासन के प्रारम्भ में दुहराया नहीं। इसके बदले उसने उत्तर भारत में, जहां का राजनैतिक जीवन शिथिल पड़ गया था, अपने राज्य का विस्तार किया। बौद्ध ग्रन्थों से मालूम होता है कि उसने, पंजाब को पार कर मध्यप्रदेश होता हुआ, पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की; वहां के राजा ( लिच्छवि या कोटकुल का ) को हरा कर उससे बहुत बड़ा हर्जाना मांगा; परन्तु उसके बदले में बौद्ध विद्वान् अश्वघोष और भगवान् बुद्ध का जल-पात्र पाकर प्रसन्न हो गया और पुरुषपुर ( पेशावर ) वापस चला गया। राजतरंगिणी के अनुसार कनिष्क ने काश्मीर जीत कर उस पर राज्य किया। वहां पर उसने कई नगर बसाये, स्मारक बनवाये और चौथी बौद्ध महासभा का वहीं आयो-

जन किया। जिस समय कनिष्क पूर्वी भारत पर आक्रमण कर रहा था संभवतः उसी समय पार्थिया के राजा ने उस पर आक्रमण कर दिया; किन्तु कनिष्क ने उसका सफल प्रतिरोध कर पीछे भगा दिया। जब भारत और वर्तमान अफगानिस्तान के प्रदेशों में उसकी पूरी शक्ति जम गयी तो यहाँ के साधनों के साथ उसने पामीर के रास्ते चीन पर आक्रमण किया और चीनी सेनापति पैनयाँग को हराकर काशगर, खोतान और यारकन्द पर अधिकार कर लिया। इतना ही नहीं उसने चीन के अधीन राज्य से वन्धक में दो राजकुमारों को भी अपने यहां रखा। इस प्रकार जहां विम असफल हो चुका था वहां कनिष्क ने सफलता पाई। कनिष्क एक बहुत बड़ा विजेता था। उसने एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की जो एशिया के कई देशों पर फैला था। पश्चिमोत्तर में यह काशगर, यारकन्द और खोतान तक, पूर्व में कम-से-कम बनारस तक, दक्षिण में अरब सागर के छोर और मथुरा तक विस्तृत था। इस समय तुषार-प्रदेश से इतने बड़े साम्राज्य का शासन असंभव था; अतः कनिष्क ने पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया जिसने पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्करावती का स्थान ग्रहण किया।

(ख) शासन-व्यवस्था—कनिष्क का साम्राज्य तो बहुत विशाल था, किन्तु उसकी शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। चीनी साहित्य से केवल इतना ही मालूम होता है कि उसने अपने जीते हुये प्रदेशों में प्रतिनिधि या शासक नियुक्त किये। सारनाथ के उत्कीर्ण-लेख (कनिष्क सं०) के अनुसार मथुरा में महाक्षत्रप खरपल्लान और उसके अधीन वाराणसी (बनारस) में क्षत्रप वनस्पर प्रान्तीय शासक था। इससे मालूम होता है कि साम्राज्य कई भागों में बँटा था, जिन पर क्षत्रप शासन करते थे। इस शासन का स्वरूप बहुत कुछ सैनिक था और भीतर से इसका संगठन बहुत ठोस न था। इसलिये परवर्ती हूण-साम्राज्य के समान यह भी शीघ्र विशृंखलित हो गया।

(ग) कनिष्क का धर्म—सारा उत्तरी बौद्ध साहित्य इस बारे में एकमत है कि कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उत्कीर्ण लेखों से भी उसके बौद्ध होने की पुष्टि होती है। वैसे तो उसके सिक्कों पर यूनानी,

जरथुस्त्री, वैदिक और बौद्ध सभी प्रकार के देवताओं की मूर्तियां अंकित हैं, जिससे या तो यह सूचित होता है कि वह धार्मिक मामले में उदार था और सभी धर्मों का समान रूप से आदर करता था अथवा यह ध्वनि निकलती है कि उसके विभिन्न प्रान्तों के सिक्कों पर स्थानीय देवताओं की मूर्तियां अंकित हैं। परन्तु इस धार्मिक सहिष्णुता के होते हुये भी उसके बौद्ध होने में कोई सन्देह नहीं। बौद्ध धर्म के मानने वाले राजाओं में अशोक के बाद उसका दूसरा स्थान है।

(घ) बौद्ध-धर्म की चौथी संगीति—कनिष्क के समय तक बौद्ध-धर्म में कई एक साम्प्रदायिक मत उठ खड़े हुये थे। इनको दूर करने और बौद्ध-धर्म का प्रामाणिक साहित्य तैयार कराने के लिये कनिष्क ने बौद्ध-धर्म की चौथी संगीति (सभा) काश्मीर में कुंडलवन नाम के स्थान पर बुलायी। यह संगीति अश्वघोष के गुरु वसुमित्र की अध्यक्षता में हुई। विभिन्न सम्प्रदायों के लगभग ५०० विद्वान् इसमें सम्मिलित हुये। ये स्थविरवादी अथवा हीन यानी थे। इसमें पार्श्व आदि महापण्डितों ने विशेष भाग लिया। त्रिपिटिकों के प्रामाणिक पाठ तैयार किये गये और उनपर 'महा विभाषा' नाम का भाष्य लिखा गया। ये सभी कृतियाँ संस्कृत भाषा में ताम्र-पत्र पर लिखी गयीं और पत्थर की मंजूषा में रखकर एक स्तूप में स्थापित की गयीं। दुर्भाग्यवश अभी तक यह मंजूषा किसी पुरातत्वशास्त्री के हाथ नहीं लगी।

कनिष्क ने बौद्ध-धर्म का प्रचार अपने विस्तृत साम्राज्य और आसपास के प्रदेशों में कराया। उत्तरी एशिया में महायान का प्रचार उसी के समय में हुआ। अशोक की तरह कनिष्क ने भी बहुत से स्तूप, चैत्य और विहार बनवाये और बौद्ध-धर्म को प्रश्रय दिया।

(ङ) साहित्य और कला को प्रश्रय—कनिष्क रणकुशल और महान् विजेता होने के साथ साहित्य और कला को प्रश्रय देने वाला भी था। उसकी राजसभा में बुद्ध-चरित और सौन्दरानन्द नामक काव्यों के लेखक अश्वघोष, शून्यवाद के प्रवर्तक और प्रकाण्ड दार्शनिक नागार्जुन, पार्श्व और वसुमित्र आदि विद्वान् रहते थे। आयुर्वेद का प्रसिद्ध लेखक चरक को भी कनिष्क ने आश्रय दिया। धर्म, साहित्य और शास्त्र के समान कनिष्क ने भवन-निर्माण-कला को भी प्रोत्साहन दिया।

बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये उसने बहुत से स्तूप, चैत्य और विहार बनवाये। तक्षशिला के पास इसने एक नगर बसाया और काश्मीर में कनिष्कपुर नामक नगर इसी के द्वारा निर्मित था।

**(च) कनिष्क का अन्त**—कनिष्क ने लगभग २३ वर्ष राज्य किया। उसके लम्बे और महत्वपूर्ण जीवन के अंत की कहानी दुःखान्त है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कनिष्क आजीवन युद्ध करता रहा। (अशोक की तरह बौद्ध होने पर उसने दिग्विजय की नीति को नहीं छोड़ा।) इससे उसके मंत्री और परिजन तंग आ गये थे। एक बार जब उत्तर के देशों में वह युद्ध का संचालन करते समय बीमार पड़ा तो उसके मन्त्रियों और स्वजनों ने ही उसको लिहाफ ओढ़ा कर मुगड़ी से पीट कर मार डाला। यदि यह अनुश्रुति सही हो तो सचमुच कनिष्क की मृत दयनीयय थी।

**(छ) कनिष्क के उत्तराधिकारी**—कनिष्क के दो पुत्र वासिष्क और हुविष्क थे। ये दोनों ही कनिष्क के शासन-काल में उसके प्रतिनिधि और प्रांतीय शासक का काम करते थे। वासिष्क कनिष्क के जीवन काल में ही मर गया। इसलिये उसके बाद उसका छोटा लड़का हुविष्क गद्दी पर बैठा। यह बड़ा बलशाली और योग्य था और इसने कनिष्क के साम्राज्य के बहुत बड़े अंश को सुरक्षित रखा। उसके मध्य एशियाई साम्राज्य के बारे में कुछ कहना कठिन है किन्तु उसका भारतीय और हिन्दूकुश के दक्षिण का साम्राज्य निश्चित रूप से उसके अधिकार में था। उसका शासन-काल सुखी और समृद्ध था; यह बात उसके कलात्मक और विविध शैली के सिक्कों से सिद्ध होती है। वह अपने पिता के समान ही बौद्ध धर्म का अनुयायी और विद्या और कला का पोषक था।

कनिष्क-संवत ७४ के लगभग वासुदेव कुषाण-राज्य का अधिकारी हुआ। इसके समय में कनिष्क के साम्राज्य का बहुत बड़ा भाग उसके हाथ से निकल गया। इसका प्रमाण यह है कि वासुदेव के सिक्के केवल मथुरा के आसपास ही मिलते हैं और उनकी शैलियां बहुत कम है। इससे स्पष्ट मालूम होता है सिन्धु के उस पार का सारा साम्राज्य जाता रहा और भारत में भी उसका राज्य सीमित था। उस के अधिकांश सिक्कों पर शिव और नन्दी की मूर्तियां अंकित हैं, जिससे

अनुमान किया जाता है कि वह शैव था। उसके शुद्ध संस्कृत नाम और इसके वैष्णव अर्थ से यह बात सिद्ध होती है कि उनके अंतिम समय में कुषणों का पूरा भारतीकरण हो गया था। वासुदेव के साथ मुख्य कुषण वंश समाप्त हो गया। इसके बाद इसकी कुछ शाखायें किदार आदि सीमान्त और काबुल घाटी में बनी रहीं।

(७) कुषण साम्राज्य का पतन और इसके कारण—कनिष्क के बाद से ही कुषण-साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ। वासुदेव के समय में इसके अंगभंग हुये और उसके उपरान्त तो केवल साम्राज्य के खंडहर शेष रह गये। पतन के कारणों में मुख्य आन्तरिक था। महाकाय कुषण-साम्राज्य का संगठन ठोस और स्थायी न था; कनिष्क के उत्तराधिकारियों का व्यक्तित्व ऐसा नहीं था जो इतने ढीले-ढाले साम्राज्य को केवल अपनी धाक से संभालता। पश्चिम से उदीयमान ससानी शक्ति ने बार बार आक्रमण कर कुषणों को दुर्बल कर दिया। इस परिस्थिति से भारत की स्थानीय शक्तियों ने लाभ उठाया। यौधेय, कुनिन्द आदि गण जातियों ने पूर्वी पंजाब और पश्चिमी युक्त प्रान्त में तथा मथुरा और मध्यभारत के नागवंशी भारशिवों ने संयुक्त प्रान्त में कुषण साम्राज्य का अंत किया।

## उ. इस काल के इतिहास की कुछ धारायें

१. बौद्ध धर्म में महायान का उदय—पिछले छः-सात सौ वर्षों में बौद्ध धर्म भारत के सभी भागों में पहुँच चुका था। अब वह भिक्षु-धर्म न रहकर जनता में प्रवेश कर गया था। इसके अतिरिक्त इसका प्रचार भारत के बाहर एशिया के और देशों में भी हुआ था। विभिन्न देश, जाति और विश्वास तथा सभ्यता के विविध स्तर के लोगों ने इसको अपनाया। साथ-ही-साथ भारत के अन्य धार्मिक सम्प्रदाय, वैष्णव, जैन आदि के सम्पर्क और प्रभाव से बौद्ध विश्वासों और सिद्धान्तों में विकास और परिवर्तन होता रहा। अब बौद्ध धर्म को इन सभी की मानसिक और भावुक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी थी। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी, मठ प्रधान और कठोर नीतिमार्गी था। मनुष्य स्वभाव से ही अपने से किसी ऊंची सत्ता में विश्वास और उस पर अवलम्बन करने वाला, साधारणतः सुखप्रिय और नैतिक आचरण के लिये परम्परागत संस्थाओं और

प्रथाओं का सहारा लेने वाला होता है। जब तक भगवान बुद्ध जीवित थे तब तक उनका व्यक्तित्व और आचरण उनके अनुयायियों को अनुप्राणित करता रहा। उनके मरने के बाद उनके अवशेषों और चिह्नों से उनके भक्त सहारा लेते रहे। परन्तु प्रथम शताब्दी ईसवी पू० जब बौद्ध धर्म का बहुत विस्तार हो गया तो इनसे काम नहीं चल सकता था। इसलिये बौद्ध-धर्म में दूरव्यापी परिवर्तन और सुधार हुये जिसके फलस्वरूप महायान का उदय हुआ।

महायान सभी प्रकार के लोगों को अपने दायरे के भीतर उदारता के साथ रखना चाहता था और प्रचार और सेवा के भाव से प्रेरित था। यह व्यक्तिगत निर्वाण पर जोर न देकर संसार के उद्धार पर जोर देता था। इसके अनुसार सम्बोधि ( सम्यक् ज्ञान ) का उद्देश्य केवल अपनी मुक्ति नहीं किन्तु सम्पूर्ण विश्व की मुक्ति है। इस आदर्श को अपनाने के कारण इस सम्प्रदायवाले प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म को हीन यान ( छोटा यान ) और अपने सम्प्रदाय को महायान कहते थे। बौद्ध-धर्म में पहला परिवर्तन यह हुआ कि भगवान् बुद्ध जो अभी तक केवल गुरु और पथ-प्रदर्शक माने जाते थे, ईश्वर के सिंहासन पर बैठा दिये गये और उसकी सभी शक्तियों और भावों का उन पर आरोप कर दिया गया। उनसे अब केवल ज्ञान ही नहीं, प्रसाद की भी लोग कामना करने लगे। बुद्ध के साथ अनेक बोधिसत्वों, अवलोकितेश्वरों और देवी देवताओं की कल्पना की गयी और वैदिक धर्म की तरह बौद्ध-धर्म का भी देव-मंडल बन गया। बुद्ध की प्रथम प्रतिमा का निर्माण प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुआ और इसके बाद देव-मण्डल के और सदस्यों की मूर्तियां भी बनने लगीं। श्रद्धा और आदर अब पर्याप्त नहीं माने गये। उपहास और चढ़ावे चढ़ने लगे। इससे बौद्धों की विस्तृत पूजा-पद्धति और धार्मिक रीति-रिवाजों का विकास हुआ। बौद्ध-धर्म का अनात्मवाद भी इस समय ढीला पड़ गया और उसका स्थान एक प्रकार का सूक्ष्म आत्मवाद लेने लगा। अपने आचार-मार्ग से भारत की जनता को प्रभावित करता हुआ भी महायान ने उसकी कठोरता को कम कर दिया।

२. **कला की गान्धार-शैली**—इस युग में गान्धार एक ऐसा प्रदेश था जहां एशिया और यूरोप की कई सभ्यतायें एक दूसरे से मिलती थीं। पूर्व से भारतीय और पश्चिम से यूनानी, रूमी, ईरानी और

शक संस्कृतियों का यहां संगम था। पश्चिम से आने वाली संस्कृतियों में यूनानी संस्कृति ही सबसे अधिक प्रभावशाली थी और उसने अन्य संस्कृतियों को प्रभावित किया था। सिकन्दर के आक्रमण, बाख्त्री अधिकार और शक, पह्लव और कुषणों के माध्यम से भी यूनानी सम्पर्क गान्धार से लम्बे काल तक बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि गान्धार के नगरों पुष्करावती, तक्षशिला, पुरुषपुर (पेशावर) और आसपास के प्रदेशों में एक ऐसी मूर्तिकला का विकास हुआ जिसको गान्धार-शैली कहते हैं। इसके विषय तो भारतीय हैं किन्तु इसमें हाथ और कलम यूनानी हैं। बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि देवियों की मूर्तियां यूनानी देवताओं, राजाओं और स्त्रियों के आदर्श पर बनायी गयी हैं। उनकी वेश-भूषा, शृङ्गार और सजावट भी यूनानी ढंग की है। इसलिये इस कला को कुछ लोग यवन-बौद्ध अथवा भारतीय-यवन भी कहते हैं। महायान के उदय से गान्धार-शैली को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस समय के पूर्व जातक-कथाओं के दृश्य और बौद्ध धर्म के प्रतीक ही पत्थर में अंकित होते थे; बुद्ध की प्रतिमा अभी नहीं बनी थी। सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति गान्धार-शैली में ही बनी। बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर आदि की मूर्तियां ध्यानमुद्रा, धर्मचक्र-मुद्रा, अभय-मुद्रा, वरद-मुद्रा आदि में बनने लगीं। इसके अतिरिक्त जन-साधारण के चित्र भी पत्थर में अंकित पाये जाते हैं। भारतीय मूर्तिकला पर यवन प्रभाव जो गान्धार-शैली में दिखायी पड़ता है वह पश्चिमोत्तर भारत तक ही सीमित रहा। यूनानी कला का उद्देश्य प्रकृति का सजीव अनुकरण और वाह्य सौन्दर्य का चित्रण था; भारतीय कला का आदर्श प्रतीकवाद और भावनावाद था। इसलिए यद्यपि भारतीय मूर्तिकला ने गान्धार-शैली से बाहरी आकार-प्रकार के बनाने में सहारा लिया, किन्तु मथुरा और वाराणसी पहुँचते-पहुँचते बुद्ध की प्रतिमा पूरी भारतीय हो गयी। बुद्ध यूनानी राजा या देवता की प्रति-कृति न होकर शुद्ध भारतीय योगी या ऋषि के रूप में प्रकट हुये।

**३. भारत पर यूनानी प्रभाव की समस्या**—यूनान का भारत के साथ काफी लम्बा सम्पर्क रहा। ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने पश्चि-

मोत्तर भारत पर आक्रमण किया; वह स्वयं उन्नीस महीने इस देश में रहा; इसके बाद उसके क्षत्रप भी भारत में कुछ समय तक शासन करते रहे। सिकन्दर के पश्चात् सेल्यूकस भारत की सीमा तक आया और उसका राजदूत मेगस्थनीज पाटलिपुत्र में ६ वर्ष तक रहा। एँटियोकस तृतीय भी भारत की सीमा से टकरा कर लौट गया। बाख्त्री यूनानियों ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक पंजाब और सीमान्त में शासन किया। शकों, पह्लवों और कुषणों के द्वारा भी यूनानी सम्पर्क भारत से बना रहा। अब प्रश्न यह है कि इस सम्पर्क का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा। युरोप यूनानी सभ्यता का इतना ऋणी है कि बहुत से युरोपीय विद्वानों की यह धारणा हो गयी थी कि संसार में जो कुछ भी महान् और सुन्दर है उसकी उत्पत्ति यूनान में हुई। इस विचार धारा के कई एक युरोपीय इतिहासकारों का मत था कि सिकन्दर के बाद का सारा भारतीय इतिहास और जीवन यूनान से प्रभावित है। और भारतीय राजनीति, साहित्य-धर्म और कला यूनान की देन है। यह मत अज्ञानमूलक और पक्षपात-पूर्ण था; भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह असिद्ध हो जाता है। हाँ, जीवन के कुछ क्षेत्रों में थोड़ा और अस्थायी यूनानी प्रभाव पड़ा।

सिकन्दर भारत में उन्नीस महीने रहा; परन्तु वह निरन्तर युद्ध में फँसा रहा और उसे किसी भी सामाजिक या सांस्कृतिक काम के लिये अवकाश नहीं था। उसने कुछ यूनानी नगर और उपनिवेश बसाये थे और क्षत्रप-शासन स्थापित किया था किन्तु उसके मरने के कुछ ही समय बाद यूनानी शासन और प्रभाव का नाम और निशान भी चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा मिटा दिये गये। ३०५ ई०पू० में सेल्यूकस चन्द्रगुप्त से हार कर लौटा और उसको लेने-के-देने पड़ गये। अर्थशास्त्र में जिस राजनीति समाज और संस्कृति का चित्र है उस पर यूनान का कोई प्रभाव नहीं दिखायी पड़ता। इसके बदले अशोक ने यवन-राज्यों में भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रचारकों को भेजा। तृतीय एँटियोकस को भी सुभागसेन से शीघ्र सन्धि करके लौटना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि बाख्त्री यवनों ने भारत के बड़े भाग पर आक्रमण किया और पश्चिमोत्तर भारत में लगभग १५० वर्ष तक शासन भी किया। परन्तु जहाँ तक भारतीय राजनीति और समाज का सम्बन्ध है, इनके प्रभाव

का कोई चिह्न नहीं मिलता।

अब देखना है कि भारतीय भाषा और साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ा या नहीं। यूनानी राजाओं के सिक्कों पर यूनानी भाषा में उनके नाम और उपाधियों को देखकर कुछ लोगों का अनुमान है कि यूनानियों से अधिकृत प्रदेशों में यूनानी भाषा समझी और बोली जाती थी। परन्तु यह अनुमान गलत है। सिक्कों की दूसरी तरफ प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि जन-साधारण यूनानी भाषा नहीं समझते थे। हाँ, यह संभव है कि ऊपर के सरकारी कर्मचारी या कुछ व्यापारी यूनानी समझते रहे हों। कुषणों ने यूनानी नकल के सिक्कों पर यूनानी लिपि का प्रयोग किया, परन्तु उनके सभी लेख प्राकृत भाषा में हैं, जिससे मालूम होता है कि वे स्वयं भी यूनानी भाषा नहीं जानते थे और उनके समय तक यह भाषा बिल्कुल मृत हो गयी थी। भारतीय भाषाओं में दो चार यूनानी शब्द कठिनाई से मिल सकते हैं। भारतीय साहित्य में भी यूनानी प्रभाव खोजने से नहीं मिलता। कुछ पुराने यूनानी लेखकों (प्लूटार्क और एलियन) ने लिखा है कि होमर के काव्य भारतीय गाते थे और अपनी भाषा में उसका अनुवाद किया था। रामायण और महाभारत तथा होमर के काव्य में कुछ कथानक का सादृश्य देखकर वेबर आदि विद्वानों ने भी यह धारणा बना ली थी। परन्तु यह बिल्कुल निश्चित है कि कुछ स्थलों को छोड़कर रामायण और महाभारत यूनानी आक्रमण के पहले बन चुके थे। कथानकों का सादृश्य तो सार्वभौम है; इसमें अनुकरण का अनुमान अनावश्यक है। संस्कृत नाटकों में जवनिका ( पर्दे ) का प्रयोग बहुतों को यूनानी प्रभाव का द्योतक मालूम पड़ता है। परन्तु प्रथम तो 'जवनिका' (यवनिका नहीं ) शब्द यूनानी है यह कहना कठिन है। दूसरे अवनिका नाटक का एक वाह्य उपकरण था नाटक की रचना और अभिनय से उसका सम्बन्ध नहीं के बराबर था।

भारतीय धर्म तो यवन प्रभाव से बिल्कुल अछूता था। हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार स्वयं यूनानियों और उनसे प्रभावित जातियों ने क्रमशः भारतीय धर्मों को ग्रहण किया; इसलिये उनके द्वारा भारतीय धर्म के प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मेगस्थनीज ने लिखा है कि हिमालय में डॉयोनिसस और मथुरा में हरक्लीज नामक यूनानी देवता की पूजा होती थी। परन्तु सच बात तो यह थी

कि इन स्थानों में शिव तथा बलराम-कृष्ण की पूजा होती थी जिसको गलती से मेगस्थनीज ने अपने देवताओं और पूजा-पद्धति में मिला दिया।

कला के क्षेत्र में स्थापत्य (भवन-निर्माण-कला) पर यूनानी प्रभाव का कोई अवशेष नहीं है। तक्षशिला में एक पह्लवी सूर्यमंदिर के कुछ स्तम्भ और दीवारें यूनानी ढंग की हैं किन्तु उनका अन्यत्र कोई अनुकरण नहीं मिलता। मूर्तिकला में मौर्य-मूर्ति-कला यूनानी प्रभाव से मुक्त है। केवल गान्धार-शैली में यूनानी हाथ और कलम दिखायी पड़ते हैं, यद्यपि मूर्तिकला का सारा विषय और आधार भारतीय हैं। मूर्तियों और भवनों की सजावट और वेश-भूषा में कुछ समय तक यूनानी प्रभाव चला, किन्तु भारतीय शिल्पियों ने शीघ्र इसका त्याग कर दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि मुद्रा-निर्माण में भारतीयों ने यूनानियों का अनुकरण किया। यूनानी आक्रमण के पहले भारत में प्रायः पंच मार्क सिक्कों का प्रयोग होता था जिनके आकार और तौल अनियमित होते थे। यूनानियों ने सुन्दर, कलात्मक, लेखों और चिह्नों से अंकित नियमित ढंग के सिक्के चलाये, जिनका अनुकरण कुषण, गुप्त और दूसरे भारतीय राजवंशों ने किया। ज्योतिष-शास्त्र में भी भारतीय यवनों के ऋणी हैं। होडा-चक्र, रोमक-सिद्धान्त और पौलिस सिद्धान्त यूनानी और रोमन प्रभाव के सूचक हैं। परन्तु ये प्रभाव पीछे के हैं जब यूनानी सत्ता भारत से बिल्कुल उठ गयी थी और दूसरे अप्रत्यक्ष स्रोतों से यह प्रभाव छनकर आ रहा था।

यह पूछा जा सकता है कि जब यूरोप और संसार के कई प्रदेशों पर यूनानी सभ्यता की गहरी छाप पड़ी, भारत एक लम्बे सम्पर्क के बाद भी यूनान से क्यों नहीं प्रभावित हुआ। इसका उत्तर यह है कि यूनानियों ने केवल भारत के पश्चिमोत्तर कोने को ही स्पर्श किया; भारत का हृदय उनके अधिकार-क्षेत्र से बाहर था। दूसरे, यवन प्रायः भारतीयों से और आपस में लड़ते रहे। सभ्य प्रभाव डालने का उनको अवसर नहीं मिला। भारतीय भी उनको 'दुष्ट, लड़ाकू विजेता' ही समझते थे, संस्कृति और कला के प्रचारक नहीं। यूनानी प्रभाव को रोकने का सबसे मौलिक कारण यह था कि भारत में एक अत्यन्त प्राचीन, प्रौढ़ और उन्नत अपनी संस्कृति थी। जिस समय यूनानी

संस्कृति स्वयं यूनान में मुरझा रही थी, भारतीय संस्कृति सजीव और जागरूक थी। उसको दूसरे के मुंह ताकने और उनसे उधार लेने की आवश्यकता न थी। भारतीय संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था अभी संकीर्ण और विवर्जनशील भी नहीं बनी थी; अतः जो यूनानी प्रभाव ग्रहण किये गये वे इस प्रकार भारतीय जीवन में मिला लिये गये कि उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

# चौदहवां अध्याय

## भारतीय साम्राज्य और संस्कृति का पुनरुत्थान

### अ. कुषण-साम्राज्य के पतन पर भारतीय राज्यों का उदय

बाख्त्री यवन आक्रमण से लेकर कुषणों के शासन-काल तक उत्तर भारत के काफी बड़े भाग पर विदेशियों का आधिपत्य रहा। जो भाग बचा भी रहा वह विदेशियों के आतंक से त्रस्त और राजनैतिक दृष्टि से बिखरा हुआ था। भारतीय साम्राज्य का केन्द्र उत्तर भारत से हट कर दक्षिण में आंध्रों के अधीन जीवित रहा, परन्तु उसको भी इन विदेशियों से बराबर अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करना पड़ा। इस काल में भारतीय संस्कृति भी संकट में थी। यद्यपि विदेशी आक्रमणकारियों में से अधिकांश ने भारतीय धर्मों को ग्रहण किया किन्तु उनके संस्कार, आचार, रहन-सहन और जीवन का क्रम भारतीयों से भिन्न था; अतः अभी तक सामाजिक और सांस्कृतिक वैषम्य बना हुआ था। अन्त में विदेशी सत्ता भारतीयों के प्रतिरोध और उनके सांस्कृतिक प्रभावों के द्वारा शिथिल हो गयी। वासुदेव कुषण के बाद जब कुषण-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी तब दबे हुये भारतीय राज्यों और जातियों ने फिर अपना सिर उठाया और सारे उत्तर भारत और दक्षिण में भी सजीव और जागरूक भारतीय राज्यों की एक शृङ्खला-सी बन गयी। इन्हीं नवजागृत राज्यों के आधार पर गुप्त साम्राज्य का निर्माण हुआ। इन नये राज्यों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१. गण-राज्यों का पुनर्जागरण—कुषण-सम्राज्य के ठीक बीच में पूर्वी पंजाब और पूर्वोत्तर राजस्थान में—गण-राज्यों ने पहले विदेशी साम्राज्य पर प्रहार किया। इनमें सबसे प्रबल शक्ति यौधेय-गण की

थी। लगभग २०० ई०पू० में इस गण ने अपनी स्वतंत्रता घोषित की। गण के नाम से अपने सिक्के चलाये। तीसरी शताब्दी के यौधेय-गण के सिक्के उनकी मूल भूमि सतलज-यमुना के बीच के प्रदेश, कांगड़ा, देहरादून, दिल्ली, सहारनपुर आदि में पाये जाते हैं। इन सिक्कों पर अभिलेख है: यौधेय-गणस्य जयः। इससे मालूम होता है कि इस भूभाग में कुषणों की सत्ता का विनाश कर यौधेयों ने अपनी सत्ता स्थापित की। सतलज घाटी का सारा प्रदेश भावलपुर राज्य तक इन्हीं यौधेयों के नाम पर योहियावार कहलाता है। दूसरा गण-राज्य जो इस समय जागृत और स्वतंत्र हुआ वह कुणिन्दों का था। सतलज और व्यास की ऊपरी घाटियों में इन्होंने अपने राज्य की स्थापना की। कुणिन्द यौधेयों के पड़ोसी, समकालीन और सहायक थे। कुषण-साम्राज्य के पतन में इनका भी हाथ था। तीसरा गण-राज्य जिसने कुषण-साम्राज्य के नष्ट करने में भाग लिया और अपनी स्वतन्त्रता स्थापित की। वह था आर्जुनायन-गण। इसका राज्य यौधेयों के दक्षिण-पश्चिम में था। यौधेय और आर्जुनायन अपने को पाण्डवों—युधिष्ठर और अर्जुन की संतान समझते थे और इनमें परस्पर काफी सहयोग था। ऐसा मालूम होता है कि यौधेय-कुणिन्द-आर्जुनायन-गणों का एक संघ था। इन तीनों गणों के अतिरिक्त रावी-चेनाब दोआबे में मद्र-गण ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित की।

अजमेर-टोंक-मेवाड़ में मालव-गण, जो उज्जैन के महाक्षत्रपों और कुषण-साम्राज्य के बीच में दब कर शिथिल हो गया था, फिर जागृत और शक्तिमान होता हुआ दिखायी पड़ता है। इन चारों के सिवाय राजस्थान और मध्यभारत में अन्य गण-राज्यों ने अपनी चेतना संभाली। ये सभी गण-राज्य समुद्रगुप्त के दिग्विजय तक इन प्रदेशों में बने रहे।

(२) नाग-वंश : भारशिव—मथुरा और गंगा से पूर्व संयुक्त-प्रान्त और पश्चिमी बिहार, बुन्देल-खंड और बघेल-खंड में जिन लोगों ने कुषण-साम्राज्य को हटा कर अपनी शक्ति जमायी वे थे प्राचीन नागवंश के लोग। पुराणों के अनुसार इनके मुख्य केन्द्र थे—विदिशा, पद्मावती (मथुरा से १२५ मील दक्षिण ग्वालियर राज्य में पदमपवाया), मथुरा और कांतिपुरी (मिर्जापुर जिले में कांतित)। गण-राज्यों की

तरह नागों ने भी शिथिलकाय कुषण-साम्राज्य के टुकड़े अपने अ
कार में किया। प्रसिद्ध नागराजा वीरसेन ने विदेशियों के प्रसिद्ध
मथुरा में भारतीय आधिपत्य की पुनः स्थापना की। बघेलखंड
नागों ने—जिनकी उपाधि 'भारशिव' (कंधों पर शिवलिंग व
करने वाला) थी—कांतिपुरी से आगे बढ़कर कुषण-साम्राज्य के
भाग पर अपना आधिपत्य जमाया। एक वाकाटक उत्कीर्ण लेख
मालूम होता है कि भारशिवों ने (पूर्वी) गंगा घाटी को जीत कर
अश्वमेध यज्ञ किये। यद्यपि भारशिवों ने कोई बड़ा साम्राज्य
बनाया किन्तु पुनरुत्थान-मूलक राजनीति के प्रभाव से अपनी वि
के उपलक्ष में उन्होंने एक नहीं दस अश्वमेध यज्ञ किये। काशी प्र
जायसवाल के मत में दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान काशी
दशाश्वमेध घाट पर हुआ था। नाग वंशों के अतिरिक्त कोटा-राज्य
आसपास मौखरी, कौशाम्बी में मघ और पाटलिपुत्र में कोट-कुल
स्थानीय राज्य थे। अवन्ति और सुराष्ट्र में शक-क्षत्रप अभी ब
किन्तु वे बिल्कुल निष्प्रभ और शक्तिहीन थे।

३. मध्यप्रदेश और दक्षिणापथ में नये राज्य—२५०ई०
लगभग विंध्य के उत्तर (बुन्देल-खण्ड) में विंध्य-शक्ति ने एक र
की स्थापना की जो थोड़े ही दिनों में विंध्य के दोनों तरफ फैल
और विशाल वाकाटक-राज्य के रूप में विकसित हुआ। वास्तव
यह राज्य आंध्र-सातवाहन साम्राज्य का उत्तराधिकारी था। महाको
और मेकल में भी एक नये राज्य की स्थापना हुई, जिसका राजा म
समुद्र गुप्त का समकालीन था। गोदावरी और महानदी के बीच के प्र
में कई छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुये। गोदावरी और कृष्णा के म
आंध्रदेश में इक्ष्वाकुवंश का राज्य था। कृष्णा के दक्षिण में पल्ल
पाण्ड्य, चोल आदि सुदूर दक्षिण के राज्य थे।

ऊपर के प्रायः सभी राज्यों ने विदेशी सत्ता के विरुद्ध राजनै
जागरण में भाग लिया। गुप्त सम्राटों ने अपनी दिग्विजय की नीति
आर्यावर्त (उत्तर भारत) के सभी राज्यों को अपने गृह-राज्य में स
लिया और दक्षिणापथ के राज्यों पर भी आधिपत्य स्थापित कर प्र
सम्पूर्ण भारत को एक साम्राज्य के अंतर्गत ग्रथित किया।

## आ. गुप्त-साम्राज्य

(१) गुप्तों का वंश-परिचय—गुप्त-सम्राटों ने अपने प्रसिद्ध उत्कीर्ण लेखों में अपने वंश, सामाजिक पद, वर्ण या जाति आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है इसलिये उनकी उत्पत्ति का इतिहास बहुत कुछ अन्धकारमय है। उनके नामान्त 'गुप्त' से बहुतों का अनुमान है कि गुप्त-वंश वैश्य-वर्ण का था, क्योंकि स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण की उपाधि शर्मा, क्षत्रिय की वर्मा, वैश्य की गुप्त या भूति और शूद्र की दास होनी चाहिये। इस अनुमान के विरुद्ध दो आपत्तियाँ हैं। एक तो गुप्त उपाधि नहीं, किन्तु नामान्त है और प्रायः सभी नामों के अन्त में गुप्त आने से सुविधा के लिये इसे गुप्त वंश मान लिया गया है। दूसरे व्यवहार में उपर्युक्त उपाधियाँ ठीक तरह से काम में नहीं आतीं। इतिहास में बहुतसे ब्राह्मणों के नाम भी ब्रह्मगुप्त, विष्णुगुप्त, देवभूति, भवभूति आदि पाये जाते हैं। परवर्ती मध्यप्रदेश के एक राजा शिवगुप्त की सारपुर-प्रशस्ति में चन्द्रगुप्त ( गुप्त राजा ) को स्पष्टतः चन्द्रवंशी कहा गया है। इससे मालूम होता है कि गुप्त-राज अपने को चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानते थे। जायसवाल ने गुप्तों को मूलतः जाट माना है जो पीछे निखर कर उच्च कोटि के क्षत्रिय हो गये। मञ्जुश्री मूलकल्प में गुप्तों को कहीं क्षत्रिय और कहीं वैश्य कहा गया है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि गुप्त प्रारम्भ में वैश्य रहे हों और पीछे वर्ण बदल कर क्षत्रिय हो गये हों। गुप्तों का विवाह-सम्बन्ध क्षत्रिय नागों लिच्छवियों और कदम्बों और ब्राह्मण वाकाटकों के साथ होता था। इससे जान पड़ता है कि अपने शासन-काल में गुप्त क्षत्रिय ही माने जाते थे।

(२) गुप्तों का उदय—पुराणों के अनुसार गुप्तों के राज्य का उदय प्रयाग और साकेत ( अयोध्या ) के बीच संभवतः प्रयाग के पास ( कौशाम्बी में ) लगभग तीसरी शताब्दी के अन्त में हुआ। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के प्राप्तिस्थान से भी यही संकेत मिलता है। इस वंश का संस्थापक श्रीगुप्त था। इसके परवर्ती गुप्त-लेखों में इसके नाम के साथ 'महाराज' राजनैतिक पदवी लगी हुई है, जिससे मालूम होता है कि वह कोई साधारण सामन्त-राजा था। इसके समय

की किसी घटना का पता नहीं। इत्सिंग नाम के चीनी यात्री ने लिखा है कि चे-लि-कि-टो (= श्री गुप्त) ने मृगशिखावन (मुंगेर के पास) में चीनी यात्रियों के लिये एक मंदिर (चैत्य) बनवाया। कुछ इतिहासकार श्री गुप्त (गुप्तवंशी) और चे-लि-कि-टो को अभिन्न समझते हैं, किन्तु यह संभावना मात्र है। यदि दोनों एक भी हों तो भी श्रीगुप्त का उस प्रदेश से कोई राजनैतिक सम्बन्ध नहीं था; मृगशिखावन में उसकी एक धार्मिक कृतिमात्र थी। श्रीगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र घटोत्कच था। इसकी पदवी भी केवल 'महाराज' से मिलती है, जिससे जान पड़ता है कि इसके समय में गुप्त-वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा में कोई वृद्धि नहीं हुई। वह भी अभी तक अधीन राजा था।

(३) चन्द्रगुप्त (प्रथम)—यह अपने वंश का पहला राजा था जिसने उसको पूर्ण स्वतंत्र कर उसका विस्तार और शक्ति बढ़ायी। उसके नाम के साथ 'महाराजाधिराज' की पदवी इस बात को सूचित करती है। जायसवाल ने कौमुदी महोत्सव नामक नाटक के आधार उसकी काफी मनोरंजक कहानी हमारे सामने रखा है। इसके अनुसार पाटलिपुत्र के कोटकुल के राजा सुन्दर वर्मन् ने चन्द्रगुप्त (चण्डसेन = चन्द्रसेन) को गोद लिया। इसके कुछ दिनों बाद उसको अपनी रानी से कल्याणवर्मन् नामक पुत्र हुआ। स्वभावतः अपने निजी पुत्र को वह अपने बाद राजा बनाना चाहता था और चन्द्रगुप्त को उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। चन्द्रगुप्त महत्वाकांक्षी और चतुर था। उसने कोटकुल के शत्रु वैशाली और नैपाल लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया और उनकी सहायता से सुन्दरवर्मन को युद्ध में मारकर पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। कल्याणवर्मन भाग कर दक्षिण चला गया। पाटलिपुत्र की प्रजा और राजमन्त्री चन्द्रगुप्त के पितृघाती होने के कारण उससे असंतुष्ट थे। एक बार चन्द्रगुप्त जंगली जातियों के उपद्रव को दबाने के लिए विन्ध्यपर्वत की ओर गया। अवसर पाकर कल्याणवर्मन् को वापस बुलाया और चन्द्रगुप्त को फिर पाटलिपुत्र में घुसने नहीं दिया। विवश होकर चन्द्रगुप्त को अपने पैतृक राज्य को लौट जाना पड़ा। इस कहानी में सत्य का अंश काफी बड़ा है। इसकी पुष्टि उत्कीर्ण लेखों और सिक्कों से भी होती है। इसमें सन्देह

नहीं कि लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध चन्द्रगुप्त के जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना थी। यही कारण था कि उसका पुत्र समुद्रगुप्त 'लिच्छवि-दौहित्र' (लिच्छवियों की लड़की का लड़का) कहलाता था। चन्द्रगुप्त ने 'राजा और रानी' शैली का सिक्का चलाया जिसके एक ओर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी की मूर्तियां और दूसरी तरफ सिंह के ऊपर बैठी शक्ति या दुर्गा के नीचे 'लिच्छवयः' अङ्कित है। लिच्छवियों ने सुन्दरवर्मन के विरुद्ध चन्द्रगुप्त की सहायता की। इसके बाद मालूम होता है कि उन्होंने वैशाली के पास का अपना प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे दिया और मगध का कुछ भाग फिर जीतने में उसकी सहायता की। इस राज्यविस्तार के साथ चन्द्रगुप्त अपने पैतृक राज्य के सिंहासन पर ३१९-२० ई० में बैठा और गुप्त-संवत् का प्रवर्तन किया। इस समय उसके अधिकार में प्रयाग (पुराना वत्स), कोसल (साकेत) पश्चिमोत्तर और दक्षिण-पश्चिम बिहार थे। परन्तु पाटलिपुत्र वह वापस न ले सका। फिर भी इस पर गुप्तों की दृष्टि लगी रही।

(४) समुद्रगुप्त पराक्रमाङ्क—सौभाग्य से समुद्रगुप्त अपना लिखित इतिहास आप छोड़ गया है। कौशाम्बी में जो अशोक-स्तम्भ था उसी पर समुद्रगुप्त की विस्तृत प्रशस्ति अंकित है। इससे समुद्रगुप्त के बाल्य-जीवन, शिक्षा, व्यक्तिगत गुण, दिग्विजय, तत्कालीन राजनैतिक अवस्था, भाषा, साहित्य, शास्त्र, विद्या आदि की पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

लड़कपन से ही समुद्रगुप्त होनहार था। अस्त्र-शस्त्र की उसकी अच्छी शिक्षा हुई थी। साथ ही वह साहित्य, संगीतकला में भी निपुण था। जब वह राजकुमार था, तभी उसने अपनी वीरता और नीतिकुशलता का परिचय दिया था। उसके पिता ने उसको अपने सभी पुत्रों में योग्यतम समझ कर अपना उत्तराधिकारी चुना। उसकी कृतियों से हम देखेंगे कि किस प्रकार उसने अपने पिता की आशाओं को पूरा किया।

**(१) समुद्रगुप्त का राजनैतिक आदर्श—समुद्रगुप्त का आदर्श भारत के प्राचीन क्षत्रियों का परम्परागत आदर्श-दिग्विजय और भारत का राजनैतिक एकीकरण था। उसके सामने उदाहरण महापद्म और चन्द्रगुप्त मौर्य थे। उसके सिक्कों पर उसकी एक प्रमुख उपाधि 'सर्व-**

राजोच्छेत्ता' ( सब छोटे छोटे राज्यों का उच्छेद करने वाला ) थी। गत विदेशी आधिपत्य के समय छोटे राज्यों की अनुपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी। इसलिये समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति को काफी प्रोत्साहन मिला। अपनी राजनैतिक विचार-धारा में समुद्रगुप्त अशोक का बिल्कुल उलटा था। मानो उसने अशोक की शान्तिवादी नीति और धर्मविजय की अवहेलना करते हुये, उसी के स्तम्भ पर अपने साम्राज्य-वादी आदर्श और दिग्विजय की प्रशस्ति अंकित करायी।

(२) समुद्रगुप्त की प्रारम्भिक विजय—पहले हम देख चुके हैं कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त (प्रथम) लिच्छवियों की सहायता से एक स्वतंत्र और साधारणतः बड़ा राज्य स्थापित करने में सफल रहा। परन्तु उत्तर भारत में गुप्त-राज्य के दो प्रबल शत्रु वर्तमान थे—एक था पाटलिपुत्र का कोटकुल और दूसरा मथुरा और पद्मावती के नाग-वंश जो कोटकुल के सम्बन्धी थे। जिस समय समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर रहा था, संभवतः उसी समय, पीछे से अच्युत और नागसेन नामक नाग-राजाओं ने उसके राज्य पर चढ़ाई कर दी। समुद्र-गुप्त पश्चिम और पूर्व दोनों रणक्षेत्रों के लिये तैयार था। उलट कर उसने पहले अच्युत और नागसेन को ही बुरी तरह से हराया और फिर आसानी से मानो खेलता हुआ कोटकुल का विनाश कर पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। पाटलिपुत्र-विजय गुप्तों के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना थी। पाटलिपुत्र कई शताब्दियों तक मगध-राज्य की राजधानी थी। इसकी प्राप्ति से गुप्तों की साम्राज्यवादी आकांक्षायें और जागृत हो गयीं। अब गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र में आ गयी और चन्द्र-गुप्त (प्रथम) का स्वप्न पूरा हुआ। इसके बाद यहीं से दिग्विजय की योजना प्रारम्भ हुई।

( ३ ) समुद्रगुप्त की दिग्विजय—प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन कई क्षेत्रों में किया गया है। प्रशस्तिकार ने वर्णन करते समय अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों का ही ध्यान रखा है, तिथिक्रम का नहीं। परन्तु नीचे की पँक्तियों में तिथि-क्रम से विजयों का विवरण दिया जायगा।

(क) आर्यावर्त का विजय—सबसे पहले समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त

( उत्तर भारत) का विजय किया। इस क्षेत्र में विजित राजाओं की सूची में निम्नलिखित नाम पाये जाते हैं : रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त चन्द्रवर्मन, गणपति नाग, नागसेन, नन्दिन और अच्युत। इनमें से पहला नाम तो वाकाटक राजा का है। शेष राजाओं में अधिकांश पद्मावती और मथुरा के नागवंशी और कुछ पश्चिमी और पूर्वी सीमा के राजा थे। इनके साथ समुद्रगुप्त ने असुर-विजयी नीति का व्यवहार किया और बलपूर्वक इनका उन्मूलन कर इनका राज्य अपने राज्य में मिला लिया।

(ख) अटवी राज्यों के ऊपर विजय—आर्यावर्त के मैदान के राज्यों को आत्मसात करने के बाद समुद्रगुप्त ने विन्ध्य-पर्वत के आसपास के जंगली राज्यों की ओर ध्यान दिया। उनको पराजित करके राजनैतिक भाषा में इन्हें परिचारक ( विशेष अवसरों पर सेवक का काम करने वाले ) बना लिया।

(ग) दक्षिणापथ की विजय—उत्तर भारत में अपनी शक्ति दृढ़ और राज्य सुरक्षित करके समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ ( दक्षिण भारत ) पर आक्रमण किया। दक्षिणापथ के सभी राजाओं को उसने पराजित किया जिनमें से उल्लेखनीय ये थे : कोसल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, पिष्टपुर ( पीठापुर ) के महेन्द्र, कोट्टर (गंजाम) के स्वामिदत्त, कोराल (भील) के मण्टराज, वेङ्गी के हस्तिवर्मन, कांची के विष्णुगोप, पलक्क (पालघाट) के उग्रसेन, एरण्डपल्ल (खानदेश) के दमन, अवमुक्त के नीलराज, देवराष्ट्र ( महाराष्ट्र ) के कुबेर और कुशस्थलपुर ( द्वारका ) के धनञ्जय। इन राजाओं के साथ समुद्रगुप्त ने असुरविजयी नीति का व्यवहार न कर धर्मविजयी नीति का अवलम्बन किया। अर्थात् इन राजाओं को पराजित करने के बाद उनके राज्य न छीनकर फिर उन्हीं को लौटा दिया। उन लोगों ने केवल समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया। समुद्रगुप्त उपहार और कर ग्रहण कर उत्तर भारत लौट आया।

(घ) सीमान्त राज्यों और गणों की विजय—आर्यावर्त और दक्षिणापथ में समुद्रगुप्त की विजयों ने सीमान्त ( प्रत्यन्त ) राज्यों और गणों को भयभीत कर दिया और उन्होंने बिना युद्ध के उसकी

अधीनता स्वीकार कर ली। वे समुद्रगुप्त के प्रचण्ड शासन को सर्व कर (सभी प्रकार के वार्षिक कर), दान (उपहार) आज्ञाकरण (आज्ञापालन), प्रणाम, आगमन आदि से संतुष्ट रखते थे। प्रत्यन्त राजाओं और गणों के नाम इस प्रकार दिये हैं: राज्य—(१) समतट (गंगा का मुहाना) (२) दवाक (ढाका के आसपास की भूमि) (३) कामरूप (आसाम) (४) नेपाल और (५) कर्तृपुर (पूर्वोत्तर पंजाब और पश्चिमोत्तर युक्तप्रांत)। गण—(१) मालव (अजमेर-टोंक-मेवाड़) (२) आर्जुनायन (अलवर-पूर्वी जयपुर) (३) यौधेय (यमुना के पश्चिम बहावलपुर तक सतलज की घाटी =जोहियावार) (४) मद्र (रावी और चेनाब के बीच) (५) आभीर (सुराष्ट्र, मध्य भारत में पार्वती और बेतवा के बीच) (६) प्रार्जुन (मध्य प्रदेश में नरसिंहपुर के पास) (७) सनकानीक (भिलसा के पास) (८) काक (भिलसा के ही पड़ोस में) और (९) खरपरिक (मध्य प्रदेश में डमोह के पास)।

(ङ) पड़ोस के विदेशी राज्यों पर आधिपत्य—पश्चिमोत्तर भारत के कुषण राज्य, अवन्ति के क्षत्रप (शक) इस समय बिल्कुल दुर्बल हो गये थे। सिंहल (लंका) और हिन्द महासागर के छोटे-छोटे द्वीपों में यह शक्ति नहीं थी कि वे समुद्रगुप्त का सामना करते। इसलिये उन्होंने समुद्रगुप्त से अधीन मैत्री कर ली। इस संधि की शर्तें थीं—(१) आत्म-निवेदन (समर्पण) (२) कन्योपायन (मैत्री को दृढ़ बनाने के लिये राजकुमारियों का दान) (३) दान (उपहार) (४) अपने देशों में शासन करने के लिये गुप्तों का गरुत्मदङ्क (गरुड़ की मूर्ति से अंकित मुद्रा) स्वीकार करना आदि। इन शर्तों से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त और पड़ोस के विदेशी राज्यों में बराबर का मैत्री-सम्बन्ध नहीं, किन्तु विदेशी राज्य उसके अधीन मित्र थे। समुद्रगुप्त के विजयों और यश से आतंकित होकर उन्होंने अधीनता स्वीकार की। भारत और लंका के बीच सम्बन्ध के बारे में एक चीनी स्रोत से भी पता चलता है। इसके अनुसार लंका के राजा मेघवर्ण (३५२-३७९ ई० प०) ने दो भिक्षुओं को बोध-गया भेजा, किन्तु उनके ठहरने, भोजनादि की कोई व्यवस्था नहीं हुई। इस शिकायत को सुनकर

मेघवर्ण ने बहुत उपहारों के साथ अपने राजदूत को एक विहार बनाने के लिये भारत के राजा से आज्ञा प्राप्त करने के वास्ते भेजा। आज्ञा मिल गयी और बोध-गया में लंका के राजा ने महाबोधि-संघाराम नामक विहार बनवाया। हुयेन-संग की यात्रा के समय यह विहार भी सुरक्षित था।

(४) अश्वमेध—अपनी विजयों के बाद सारे भारत पर अपने आधिपत्य को नियमतः स्थापित करने के लिये समुद्रगुप्त ने अश्वमेध नामक यज्ञ का अनुष्ठान किया। धर्म से अनुप्राणित प्राचीन राजनैतिक आदर्शों का पुनरुत्थान इससे सूचित होता है। एक उत्कीर्ण गुप्त-लेख से मालूम होता है कि उसने बहुत दिनों से उच्छिन्न अश्वमेध का पुनरुद्धार किया। वैसे तो आन्ध्रों, भारशिवों और वाकाटकों ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया। परन्तु वास्तव में विदेशी सत्ता से मुक्त सम्पूर्ण भारत की राजनैतिक एकता का द्योतक अश्वमेध बहुत दिनों के बाद समुद्रगुप्त ने ही किया। इस यज्ञ के उपलक्ष में समुद्रगुप्त ने सोने के अश्वमेध शैली के सिक्कों का निर्माण कराया जिनके एक ओर अश्वमेध के घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर रानी की मूर्ति और अभिलेख 'अश्वमेध-पराक्रमः' (अश्वमेध के योग्य पराक्रम वाला) अंकित है। लखनऊ के संग्रहालय में एक घोड़े की मूर्ति है जिसके ऊपर प्राकृत में 'समुद्दगुत्तस देय धम्म' लिखा है। बहुतों का अनुमान है कि यह समुद्रगुप्त के अश्वमेध के घोड़े की प्रतिकृति है। अश्वमेध के अवसर पर समुद्रगुप्त ने बहुत दान-पुण्य किया।

(५) समुद्रगुप्त का चरित्र—समुद्रगुप्त की सैनिक और राजनैतिक प्रतिभा का परिचय उसकी विजयों से मिल चुका है। वह योग्य योद्धा और शिकारी था। उसके धनुर्धर और व्याघ्र-पराक्रम शैली के सिक्के इसके साक्षी हैं। किंतु वह केवल रण-नीति में ही कुशल नहीं, शास्त्र, साहित्य, कला, संगीत आदि में भी पारंगत था। प्रयाग-प्रशस्ति की कविता की भाषा में 'वह अपने शास्त्र-ज्ञान से देवताओं के गुरु वृहस्पति को और अपने संगीत और ललित-कलाओं के ज्ञान से नारद और तम्बुरु को भी लज्जित करता था।' वह स्वयं काव्य करता था और 'कविराज' की उपाधि से विभूषित था। उसका संगीत-प्रेम उसके वीणा-शैली के सिक्कों से भी प्रकट होता है। इन सिक्कों पर पर्यंक पर

बैठकर वीणा बजाते हुये समुद्रगुप्त की मूर्ति अंकित है। शास्त्रज्ञ, कवि और संगीतज्ञ समुद्रगुप्त विद्वानों, कवियों और कलाकारों का आश्रय दाता था। उसने अपने उदार पुरस्कारों द्वारा सरस्वती और लक्ष्मी के विरोध (कवियों की दरिद्रता) को मिटा दिया था।

धार्मिक क्षेत्र में समुद्रगुप्त परम्परागत धर्म की मर्यादा को स्थापित करने वाला ( धर्मप्राचीरबन्धः ) था। वह शास्त्रों से विहित मार्ग पर चलता था ( सूक्तमार्गः )। कृपण, दीन, अनाथ और आतुर-जनों का उद्धारक था। लोकानुग्रह ( संसार के ऊपर अनुग्रह करना) उसके जीवन का परम कर्तव्य था। उसके गरुत्मदङ्क ( गरुड़ की मूर्ति से अङ्कित मुद्रा ) से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त गरुड़वाहन विष्णु का भक्त था। परन्तु बौद्ध आदि दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों का भी आदर करता था।

एक लम्बे और यशस्वी शासन के बाद लगभग ३७५ ई० में समुद्रगुप्त ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

## ५. रामगुप्त

समुद्रगुप्त के एरण उत्कीर्णलेख से मालूम होता है कि उसके बहुत से पुत्र और पौत्र थे। उसका जेठा पुत्र रामगुप्त उसके बाद सिंहासन पर बैठा। विशाखदत्त द्वारा लिखित देवी-चन्द्रगुप्तम् नामक संस्कृत नाटक के अनुसार, शायद उसके गद्दी पर बैठते ही, शकों (कुषणों) ने उसके साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसको हिमालय के पास किसी गिरि-दुर्ग में घेर लिया। विवश होकर रामगुप्त को शकों से हीन-संधि करनी पड़ी और अपनी रानी ध्रुवदेवी को शकों को समर्पित करने की शर्त को स्वीकार करना पड़ा। परन्तु रामगुप्त का छोटा भाई चन्द्रगुप्त बड़ा साहसी और अभिमानी था। उसने ध्रुवदेवी के वेश में स्त्रीरूपधारी सैनिकों के साथ स्वयं शकों के स्कन्धावार ( सैनिक छावनी ) में प्रवेश किया और ध्रुवदेवी को आलिंगन करने के लिये व्याकुल शक राजा को मारकर शक सेना को गुप्तराज्यके बाहर भगा दिया। ध्रुवदेवी अपने पति रामगुप्त के कायरतापूर्ण व्यवहार से लज्जित और क्षुब्ध थी। धीरे धीरे चन्द्रगुप्त के लिये उसका प्रेम हो गया। चन्द्रगुप्त के षड्यंत्र से रामगुप्त मारा गया। चन्द्रगुप्त ने ध्रुव-देवी से विवाह किया और गुप्त-साम्राज्य का अधिपति बन बैठा।

बाण के हर्ष-चरित और शंकरार्य द्वारा उस पर टीका में, राजशेखर की काव्यमीमांसा, राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष के ताम्रपट्ट और अरबी ग्रन्थ मजमुलत्तवारीख में रामगुप्त की कथानक की चर्चा है। परन्तु, क्योंकि रामगुप्त के कोई सिक्के नहीं मिले हैं और गुप्त-उत्कीर्ण लेखों में उसका उल्लेख नहीं है, इसलिये बहुत से ऐतिहासिक उसकी ऐतिहासिकता स्वीकार नहीं करते। किंतु इस शंका के निवारण में देर नहीं लगती जब हमें मालूम हो जाता है कि रामगुप्त का शासन-काल अत्यन्त संक्षिप्त था और उसको नये सिक्के (अपने नाम से) चलाने अथवा दान-पत्र और प्रशन्ति लिखाने का अवसर नहीं मिला। रामगुप्त के कोई पुत्र नहीं था; उसके बाद चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा। गुप्त-वंशावलियां पिता-पुत्र के क्रम से चलती हैं, अतः रामगुप्त को उनमें स्थान नहीं मिला।

## ६. चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य

अपनी कुमारावस्था से ही चन्द्रगुप्त वीर और साहसी था। शक-राज के मारने और शकों के खदेड़ने में उसने अपने शौर्य और चतुराई का परिचय दिया था। उसकी महत्वाकांक्षा और कूटनीति का पता अपने बड़े भाई का राज्य और स्त्री अपनाने में लगता है। परन्तु चन्द्रगुप्त केवल इतनी सफलता से संतोष करनेवाला नहीं था। उसके सामने एक बड़ी समस्या थी; गुप्त साम्राज्य को और दृढ़ और सुरक्षित कैसे बनाया जाय? इसमें कोई सन्देह नहीं कि समुद्रगुप्त ने भारत में सार्वभौम-साम्राज्य स्थापित किया था; परन्तु इस साम्राज्य में कई शृङ्खलायें ढीली रह गयी थीं। समुद्रगुप्त ने प्रत्यन्त राजाओं और गणों को अधीन करके छोड़ दिया था, जो स्वतंत्र होने की बराबर चेष्टा करते रहते थे। किंतु इससे अधिक भय था उन विदेशी कुषण और शक (क्षत्रप) पड़ोसियों से जिन्होंने समुद्रगुप्त की विजय वाहिनी से डर कर अधीन मैत्री कर ली थी, किंतु अवसर पाते ही भारत पर प्रहार करने को तैयार बैठे थे। रामगुप्त के समय में शकों के आक्रमण ने इस बात को सिद्ध कर दिया था। चन्द्रगुप्त भारतीय साम्राज्य के उपर्युक्त दोनों कंटकों को निकाल देना चाहता था। इसलिये रामगुप्त के काम को पूरा करने के लिये उसने भी दिग्विजय पर प्रस्थान किया।

## (१) चन्द्रगुप्त की दिग्विजय

(क) गण-राज्यों का विनाश—पश्चिमोत्तर भारत के कुषण और अवन्ति के महाक्षत्रपों तथा गुप्त-साम्राज्य के बीच उत्तर में मद्र-गण से लेकर दक्षिण में खरपटिक-गण तक छोटे-छोटे गणों की एक पतली दीवार सी थी। ये गण बड़े स्वतंत्रता प्रेमी थे। परन्तु इस समय जिस अवस्था में वे थे, किसी संगठित विदेशी आक्रमण का सामना करने में असमर्थ थे। इसलिये चन्द्रगुप्त ने पहले इन्हीं गणों का विनाश किया। उदयगिरि में मिले हुये उत्कीर्ण लेखों से पता लगता है कि मध्यभारत की तरफ दिग्विजय करने के लिये चन्द्रगुप्त गया हुआ था। इस घटना के बाद भारत के इतिहास में गण-तंत्रों का कोई अस्तित्व नहीं रहा।

(ख) अवन्ति के क्षत्रपों का अन्त—मध्यभारत के गणों का विनाश करने के बाद उसी दिशा में चन्द्रगुप्त ने विजय-यात्रा की और अवन्ति के क्षत्रपों का अन्त किया। रुद्रसिंह तृतीय के ३८८ ई० तक के सिक्के मिलते हैं। इसके बाद का कोई सिक्का नहीं मिलता। वही अंतिम क्षत्रप था जिसका वध चन्द्रगुप्त ने किया। क्षत्रप-सिक्कों के अनुकरण पर मालवा में चन्द्रगुप्त ने अपने चाँदी के सिक्के चलाये।

(ग) पूर्वी प्रत्यन्त राज्यों का अन्त—मिहरौली लौह-स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि गुप्त-साम्राज्य के शत्रु प्रत्यन्त-नृपति-समतट, दवाक और कामरूप के राजा बंगाल में गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण करने को इकट्ठे हो गये थे। परन्तु उनको बलपूर्वक पराजित कर चन्द्र-गुप्त ने अपनी भुजाओं पर खड्ग से कीर्ति अंकित की। इससे 'गुप्त' साम्राज्य की सीमा सीधे आसाम तक फैल गयी।

(घ) पश्चिमोत्तर भारत पर आधिपत्य—पूर्व के प्रत्यन्त-राज्यों का भंग करने के बाद चन्द्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर भारत पर, जहाँ पर कुषणों के वंशज अभी तक शासन कर रहे थे, आक्रमण किया। मिह-रौली के लौह-स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि उसने सिन्धु नदी की सात सहायक नदियों (सतलज से लेकर काबुल तक) को पार कर उसने वाह्लिकों को हराया। उसने पंजाब और सीमान्त पर अधिकार जमा कर भारत के प्राचीन दिग्विजयी राजाओं की परिपाटी के अनुसार

वाह्लिको (इस समय ऋषिक-तुषार=शक मुरुण्डों) को काबुल के उस पार खदेड़ दिया। कई शताब्दियों तक शक भारतीय राजनीति की एक विकट समस्या थे। उनको हराने वाले का बड़ा यश माना जाता था। ५७ ई० पू० में उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने शकों को हरा कर संवत् का प्रवर्तन किया था। चन्द्रगुप्त ने उत्तरापथ और अवन्ति के शक-राज्यों का उच्छेद करके 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया। चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम और प्रताप से फिर अपना आधिपत्य वहाँ दृढ़ किया।

(ङ) दक्षिणापथ पर पुनः आधिपत्य-स्थापन—ऊपर के ही स्तम्भ-लेख से यह भी जान पड़ता है कि संभवतः रामगुप्त के शासन के समय दक्षिण भारत के राजाओं ने गुप्तों के साम्राज्य से निकलने का प्रयत्न किया और चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम और प्रताप से फिर अपना आधिपत्य वहाँ दृढ़ किया।

(२) चन्द्रगुप्त की नीतिज्ञता और उसके वैवाहिक सम्बन्ध—चन्द्रगुप्त एक महान् विजेता होने के साथ-साथ एक कुशलनीतिज्ञ भी था। अपने समय की शक्तियों को अपने वश में लाने के लिये उसने केवल शस्त्र का ही प्रयोग न किया, किन्तु नीति से भी काम लिया। उसने उन अधीन राज्यों से जो असंतुष्ट या शक्तिमान् थे विवाह-सम्बन्ध करके अपना मित्र बना लिया। उसने पराजित और असंतुष्ट नाग-सामन्तकुबेरनाग की लड़की कुबेरनागा से अपना विवाह किया। दक्षिण के राज्यों में वाकाटक-राज्य सबसे शक्तिमान् था। उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह द्वितीय रुद्रसेन (वाकाटक राजा) से करके वाकाटकों को अपना पक्का मित्र बना लिया। उत्तर कर्नाटक के कुंतल-राज (कदम्बवंशी) की कन्यायें भी गुप्तराज-वंश में ब्याही गयीं। ये सभी वैवाहिक सम्बन्ध राजनैतिक दृष्टि से महत्व के थे।

(३) शासन-योग्यता—प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के बाद गुप्त-शासन-प्रबन्ध को संगठित करने का श्रेय भी चन्द्रगुप्त को ही है। समुद्रगुप्त और रामगुप्त को इसके लिये अवसर नहीं मिला था। इसके आदर्श शासन की प्रशंसा चीनी यात्री फाहियान (३६६-४१४) करता है। इसका वर्णन यथास्थान गुप्त शासन

के अन्तर्गत किया जायेगा। विस्तृत और सुव्यवस्थित शासन से
की आर्थिक अवस्था और व्यापार की उन्नति हुई।

## ७. कुमारगुप्त (प्रथम) महेन्द्रादित्य

(१) साम्राज्य की रक्षा और समृद्धि—४१४ ई० के लग
चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के मरने के बाद कुमारगुप्त एक विशाल और सु
वस्थित राज्य का अधिकारी हुआ। वह स्वयं बड़ा विजेता नहीं
किन्तु बपौती में जो साम्राज्य मिला था उसको उसने सुरक्षित र
उसके समय के उत्कीर्ण लेखों और उसके सिक्कों के प्रचलन से प्रक
कि गुप्त-साम्राज्य के दूर-दूर के प्रांत उसके अधिकार में थे। उसके स
में गुप्तों का आधिपत्य सारे भारत पर बना रहा। मंदसोर-शि
लेख में प्रशस्तिकार तो यहां तक लिखता है कि वह 'चारों समुद्रों
चंचल लहरों से घिरी हुई पृथ्वी पर' शासन करता था। शान्ति, स्थि
सुव्यवस्था के कारण गुप्त-साम्राज्य इस समय अपनी समृद्धि
चरम-सीमा पर था। यह बात इस समय के सिक्कों की विशुद्धता
सौंदर्य, स्थापत्य और मूर्तिकला के विकास तथा आर्थिक और व
पारिक उन्नति से सिद्ध होती है।

(२) अश्वमेध—किसी लेख में कुमारगुप्तकी विजयों और अ
मेध का वर्णन नहीं मिलता। परन्तु उसके अश्वमेध-शैली के सो
सिक्के मिले हैं। इन पर एक ओर यज्ञ के खम्भे से बंधा हु
अश्व और दूसरी ओर हाथ में चंवर लिये राज-महिषी की मूर्ति
कुछ सिक्कों पर एक ओर घोड़े के नीचे 'अश्वमेध' और दूसरी अ
अश्वमेध महेन्द्र अंकित हैं। इससे यह मालूम होता है कि कुम
गुप्त ने अश्वमेध किया था, किन्तु किन विजयों के उपलक्ष में
कहा नहीं जा सकता। संभवतः अपने पितामह के अनुकरण में अथ
राजनैतिक प्रदर्शन में या पुण्यार्थ उसने अश्वमेध का अनुष्ठ
किया था।

(३) पुष्यमित्रों का विद्रोह और हूणों का आक्रमण—
कुमारगुप्त का शासन-काल बड़ा लम्बा था। उसके अंतिम दिनों
साम्राज्य की शान्ति भंग हुई। संभवतः कुमारगुप्त की वृद्धावस्था अ
बुढ़ापे में उसकी विलासिता के कारण (यह बात 'वृद्ध राजा अ

युवती रानी' वाले सिक्के से प्रकट होती है ) पश्चिम भारत में गुप्त-साम्राज्य शिथिल होने लगा था। स्कन्दगुप्त के भीतर स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि सबसे पहले नर्मदा नदी के किनारे पुष्यमित्रों ने, 'जिन्होंने सेना और धन काफी 'इकट्ठा कर लिया था' विद्रोह किया। परन्तु वे बहुत शीघ्र दबा दिये गये। पुष्यमित्रों से कहीं बड़ा संकट इस समय हूणों से उपस्थित हुआ। वे पहले से ही भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से टकरा रहे थे। उन्होंने गुप्तों के शस्त्र की शिथिलता की गन्ध पाकर तुरन्त भारत पर आक्रमण कर दिया। इससे कम-से-कम पश्चिमोत्तर भारत में गुप्तों की 'कुल-लक्ष्मी विचलित' हो गयी थी। सौभाग्य से कुमारगुप्त का अत्यन्त साहसी और वीर राजकुमार इस समय वर्तमान था। हूणों का सामना करने के लिये वह भेजा गया। उसने हूणों के विरुद्ध इतना भीषण युद्ध किया कि 'सारी पृथ्वी कम्पित हो गयी'। इस युद्ध में स्कन्दगुप्त को कभी-कभी पृथ्वीतल पर बिना बिस्तरे के ही सोना पड़ता था। स्कन्दगुप्त के अतुल पराक्रम से हूण मार भगाये गये और गुप्तवंश की शक्ति और प्रतिष्ठा फिर स्थापित हो गयी।

## ८. स्कन्दगुप्त

(१) राज्यारोहण—कुमारगुप्त (प्रथम) का देहान्त ४५५ ई० के लगभग हुआ। इसके बाद स्कंदगुप्त सिंहासन पर बैठा। कुछ विद्वानों का मत है कि उत्तराधिकार के लिये स्कन्दगुप्त और उसके सौतेले भाई ( जो जेठा और वास्तविक उत्तराधिकारी था ) पुरुगुप्त से युद्ध हुआ और उसको हरा कर स्कन्द गद्दी पर बैठा। प्रमाण में यह कहा जाता है कि उत्कीर्ण लेखों में स्कन्दगुप्त की माता का नाम नहीं मिलता और उसके गिरिनार (जूनागढ़) लेख में यह वर्णन है कि 'राज्य-लक्ष्मी ने सभी राजपुत्रों को छोड़कर स्कंद का वरण किया'। किंतु इस मत वाले यह भूल जाते हैं कि गुप्तों में ज्येष्ठाधिकार बिल्कुल निश्चित नहीं था; दूसरे राजमाताओं के नामोल्लेख के अभाव के बहुत से उदाहरण मिलते हैं; तीसरे लक्ष्मी से वरण होने का वर्णन तो सभी राजाओं के लिये लागू है। हाँ, इतना सम्भव है कि स्कन्दगुप्त जेठा न होते हुये भी समुद्रगुप्त के समान राज्य का उत्तराधिकारी हुआ हो।

(२) साम्राज्य का स्तम्भन—अपने पिता कुमारगुप्त के समय में स्कंदगुप्त ने पुष्यमित्रों के विद्रोह और हूणों के आक्रमण से गुप्त-साम्राज्य को बचाया था। भीतरी स्तम्भलेख से यह मालूम होता है कि कुमारगुप्त के मरने के तुरंत बाद ही गुप्त-साम्राज्य के ऊपर फिर विपत्ति के बादल घिर आये और वंश लक्ष्मी लुप्त हो गयी। संभवतः पुष्यमित्र, हूण और गुप्तों के अन्य आंतरिक शत्रुओं ने साम्राज्य के लिये संकट उत्पन्न कर दिया था। स्कन्दगुप्त ने 'अपने भुजबल से शत्रुओं को हराकर, आखों में आँसू भर कर प्रतीक्षा करती हुई अपनी माता के पास उसी तरह गया जिस तरह (कंस को मार कर) कृष्ण देवकी के पास गये थे। हूणों पर विजय की द्योतक 'विक्रमादित्य' की उपाधि स्कन्दगुप्त ने धारण की। इसके पश्चात् स्कंदगुप्त ने साम्राज्य के संगठन और रक्षा का प्रबंध किया। उसने पश्चिम और पश्चिमोत्तर के सभी प्रांतों में गोप्ता (सैनिक प्रांतीय शासकों) की नियुक्ति की। स्कन्दगुप्त भारत का अंतिम सम्राट था जिसने पश्चिमोत्तर सीमांत का पूरा महत्व समझा और उसकी रक्षा का पूरा प्रबंध किया। उसके लेखों से मालूम होता है कि पश्चिम में सुराष्ट्र (काठियावाड़) से लेकर पूर्व में बंगाल और उत्तरभारत से मध्यप्रदेश तक सभी प्रांत अक्षुण्ण रूप से उसके साम्राज्य में थे और सारे भारत पर गुप्तों का आधिपत्य बना हुआ था।

(३) हूणों के फिर आक्रमण और स्कन्दगुप्त के अन्तिम दिन—यद्यपि स्कन्दगुप्त ने अपने शासन के प्रारम्भ में हूणों को हरा कर भारत से बाहर निकाल दिया था किंतु हिंदूकुश के दक्षिण जो हूणों का जमघट इकट्ठा हो गया था उससे भारतवर्ष को एक स्थायी आशङ्का और संकट उत्पन्न हो गया। ऐसा जान पड़ता है कि पश्चिमोत्तर सीमा पर उनका दबाव बना रहा और उनकी बाढ़ को रोकने के लिये बड़ी जागरुकता और परिश्रम से काम करना पड़ा और पानी की तरह धन बहाना पड़ा। स्कंदगुप्त के पिछले नकली धातु के सिक्के इस बात का प्रमाण हैं। आंतरिक और बाह्य कठिनाइयों को सहते हुये वह देश की रक्षा करने में समर्थ रहा। उसका देहावसान ४६७ ई० के लगभग हुआ।

## ९. अंतिम गुप्त सम्राट

स्कन्दगुप्त के बाद भीतरी दुर्बलता और बाहरी आक्रमणों के कारण गुप्तों की शक्ति क्षीण होने लगी। इस काल के सम्राटों के अल्पकालीन शासन और सीमिति अधिकार से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इन सम्राटों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :

(१) पुरुगुप्त प्रकाशादित्य—पुरुगुप्त स्कन्द का सौतेला भाई था जो उसके बाद ४६७ ई० के लगभग वृद्धावस्था में राजसिंहासन पर बैठा। इसके सिक्कों पर 'प्रकाशादित्य' और 'श्री विक्रमः' उपाधियाँ पायी जाती हैं। 'श्री विक्रमः' से इस बात का संकेत मिलता है कि शायद उसकी भी मुठभेड़ हूणों से हुई। इसके साम्राज्य-विस्तार और कृतियों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके समय में इसका चचा गोविन्द गुप्त मालवा में स्वतंत्र हो गया। दूर के प्रान्तों में असंतोष और स्वतंत्र होने की भावना इससे साफ दिखायी पड़ती है। ४६८ ई० के पूर्व ही पुरुगुप्त के शासन का अन्त हुआ।

(२) नरसिंहगुप्त बालादित्य—इसके अस्तित्व का पता केवल इसके सिक्कों से लगता है। इसने केवल चार वर्ष शासन किया। कुछ लोग भूल से इसको बौद्ध अनुश्रुति का बालादित्य समझते हैं किन्तु वह बालादित्य भानुगुप्त बालादित्य था जो लगभग ४० वर्ष पीछे हुआ।

(३) कुमारगुप्त (द्वितीय)—यह ४७३ ई० के पूर्व राजसिंहासन पर बहुत कम अवस्था में बैठा। भीतरी में उसकी मुद्रा, सारनाथ में उत्कीर्ण लेख और लगभग २० सोने के सिक्के मिले हैं जो ब्रिटिश म्यूज़ियम लंडन और इंडियन म्यूज़ियम कलकत्ता में सुरक्षित हैं। इसने 'क्रमादित्य' का विरुद धारण किया। मंदसोर के एक उत्कीर्ण लेख से मालूम होता है कि पूर्वी मालवा इसके अधिकार में था।

(४) बुधगुप्त—कुमारगुप्त (द्वितीय) और बुधगुप्त के सम्बन्ध का पता नहीं चलता। हुयेनसंग के अनुसार वह शक्रादित्य (=महेन्द्रादित्य=कुमारगुप्त प्र०) का पुत्र था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह कुमारगुप्त के बाद गुप्त-सम्राट हुआ। वह एक शक्तिमान शासक था जिसने फिर गुप्त-साम्राज्य की उखड़ती हुई शक्ति को संगठित करने की चेष्टा की। उसके उत्कीर्ण लेखों से मालूम होता है कि पूर्व में बंगाल

से लेकर पश्चिम में नर्मदा के किनारे तक उसका आधिपत्य था। इसने ४७६ से लेकर ४६४ ई० तक शासन किया।

(५) भानुगुप्त बालादित्य—बुधगुप्त के बाद भानुगुप्त बालादित्य राज्य का अधिकारी हुआ (चीनी अनुश्रुति के अनुसार बुधगुप्त और भानुगुप्त बालादित्य के बीच में तथागत गुप्त था)। यद्यपि यह बतलाया नहीं जा सकता कि दोनों में क्या सम्बन्ध था। इसी के शासन-काल में हूणों के नेता तोरमाण ने ५०० और ५१० ई० के बीच भारत पर आक्रमण किया और मालवा को अपने अधिकार में कर लिया। हूणों को यह आकस्मिक सफलता उनकी संख्या, तेजी और भयंकरता के कारण मिली थी। परन्तु भानुगुप्त चुप बैठने वाला नहीं था। उसने ५१० में बड़ी तैयारी के साथ मालवा को वापस लेने के लिये हूणों पर आक्रमण कर दिया। हूणों के साथ घोर युद्ध में यद्यपि उसका सेनापति गोपराज राज मारा गया किन्तु हूण मालवा से निकाल दिये गये। इसी के उपलक्ष में ५१० में एरण में गोपराज की स्मृतिरूप एक विजयस्तम्भ खड़ा किया गया। यदि गुप्त सम्राट विजयी न होता तो हूण राजा इस स्मारक को बनने नहीं देता। हूणों के इस पराजय का उल्लेख हुयेन-संग के विवरण में भी मिलता है। उसके अनुसार बालादित्य ने हूण-राज मिहिरकुल को बन्दी बना लिया था किन्तु अपनी माता के कहने से छोड़ दिया और मिहिरकुल ने काश्मीर में शरण ली। इस विजय से गुप्तों की शक्ति कुछ टिमटिमाती हुई मालूम हुई। परन्तु लगातार हूणों के आक्रमण और सामन्त राजाओं तथा प्रान्तीय शासकों की महत्त्वाकांक्षाओं ने गुप्त-साम्राज्य को निर्बल बना दिया था। इसके बाद के गुप्त-सम्राटों में से कुछ के नाम बौद्ध-साहित्य और सिक्कों से मालूम होते हैं, जैसे वज्र, विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य, वैन्यगुप्त द्वादशादित्य आदि। किन्तु इनके जीवन की घटनाओं के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं है। कुछ दिनों के अनन्तर इनके वंशज मगध में स्थानीय राजाओं के रूप में रह गये।

## १०. गुप्त-शासन प्रबन्ध

(१) साम्राज्य का स्वरूप—गुप्त साम्राज्य मौर्य-साम्राज्य के समान केन्द्रित और गठित नहीं था। यद्यपि उत्तर भारत में उनका

गृह-राज्य काफी बड़ा था, किन्तु उसका स्वरूप बहुत कुछ माण्डलिक था और बहुत से सामन्त राजा गुप्तों की अधीनता में साम्राज्य के विभिन्न भागों में शासन करते थे। वे गुप्त-सम्राटों को अपना अधिपति मानते थे और वार्षिक कर, पुरस्कार आदि भेजते और विशेष अवसरों पर राज-सभा में उपस्थित होते थे।

(२) केन्द्रीय शासन--(क) राजा—एकतांत्रिक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजा राज्य का सर्वोपरि अधिकारी था और राज्य की अंतिम सत्ता उसी के हाथ में थी। कुमारों द्वारा राजपद पाने के लिये ज्येष्ठाधिकार का नियम बराबर नहीं लागू होता था; पिता द्वारा उत्तराधिकारी का चुनाव प्रायः योग्यता के आधार पर होता था। गुप्त सम्राट बड़ी-बड़ी राजनैतिक उपाधियाँ और विरुद धारण करते थे, जैसे परमेश्वर, महाराजाधिराज परम भट्टारक, सम्राट्, एकाधिराज, चक्रवर्ती, परमदैवत (राजनैतिक उपाधि) और पराक्रमाङ्क, विक्रमादित्य, महेन्द्रादित्य, प्रकाशादित्य, बालादित्य आदि (विरुद)। राजा के कर्तव्यों में उसके सैनिक, शासन-सम्बन्धी और न्याय-सम्बन्धी कार्य शामिल थे।

(ख) मंत्रि परिषद्—मौर्यों के समय में जिस प्रकार की मंत्रि-परिषद् थी उसी प्रकार की गुप्तों के समय में थी, यद्यपि इसकी रचना और कर्तव्यों के बारे में पूरा उल्लेख नहीं मिलता। सान्धि-विग्राहिक (सन्धि और युद्ध के मंत्री—परराष्ट्र मंत्री), अक्षपटलाधिकृत (राजकीय कागज-पत्र के मंत्री) आदि मंत्रियों का पता उत्कीर्ण-लेखों से लगता है। इनकी सहायता से सम्राट् शासन करता था। मंत्रियों का पद राजाओं के समान प्रायः पैतृक होता जा रहा था। उस समय की विशेष राजनैतिक परिस्थिति में कई मंत्रियों के हाथ में शासन और सेना दोनों के अधिकार होते थे।

(ग) सारा केन्द्रीय शासन कई विभागों में संगठित था जिनका प्रबंध मंत्री अमात्य, कुमारामात्य, युवराज-कुमारामात्य आदि अधिकारी करते थे।

(३) प्रांतीय-शासन—सारा गुप्त-साम्राज्य शासन की सुविधा के लिये कई इकाइयों में बँटा हुआ था। सबसे बड़े विभाग प्रांत थे

जिनको देश या भुक्ति कहते थे। प्रांतीय शासक भोगिक, भोगपति, गोप्ता, उपरिक-महाराज और राजस्थानीय कहलाते थे। प्रांतों से छोटा विभाग प्रदेश कहलाता था जो आजकल की कमिश्नरी के बराबर था और इससे छोटा विभाग विषय कहलाता था जो जिले का समकक्ष था। विषयों के ऊपर विषयपति, कुमारामात्य अथवा महाराज शासन करते थे। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था जिसका मुख्य अधिकारी ग्रामिक, महत्तर अथवा भोजक होता था।

(४) स्थानीय-शासन—नगर-शासन के सम्बन्ध में दामोदरपुर (बंगाल) ताम्रपत्र से पता लगता है कि विषयों की राजधानी में विषयपति की सहायता के लिये एक परिषद् होती थी जिसके निम्नलिखित सदस्य थे : (१) नगर श्रेष्ठिन् (श्रेणियों अथवा पूगो ( बैंकों ) के प्रमुख ) (२) सार्थवाह ( मुख्य व्यापारी ) (३) प्रथम कुलिक (कारीगरों के प्रधान) (४) प्रथम कायस्थ ( विषय के मुख्य लेखक) और (५) पुस्तपाल ( भूमि के मूल्य का निर्धारण करने वाला)। इस परिषद् के सम्पूर्ण कामों के बारे में पता नहीं चलता, परन्तु भूमि का क्रय, विक्रय परिवर्तन आदि इसी के सहारे होता था। गाँव का प्रबंध करने के लिये परिषद् होती थी, जिसका प्रमुख ग्रामिक, महत्तर अथवा भोजक होता था।

५. शासन के प्रमुख विभाग-(क) राजस्व—राजस्व के कईस्रोत थे जिनमें भूमिकर प्रधान था। भूमि का नियमित माप होता था और खेतों के स्वामी, सीमा आदि का विवरण रखा जाता था। उपजाऊपन के आधार पर भूमि के कई प्रकार थे—(१) नाल ( खेतिहर भूमि ) (२) खिल (पर्ती) (३) वास्तु (बस्ती) (४) अप्रहस्त ( बिना जोती हुई ) (५) अप्रदा (जिससे सरकार को कोई आय नहीं होतीथी)। मुख्य भूमिकर को उद्रंग कहते थे जो उपज का $\frac{1}{6}$ भाग होता था। इसके साथ उपरिकर था जो राजा के व्यक्तिगत उपयोग के लिये सामान के रूप में प्रजा से वसूल होता था। अन्य करों के नाम धान्य (अनाज के रूपमें), हिरण्य (सोने आदि धातुओं पर) चाट-भट-प्रवेश कर ( पुलिस और सेना कर ) पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय के समृद्ध व्यापार से सरकार को काफ़ी आय होती थी। न्यायशुल्क,

अर्थदण्ड, मांडलिक राजाओं से कर, उपहार आदि भी राजस्व में सम्मिलित थे। सरकारी कामों और व्यापार में सुवर्ण, दीनार आदि सिक्कों का व्यवहार होता था। परन्तु फाहियान के विवरण से मालूम होता है कि छोटे-मोटे क्रय-विक्रय में कौड़ियाँ भी चलती थीं।

(ख) न्याय-विभाग—गुप्त-कालीन नारद-स्मृति के अनुसार चार प्रकार के न्यायालय होते थे—(१) कुल (२) श्रेणी (३) गण (४) राजकीय न्यायालय। प्रथम तीन प्रकार के न्यायालय जनता के और चौथा सरकारी था। नीचे के न्यायालयों की अपील ऊपर के न्यायालयों में हो सकती थी। राजा के हाथ में न्याय का अंतिम अधिकार था। न्याय-विभाग के मुख्य अधिकारी को वैशाली-मुद्रा-लेखक के अनुसार विनय-स्थितिस्थापक (नियम और व्यवस्था स्थापित करने वाला) कहा जाता था। व्यवहार-सम्बन्धी न्याय का नारद-स्मृति में विस्तृत वर्णन है। फाहियान के अनुसार उस समय अपराध कम होते थे और दण्ड कोमल दिया जाता था। प्राणदण्ड और शारीरिक दण्ड नहीं दिये जाते थे; अपराध के अनुसार कम या अधिक अर्थदण्ड दिया जाता था; बार बार राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करने पर दाहिना हाथ काट लिया जाता था। इससे मालूम होता है कि गुप्तों के समय में न्याय-व्यवस्था बहुत अच्छी थी और लोग नियम का पालन करते थे।

(ग) लोकोपकारी-कार्य-विभाग- गुप्त शासक आदर्श शासक थे और प्रजाहित के कामों में दत्तचित्त रहते थे। उन्होंने देश में आवागमन की सुविधा के लिये सड़कें बनवायीं। सिंचाई के लिये सरकार की ओर से प्रबंध होता था। सुराष्ट्र जैसे दूर प्रांतों में भी पानी के लिये झील, पोखरे बनवाये जाते और पुरानों की मरम्मत होती थी (स्कंदगुप्त का गिरिनार-लेख)। फाहियान ने लिखा है कि सारे उत्तर भारत में स्थान-स्थान पर औषधालय और चिकित्सालय बने हुये थे जहाँ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा होती थी और औषध, पथ्य आदि बिना मूल्य के मिलते थे। शिक्षा और विद्या के प्रचार के लिये राज्य की ओर से अध्यापकों को अग्रहार (भूमिदान), ब्रह्मदाय और वृत्तियाँ मिलती थीं। धर्मशालायें और पांथशालायें बनी हुई थीं और सार्वजनिक दान की व्यवस्था थी। गुप्त सिक्कों पर यह लेख प्रायः अंकित मिलता

है:—"राजा पृथ्वी को जीत और सुरक्षित कर सुचरितों ( पुण्यकार्यों ) से स्वर्ग को जीतता है।"

(घ) सेना-विभाग—उत्कीर्ण लेखों में गुप्त-सम्राटों के दुर्ग और स्कन्धावार, अस्त्र-शस्त्रागार और चतुरङ्गिणी सेना के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। इसी सेना के बल से उन्होंने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। सेना-विभाग के मुख्य अधिकारी को सन्धि-विग्रहिक कहते थे जिसको सन्धि और विग्रह (युद्ध) करने का अधिकार था। उसके अधीन महासेनापति अथवा महादण्डनायक (प्रधान सेनापति), बलाधिकृत (सैनिकों की नियुक्ति करने वाला अधिकारी), रणभाण्डागारिक (सैनिक सामानों का अधिकारी) भटाश्वपति (पैदल और घुड़सवारों का अध्यक्ष) आदि अधिकारी होते थे। सेना का कार्यालय 'बलाधिकरण' कहलाता था।

(ङ) रक्षा ( पुलिस-विभाग )—देश की आंतरिक रक्षा और शान्ति-स्थापना के लिये रक्षा-विभाग का संगठन हुआ था। इस विभाग के सबसे बड़े अधिकारी को दण्डपाशाधिकारी कहते थे। उसके नीचे चौरोद्धरणिक (चोर पकड़ने वाला सिपाही), दाण्डिक (दण्ड =लाठी धारण करने वाला सिपाही), दण्डपाशिक ( लाठी और रस्सी वाले सिपाही) आदि रक्षक होते थे। रक्षा-विभाग में छिपकर अपराधों का पता लगानेवाले गुप्तचर भी होते थे। गुप्तों के समय में रक्षा का सफल प्रयत्न था। चीनी-यात्री फाहियान लिखता है कि उसने हजारों मील की यात्रा भारत में की किन्तु कहीं भी उसको चोर और डाकू नहीं मिले।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यों के बाद, विदेशी आक्रमणों के शांत होने पर, गुप्तों ने एक निश्चित योजना के अनुसार आदर्श-शासन-व्यवस्था की स्थापना की जिसमें प्रजा सुखी और समृद्ध थी। इस शासन-प्रणाली से चीनी यात्री फाहियान बहुत प्रभावित हुआ था। इतिहासकार वी. ए. स्मिथ ने तो अपनी सम्मति लिखी है कि प्राच्य-शैली के अनुसार इससे अच्छा शासन भारत में कभी हुआ ही नहीं।

## सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान

भूमिका—किसी देश में समाज और संस्कृति के विकास और

उन्नति के लिये शान्ति, सुव्यवस्था, सुख और समृद्धि आवश्यक हैं। गुप्तों के पहले लगभग ३०० वर्ष तक लगातार बाहरी आक्रमण और भारत के कुछ भागों पर विदेशी आधिपत्य के कारण देश का राजनैतिक जीवन विशृंखलित हो गया था। देश की शक्ति विदेशियों के साथ संघर्ष और आत्म-रक्षा में बीतती थी। इस क्षुब्ध वातावरण में न तो सामाजिक जीवन ही स्थिर हो पाता था और न सांस्कृतिक जीवन की ठीक अभिव्यक्ति ही। भारशिवों और वाकाटकों के राजनैतिक मंच पर आने से इस परिस्थिति में परिवर्तन शुरू हुआ और भारतीय जीवन में आत्मचेतना, आत्म-संस्कार और विकास की भावना उत्पन्न होने लगी। गुप्तों की दिग्विजय, आदर्श शासन, उदारनीति और उनकी विद्या और कला के प्रेम ने इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय जीवन इस काल में सभी क्षेत्रों में अभिव्यक्त और समुन्नत दिखायी पड़ता है और बहुत से इतिहासकार इस काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग मानते हैं।

(१) सामाजिक अवस्था——जिस प्रकार लम्बे बौद्ध प्रभाव के बाद शुंगों के समय में वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर समाज का संगठन करने का प्रयत्न किया गया था उसी प्रकार लम्बे विदेशी आक्रमण, संघर्ष और प्रभाव के अनन्तर गुप्त युग में भी भारतीय ढंग से समाज का फिर संगठन किया गया। बाख्त्री-यवन, शक, पह्लव, ऋषिक-तुषार (कुषण) आदि विदेशी जातियां इस काल के पहले ही भारतीय धर्मों से प्रभावित हो चुकी थीं, पर उनका अलग अस्तित्व बना हुआ था। परन्तु क्रमशः अपनी राजनैतिक पराजय, भारत के बाहरी देशों से सम्पर्क टूट जाने और भारतीय समाज की पाचन-शक्ति के कारण वे धीरे-धीरे वर्ण और जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्णतः भारतीय समाज में मिला ली गयीं और उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। बौद्ध-मतावलम्बियों की भी सुधारवादी उग्रता कम हो जाने से तथा भक्तिमार्ग और महायान के सम्मेलन से वैदिक और बौद्ध जनता में सामाजिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रहा। गुप्तकाल के उत्कीर्ण लेखों में जातियों की चर्चा कम और वर्णों के उल्लेख अधिक मिलते हैं। वर्णों का आदर उनके अपने कर्तव्यपालन के कारण था। ब्राह्मणों में अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन का इस काल में नया उत्साह

दिखाई पड़ता है। क्षात्र-धर्म भी प्रजा-रक्षण और प्रजा-पालन में अच्
तरह प्रतिष्ठित था। वैश्य भी कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य से देश को समृ
बना रहे थे। शूद्र भी समाज की शारीरिक सेवा में रत थे। केव
चाण्डाल, श्वपच और हीनवृत्ति वाली कुछ घुमक्कड़, जंगली औ
असभ्य जातियां ऐसी थीं जो अपने आहार-विहार और आचार
कारण समाज के छोर पर रहती थीं और इनको अच्छी तरह
समाज में मिलाया नहीं गया था। फाहियान अपने यात्रावर्णन
लिखता है कि नगर और गाँववाले इन जातियों से सामाजिक सम्बन्
नहीं रखते थे और इनका स्पर्श भी नहीं करते थे। नगर और गाँव
आने के समय ये लोग लकड़ी बजाते थे जिससे लोग इनसे अलग ह
जायें। वर्णों और व्यवसायों का परिवर्तन होता था तथा अन्तर्जाती
विवाह और भोज की प्रथा बनी हुई थी। इससे समाज में केन्द्रि
एकता और गति पर्याप्त मात्रा में थी।

गुप्त-काल के लेखों और साहित्य में राजवंशों के विवाह-सम्बन्
के ही उल्लेख मिलते हैं। उनसे मालूम होता है कि अन्तर्जातीय विवा
होते थे। क्षत्रिय गुप्तों का विवाह-सम्बन्ध ब्राह्मण वाकाटकों के यह
हुआ था। विधवा-विवाह भी प्रचलित था। गुप्तवंश के सबसे प्रसि
राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी विधवा भावज ध्रुवदेवी
विवाह किया था। अनमेल वृद्ध-विवाह का उदाहरण कुमारगु
(प्रथम) के जीवन में मिलता है। बहुविवाह के कई एक दृष्टान्त मिल
हैं। स्त्रियों का स्थान समाज में ऊँचा था। वंशावलियों में पिता के सा
माता का भी उल्लेख प्रायः किया जाता था। प्रभावती गुप्ता जैस
योग्य रानियां राज्य का संचालन करती थीं। इन उदाहरणों से अनु
मान किया जा सकता है कि साधारण जनता में भी ये प्रथायें प्रचलि
थीं। भोजन के बारे में जनता शाकाहारी होती जा रही थी। चीनी यात्र
फाहियान लिखता है कि चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मांस, मछली
लहसुन, प्याज आदि नहीं खाता था; शराब आदि नशीली चीजें भ
लोग नहीं पीते थे। यहाँ पर कठोर—आचारमार्गी जैन, वैष्णव औ
बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। इस काल की मूर्तियो
और साहित्यिक वर्णनों से मालूम होता है कि वस्त्र, आभूषण औ
शृंगार में इस युग के लोगों ने ऊंचे स्तर की सफाई और सौंदर्य की

सृष्टि की थी। साधारण जनता में शिष्टाचार, दान, अतिथि-सत्कार आदि सद्गुण प्रचुर मात्रा में थे।

२. धार्मिक अवस्था- (१) वैदिक धर्म—इस काल के धार्मिक जीवन में भी पुनरुत्थान, संस्कार और समन्वय की प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा से राष्ट्र के मूल और प्रमुख वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हुआ। भारशिवों, वाकाटकों और गुप्त-सम्राटों ने बड़े-बड़े अश्वमेध यज्ञ किये। वाजपेय, अग्निष्टोम आदि अनेक वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान होने लगे। इस पुनरुत्थान का प्रयत्न शुंग और आन्ध्र-काल में भी हुआ था। परन्तु गुप्त-युग में बहुत प्रयत्न करने पर भी यह बात स्पष्ट हो गयी कि, समय के बदलने और नयी विचार-धाराओं के प्रभाव के कारण, वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में जनता को आकृष्ट नहीं कर सकता था। इसलिये वैदिक देवताओं में से प्रजा-पति, विष्णु, शिव, सविता आदि ने ब्रह्मा, विष्णु भगवान्, शिव, सूर्य आदि अधिक मानवरूपधारी देवताओं का बाना पहना और अपने प्रति प्रगाढ़ भावना को अधिक व्यापक भक्तिमार्ग का स्वरूप दिया। वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म, सौर आदि धार्मिक सम्प्रदाय वैदिक धर्म की परम्परा में विकसित हुये। इनके अनुसार विष्णु के अवतारों (विशेषकर वाराह) और उनकी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी; शिव और उनके परिवार (पार्वती, कार्तिकेय=स्कन्द आदि); शिव की शक्ति दुर्गा, चामुण्डा, वाराही आदि देवियों; सूर्य और ब्रह्मा आदि की भक्ति और पूजा प्रचलित हुई। इन देवताओं और देवियों की मूर्तियाँ बनती थीं और मंदिरों में उनकी पूजा होती थी। इनके अति-रिक्त तीर्थयात्रा, शांतिक और स्वस्तिक पूजा-पाठ, मूर्तकर्म (लोको-पयोगी कार्य), दान-पुण्यादि कर्म लोग करते थे। यह स्पष्ट मालूम होता है कि आधुनिक हिन्दू-धर्म की आधार-शिला गुप्तकाल में ठीक तरह से रख दी गयी थी। यह नवविकसित धर्म भारत के दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों को प्रभावित और आत्मसात् कर रहा था तथा धार्मिक समन्वय और ऐक्य का मार्ग प्रशस्त बना रहा था।

(२) बौद्ध धर्म—इस समय में लिखित बौद्ध-साहित्य और चीनी यात्री फाहियान के यात्रा वर्णन से बौद्ध-धर्म पर काफी प्रकाश पड़ता है। इस काल के पहले ही बौद्ध-धर्म में महायान का उदय हो गया था।

बौद्ध जनता ने बुद्ध की सर्वसत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास कर उनको प्रायः ईश्वर का पद दे डाला था; बुद्ध, बोधिसत्व और अवलोकितेश्वरों की मूर्तियाँ चैत्यों (मन्दिरों) में स्थापित होने लगी थीं। स्तुति, अर्चन और पूजन की प्रथा भी चल निकली। बौद्ध धर्म का यह महायानी रूप वैदिक भक्ति मार्ग के अधिक निकट था। दोनों धर्मों में समन्वय और संगम तेजी से हो रहे थे और बौद्ध धर्म धीरे-धीरे अपने मूल स्रोत में घुलता जा रहा था। अब बौद्ध धर्म के मानने वाले लोग बहुत थे और फाहियान ने बहुत से नगरों और स्थानों में बौद्ध स्तूप, बिहार: चैत्य आदि देखे थे। परन्तु उत्कीर्ण लेखों और उसके यात्रा वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक धर्म धीरे-धीरे अपना क्षेत्र बढ़ा रहा था और सम्प्रदाय रूप में बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। लेकिन इसका कारण कोई धार्मिक अत्याचार नहीं था। अपने पुराने रूप में परिवर्तन कर, बहुत से बौद्ध प्रभावों को अपना कर तथा समन्वय और समझौते की नीति से वैदिक धर्म ने अपनी विशाल गोद में बौद्ध धर्म को लेना प्रारम्भ कर दिया।

(३) जैन-धर्म—गुप्तकालीन उत्कीर्ण लेखों के आँकड़ों से साफ मालूम होता है कि वैदिक धर्म के मानने वालों की संख्या बहुत अधिक थी, बौद्ध धर्म के मानने वाले भी अभी काफी थे, किन्तु उत्तर भारत में जैन-धर्म के मानने वालों की संख्या बहुत कम थी। एक तो अपने कठोर आचार के कारण यह बहुसंख्यक जनता को अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर सकता था, दूसरी ओर आचारहीन विदेशियों के आक्रमण से अपने को बचाने के लिये जैन धर्म धीरे-धीरे दक्षिण की ओर खिसक रहा था। वैदिक और बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म में भी तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा मन्दिरों में होती थी तथा स्तुति, अर्चन, पूजन, तीर्थयात्रा, दान, पुण्यादि प्रचलित थे। वैदिक धर्म का वैष्णव सम्प्रदाय जैन धर्म को धीरे-धीरे आत्मसात् कर रहा था।

(४) राजा और प्रजा की धार्मिक नीति और दृष्टिकोण—अंतिम एक-दो को छोड़ कर शेष सभी गुप्त सम्राट वैदिक धर्म के वैष्णव अथवा शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। परन्तु धार्मिक मामलों

में वे बड़े उदार थे। धार्मिक विश्वास और पूजा-पद्धति की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। राजाओं का प्रश्रय और दान सब के लिये खुला हुआ था। सरकारी नौकरियों में धर्म किसी प्रकार भी बाधक नहीं था। परम भागवत चन्द्रगुप्त (प्रथम) का सेनापति अमरकार्द्दव बौद्ध था। राजवंश और शासन की उदारता का प्रभाव प्रजा पर भी पड़ा था। बहुत से उत्कीर्ण लेखों में विभिन्न सम्प्रदायों की धार्मिक कृतियाँ और दान आदि के उल्लेख हैं, जिनसे पारस्परिक सहिष्णुता, उदारता और सहयोग की भावना प्रकट होती है। चीनी यात्री फाहियान ने भी लिखा है कि उसके समय के भारत में किसी प्रकार का अत्याचार नहीं था और ब्राह्मणों और बौद्धों का सम्बन्ध मैत्री-पूर्ण था।

३. संस्कृत भाषा और साहित्य का उत्कर्ष— (१) भाषा—अशोक ने सरकारी व्यवहार और धार्मिक प्रचार का माध्यम पाली अर्थात् प्राकृत को बनाया था। शुंगों ने उसको बदल कर संस्कृत किया। परन्तु पाली अथवा प्राकृत को जो राजप्रश्रय मिला वह कुषणों के समय तक जारी रहा और संस्कृत इस राजकीय पद से प्रायः वञ्चित रही, यद्यपि काव्य और साहित्य में संस्कृत की बाढ़ रुकी नहीं। कुषण-साम्राज्य के पतन के बाद भारशिवों और वाकाटकों के द्वारा संस्कृत पुनः राजकीय व्यवहार का माध्यम हो गयी। इस समय के उत्कीर्ण लेख ललित और काव्यमय संस्कृत में लिखे हैं। सिक्कों तक के ऊपर संस्कृत के छन्दोबद्ध लेख अंकित हैं। यहाँ तक कि बौद्धों और जैनों ने भी, जो प्राकृत के बड़े समर्थक थे, संस्कृत के सौष्ठव और प्रभाव को स्वीकार कर इसको अपने धर्म और साहित्य का माध्यम बनाया।

(२) साहित्य—संस्कृत साहित्य की बहुमुखी श्रीवृद्धि हुई। सुविधा के लिये इस युग के साहित्य को वैदिक, बौद्ध और जैन धाराओं में बाँट सकते हैं। प्रथम धारा में कई एक इतिहासकार कविकुल-चूड़ामणि कालिदास को इसी काल में रखते हैं, परन्तु प्रस्तुत लेखक के विचार में उनका समय प्रथम शताब्दी ई० पू० है। कालिदास के बिना भी यह युग साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध है। यदि उत्कीर्ण लेखों से प्रारम्भ किया जाय तो हरिषेण, वीरसेन, वत्सभट्टि, वासुल आदि प्रशस्ति-

कार बड़े प्रतिभा-सम्पन्न कवि मालूम पड़ते हैं। संस्कृत कवियों औ
नाटककारों में मातृगुप्त (काश्मीर का राजा और कवि), भर्तृमेण
(हयग्रीव-वध का रचयिता), शूद्रक (मृच्छकटिक नाटक के लेखक
विशाखदत्त (मुद्राराक्षस और देवी-चन्द्रगुप्तम् के कर्ता), सुबन्
(वासवदत्ता गद्यकाव्यकार) आदि प्रसिद्ध थे। रीतिशास्त्र काव्यालंका
के लेखक भामह भी इसी युग के सुधी थे। दार्शनिक लेखकों में ईश्व
कृष्ण (साख्यकारिका के लेखक), दिङ्, नाग, वात्सायन, प्रशस्तपा
शबर स्वामी आदि का उल्लेख किया जा सकता है। गणित औ
ज्योतिप के क्षेत्र में भी बड़े बड़े विद्वान इस युग में पैदा हुये, जै
आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, विष्णु शर्मा आदि राजनीति में कामन्दक नीतिसा
वात्सायन का कामसूत्र इसी काल में लिखा गया। नारदस्मृति इसी समय
रचना है। पुराणों और महाकाव्यों—रामायण, महाभारत—के अंति
संस्करण इसी समय तैयार किये गये। बौद्ध लेखकों में आचार्य मैत्रे
असंग, बसुबन्धु, कुमारजीव, परमार्थ, चन्द्रकीति, चन्द्रगोमिन्, धम्म
पाल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जैन विद्वानों और लेख
में जिन चन्द्रमणि, सिद्ध सेन मणि, देवनन्दिन् आदि प्रसिद्ध हुये
इस प्रकार शुद्ध साहित्य, धर्म, दर्शन, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों
भारत की बौद्धिक प्रगति हुई।

४. कला का भारतीकरण और अभिव्यक्ति—अप
सौंदर्य और भाव-अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारतीय कला गुप्त यु
में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गयी। कला के सुन्दरतम नमूने इ
समय के मिलते हैं। गान्धार-कला के ऊपर जो यवन-प्रभाव था व
तक्षशिला से मथुरा, काशी और पाटलिपुत्र पहुँचते-पहुँचते इस युग
बिल्कुल दूर हो गया और कला ने शुद्ध भारतीय रूप धारण किया
इस समय कला का जो आदर्श स्थापित हुआ, उसने न केवल भार
को प्रभावित किया, किंतु भारत के पड़ोसी देश भी उससे प्रभावित हुये

(१) स्थापत्य—काल के प्रभाव और वर्वर आक्रमणकारि
की ध्वंसात्मक नीति के कारण इस समय की भवन-निर्माण कला
नमूने बहुत कम मिलते हैं। परन्तु जो कुछ भी उपलब्ध हैं उनसे स्थ
पत्य-कला के विकास का पता लगता है। सारनाथ में धामेल स्त

इसी काल का है जो अपनी कल्पना, आकार और अलंकार में बहुत उच्चकोटि का है। अजन्ता, इलोरा और बाग़ के कतिपय गुहा-विहार इसी समय खोदे गये थे जो अपने ढंग के बहुत सुन्दर नमूने हैं। चैत्यों में इलोरा का विश्वकर्मा चैत्य अपने ढंग की अद्भुत कृति है। मंदिरों में एहोल के दुर्गा व लालखाँ मंदिर, देवगढ़ का दशावतार मंदिर भीटारगाँव (कानपुर के पास) का मंदिर, बोधगया का महा-बोधि मंदिर इसी युग के भव्य देवालय और भवन-निर्माण-कला के सुन्दर नमूने हैं। इस समय की भवन-निर्माणकला में सुन्दर सजावटों से अलंकृत स्तम्भों का एक विशेष स्थान है। भवनों के स्वतंत्र स्तम्भों में मेहरौली लौह-स्तम्भ एक अद्भुत स्मारक है। यह लोहे का ढला हुआ स्तम्भ है जो शताब्दियों से खुले स्थान में रहने पर भी धूप और जल से प्रभावित नहीं है।

(२) मूर्तिकला—गुप्तकालीन मूर्ति-कला गान्धार-शैली के यवन-प्रभाव से पूर्णतः मुक्त होकर अपनी कल्पना, भावव्यञ्जना और शारीरिक गठन में शुद्ध भारतीय हो गयी। इसकाल की देवमूर्तियों की विशेषताओं में अलंकृत प्रभा-मण्डल, झीने वस्त्र, केशों का एक विशेष प्रकार का प्रसाधन, मुद्रा, आसन आदि उल्लेखनीय हैं। इस समय की विष्णु, शिव, पार्वती, ब्रह्मा और अन्य देवताओं तथा बुद्ध, बोधिसत्व और अवलोकितेश्वरी की अनेक सुन्दर मूर्तियां पायी जाती हैं। तत्कालीन मूर्तिकला का सबसे भव्य नमूना है सारनाथ में मिली हुई धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में बुद्ध की मूर्ति, जो अपने लावण्य, गांभीर्य और भाव-व्यंजना के लिये प्रसिद्ध है। इन मूर्तियों के निर्माण में विविधता, सादगी और हस्तकौशल देखते ही बनता है। इनमें न तो प्राथमिक प्रयत्न का भोंड़ापन है और न अनावश्यक सजावट का भार। मूर्तिकला अपने प्रौढ़ और परिष्कृत रूप में वर्तमान थी।

(३) चित्र-कला—स्थापत्य और मूर्ति-कला के साथ-साथ इस युग में चित्र-कला का भी विकास हुआ, यद्यपि इसके बहुत कम नमूने पाये जाते हैं। अजन्ता और इलोरा की गुफाओं में ही इसके कुछ नमूने पाये जाते हैं। गुहा-चैत्यों की दीवारें और छतें रंग-बिरंगे रेखाचित्रों से अलंकृत हैं। ये चित्र एक प्रकार के वज्र-लेप से बने हुये हैं जिनमें से अधिकांश आज भी सुरक्षित हैं। लता-पुष्प, जानवरों और मनुष्यों की

चित्रित आकृतियां बहुत ही वास्तविक, सजीव और प्रभावोत्पादक हैं। वात्सायान के कामसूत्र से पता लगता है कि चित्र-कला का वैज्ञानिक अध्ययन होता था और यह कला इसके सिद्धांत पर अवलम्बित थी।

(४) संगीत-कला—राजाओं की संगीत-कला में व्यक्तिगत दिलचस्पी और आश्रय से यह कला भी उन्नत अवस्था में थी। सम्राट समुद्रगुप्त स्वयं गान्धर्व-ललित ( संगीत-कला ) में प्रवीण था और 'अपनी संगीत-कला से स्वर्गीय संगीतकार नारद और तुबरू को भी लज्जित करता था।' वह अपने एक प्रकार के सिक्कों पर वीणा बजाता हुआ अंकित किया गया है। इस काल के साहित्य में भी संगीत की काफी चर्चा पायी जाती है।

(५) रंग-मंच—इस काल में लिखे नाटकों से मालूम होता है कि रंग-मंच विकसित था और उसके ऊपर नाटकों का अभिनय होता होता था। रंगमंच के विभिन्न अंगों के नाम और अभिनय के प्रकारों की चर्चा इस काल के साहित्य में पायी जाती है।

(६) मुद्रा-कला—भारतीय इतिहास में भारतीय ढंग के सबसे सुन्दर सिक्के गुप्त-काल के हैं। पहले गुप्तों ने सिक्का ढालने में कुषणों के 'दीनार' और शकों के चाँदी के सिक्कों का अनुकरण किया, जो राजनैतिक संक्रमण के नियम से आवश्यक था। परन्तु पीछे उन्होंने शुद्ध भारतीय 'सुवर्ण' और 'कार्षापण' नामक सिक्के ढलवाये। सिक्कों का आकार और उनके ऊपर मूर्तियों का अंकन बहुत ही कलात्मक है। उनके ऊपर ललित संस्कृत के छन्दों में राजाओं की कीर्ति और विरुद का उल्लेख है। उदाहरण के लिये समुद्रगुप्त के एक प्रकार के सिक्कों के ऊपर धनुष-बाण लिये राजा की मूर्ति, उसके बायीं ओर गरुड़ध्वज और बायें हाथ के नीचे लम्बवत् समुद्र लिखा है और राजा की मूर्ति के चारों ओर उपगीति छन्द में 'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितै दिवं जयति' अंकित है, सिक्के की दूसरी ओर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति और दाहिनी ओर 'अप्रतिरथः' लिखा है।

५. आर्थिक जीवन—विस्तृत साम्राज्य और योग्य शासन की स्थापना के कारण देश में शांति रही। इससे जीवन के साधनों की उत्पत्ति में वृद्धि और आवागमन के लिये रास्तों और सड़कों के

विकास में प्रोत्साहन मिला। इससे कृषि, उद्योग-धंधे और व्यापार सभी जीवन के मुख्य आधारों में वृद्धि हुई। इस काल के उद्योगी और व्यापारी निगमों, श्रेणियों और गणों में संगठित थे। अपने व्यवसायों के संचालन के लिये उनके अपने नियम और कोष होते थे। वे बैंक का भी काम करते थे तथा ऋण व्याज पर देते और निधियां व्याज पर अपने पास जमा रखते थे। मंदसोर में मिले हुये कुमारगुप्त कालीन लेख से मालूम होता है कि दशपुर ( मंदसोर ) में तन्तुवायों ( आजकल के जुलाहों के पूर्वज ) की एक श्रेणी थी जिसने सूर्य-मन्दिर की स्थापना की थी। इस समय का गुप्त-साम्राज्य पूर्व और पश्चिम दोनों समुद्रों को स्पर्श करता था। इसलिये स्थल और जल-व्यापार दोनों ही जोरों से चल रहे थे। व्यापार में रोमन सिक्के सोने के दीनार भारत में खूब आ रहे थे। चीन से चीनांशुक (रेशमी-वस्त्र) आता था। विनिमय के लिये कई प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। सोने के सिक्कों में दीनार और सुवर्ण तथा चांदी के कार्षापण प्रचलित थे। छोटे क्रय-विक्रय में कौड़ियों का भी उपयोग होता था।

६. **सांस्कृतिक और व्यापारिक उपनिवेश**—भारत के उन्नत और समृद्ध जीवन का प्रसार देश के बाहर पड़ोसी देशों में भी हुआ। भारत और चीन का सम्बन्ध पहले से अधिक घनिष्ट हो गया। भारत के बहुत से विद्वान और उपदेशक चीन में गये। ३५१ और ५७१ ई० पू० के भीतर कम-से-कम दस प्रचारक जत्थे चीन पहुंचे। इनमें से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान कुमारजीव का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार सुमात्रा, जावा, बाली आदि पूर्वी द्वीप-समूहों में भी भारतीय संस्कृति के प्रचारक पहुंचे। चीनी इतिहास के अनुसार काश्मीर के एक युवराज गुणवर्मा ने, जिसकी मृत्यु नानकिंग में ४३१ में हुई थी, जावा में वैदिक-मार्गी वैष्णव धर्म और संस्कृत का प्रचार किया था। भारत से लौटते समय फाहियान ने जावा में वैदिक देव-मन्दिरों और मूर्तियों को देखा था। एशिया के पश्चिमी देशों से भी भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था। इस काल की अजन्ता की चित्रकारियों में एक ऐसा दृश्य है जिसमें भारती राजा की सभा में एक ईरानी दूत-मंडल दिखाया गया है। सांस्कृतिक प्रचार के साथ-ही-साथ भारतीय व्यापार का भी प्रसार हुआ और बहुत से भारतीय आसपास के देशों से

व्यापार करते थे। राजनीति, धर्म और व्यापार के सम्बन्ध से विशेष-कर हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप समूह के देशों में कई एक भारतीय राजवंश, व्यापारी और प्रवासी स्थायी रूप से बस गये और भारतीय संस्कृति और व्यापार के प्रसार के लिए अच्छे माध्यम बन गये।

# पन्द्रहवां अध्याय

## गुप्त-साम्राज्य का अंत, पुष्यभूति-वंश और कान्यकुब्ज साम्राज्य

(१) गुप्त-साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर—गुप्त साम्राज्य के ह्रास के समय और उसके ध्वंस पर भारतवर्ष फिर कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। परन्तु इन राज्यों में आधिपत्य के लिये काफी प्रतियोगिता थी। लगभग पचास वर्ष के संघर्ष के बाद आर्यावर्त (उत्तर भारत) में पुष्यभूति-वंश, दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) में चालुक्य-वंश और द्रविड़-प्रदेश (सुदूर दक्षिण) में पल्लव-वंश का आधिपत्य स्थापित हुआ। पुष्यभूतिवंश ने दक्षिणापथ पर आक्रमण करके सारे भारत पर आधिपत्य जमाना चाहा किन्तु उसको सफलता नहीं मिली। गुप्तों के बाद प्राचीन भारत में कोई ऐसी राजनैतिक सत्ता नहीं हुई जो सारे देश पर आधिपत्य स्थापित कर सकी। गुप्त-साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जिन शक्तियों का उदय हुआ उनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

(१) भारत में हूण—जिस जाति ने १६५ ई० पू० में यूह-ची (कुषण) जाति को चीन की पश्चिमोत्तर सीमा से निकाल कर सम्पूर्ण मध्य-एशिया और भारत की राजनीति को प्रभावित किया था वह हूणों (हिंग-नू) की थी। कुछ दिनों बाद जन-संख्या की वृद्धि और प्रसार की आकांक्षा से वह स्वयं पश्चिम की ओर चल पड़ी। आगे बढ़ने पर इसकी दो शाखायें हो गयीं। एक शाखा ने सीधे पश्चिम यूराल पर्वत को पार कर आँधी-पानी की तरह लगभग आधे यूरोप को आक्रांत कर लिया और १८-२० वर्ष के अत्याचारपूर्ण शासन के बाद राजनैतिक सत्ता के रूप में नष्ट हो गई। दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़ कर वंक्षु (आकसस) के किनारे पहुँची। यहाँ पर यह ससानियन साम्राज्य से

दबी रही। लेकिन लगभग ४५० ई० में उसके ह्रास के बाद हिन्दूकुश को पार कर हूण भारत की ओर बढ़ने लगे। जब तक भारत में गुप्त साम्राज्य प्रबल था तब तक हूण उससे टकरा कर वापस चले जाते थे। परन्तु उसकी शक्ति क्षीण होने पर लगभग ५००ई०में टिड्डी-दल की तरह हूण पश्चिमोत्तर और मध्य भारत में छा गये। इनका नेता तोरमाण था, जिसका इतिहास सिक्कों,उत्कीर्ण लेखों और राजतरंगिणी से मालूम होता है। परन्तु हूणों की सत्ता भारत में भी बहुत दिन तक ठहर न सकी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है भानुगुप्त बालादित्य ने ५१० ई० में मध्यभारत से हूणों को निकाल दिया। इस घटना की पुष्टि एरण-लेख और बौद्ध अनुश्रुति से होती है। इसके बाद हूण पश्चिमोत्तर भारत तक सीमित रहे और उनकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। इस समय तोरमाण का पुत्र मिहिरकुल उनका राजा था। यद्यपि उसने शैव धर्म ग्रहण कर लिया था किंतु जातीय स्वभाव के कारण बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। उसको मालवा के राजा यशोधर्मन् ने ५२८ ई० में मुलतान के आसपास पराजित किया और इसके बाद हूणों की शक्ति क्रमशः नष्ट हो गयी और भारतीय जनता में केवल उनके छींटे-मात्र रह गये। हूणों की शक्ति उनकी संख्या, तेजी और नृशंसता थी। उनमें राज्य-संगठन और राज्य-संचालन की प्रतिभा नहीं थी। यही कारण है कि उनके पाँव युरोप और भारत दोनों जगह नहीं जम पाये।

(२) मालव-राज यशोधर्मन—हूणों के आक्रमण से मध्य-भारत में गुप्तों की शक्ति क्षीण हो गयी थी और यद्यपि भानुगुप्त बालादित्य के समय में गुप्त शक्ति का कुछ समय के लिये पुनरुत्थान हुआ परन्तु वह स्थायी न हो सकी और स्थानीय शक्तियों ने अपना सिर उठाया। इसी समय मालवा में औलिकर-वंश का राजा जनेन्द्र यशोधर्मन् भारत के राजनीतिक आकाश में उल्का की तरह चमक उठा। उसके सैनिक अभियान और विजय का वर्णन दशपुर(मन्दसोर) में मिले हुये प्रस्तर-स्तम्भ-लेख (५३२ ई०) में इस प्रकार मिलता है: 'उसने उन प्रदेशों को भी जीता जिन पर गुप्त सम्राटों का आधिपत्य नहीं था और न तो जहाँ राजाओं के मुकुट को ध्वस्त करने वाली हूणों की आज्ञा ही प्रवेश कर पायी थी। × × × लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लेकर महेन्द्र पर्वत तक और गंगा से स्पृष्ट हिमालय से लेकर पश्चिम

पयोधि तक के प्रदेशों के सामन्त उसके चरणों पर लोटते थे। मिहिर-कुल ने भी, जिसने भगवान् शिव के अतिरिक्त और किसी के सामने सिर नहीं नवाया, अपने मुकुट के पुष्पों के द्वारा उसके युगल-चरणों की अर्चना की।' जिस समय का यह वर्णन है उस समय भारत की राजनैतिक अवस्था इतनी अव्यवस्थित थी कि एक संगठित सेना लेकर यशोधर्मन् उपर्युक्त प्रदेशों पर आक्रमण कर सकता था। किन्तु उस का सबसे बड़ा काम था हूणों के अत्याचार से देश को मुक्त करना जिस काम को भानुगुप्त बालादित्य ने अधूरा छोड़ा था उसको यशो-धर्मन ने पूरा किया।

(३) वलभी-राज्य—गुप्तों की केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हो जाने पर कई सामन्तों और सेनापतियों ने दूर-दूर के प्रान्तों में स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। वलभी (सुराष्ट्र में भावनगर के निकट वल) में ४८५ ई० के लगभग सेनापति भटार्क ने भी, जो संभवतः मैत्रिक-वंश का था, एक राज्य की स्थापना की। वलभी के राजा (भटार्क के उत्तरा-धिकारी) धरसेन और द्रोणसेन पहले गुप्तों के सामन्त थे, पीछे उनको हूणों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी परन्तु हूणों के पतन के बाद वे बिल्कुल स्वतंत्र हो गये। यहां का राजा ध्रुवसेन (द्वितीय) हर्षवर्धन का समकालीन था। पहले तो हर्ष ने उसे पराजित किया, किन्तु पीछे उससे अपनी लड़की ब्याह कर उसको अपना मित्र बना लिया। उत्तर के कान्यकुब्ज साम्राज्य और दक्षिण के चालुक्य साम्राज्य के बीच में वलभी का बहुत बड़ा सैनिक महत्व था। जिस तरह गुप्तों ने वाकाटकों से विवाह सम्बन्ध करके उनको मित्र बनाया था, उसी नीति का व्यवहार हर्ष ने भी किया। वलभी-राज्य अरब आक्रमण के समय नष्ट हुआ।

(४) सिन्धु—सिन्ध में भी एक नये राज्य की स्थापना हुई। हुयेन-संग के अनुसार यहाँ का राजा शूद्र था। बहुत संभव है कि शूद्र-गणतंत्र के स्थान पर यह राज्य स्थापित हुआ था। प्रभाकरवर्धन ने इस पर आक्रमण किया था और हर्ष ने इसे अपने अधीन किया। अरब-आक्रमण के समय (७१२ ई० के लगभग) इस राज्य का अन्त हुआ।

(५) पूर्वोत्तर भारत के राज्य—गुप्त-साम्राज्य के भंग होने पर भारत के पूर्वोत्तर में भी कई राज्य बन गये। इनमें सबसे प्रसिद्ध गौड था। इसमें पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल), कर्ण सुवर्ण (मुर्शिदाबाद) समतट (फरीदपुर का जिला) और ताम्रलिप्ति ( तामलुक ) के प्रदेश सम्मिलित थे। गौड के राजाओं और मगध के गुप्तराजाओं में पहले बड़ी शत्रुता थी, पीछे मैत्री हो गयी। सातवीं शताब्दी में गौड की राजधानी कर्णसुवर्ण थी। यहां का राजा शशांक हर्ष का समकालीन था। गौड के दक्षिण-पूर्व में वंग और पूर्वोत्तर में कामरूप के राज्य थे। गौड के दक्षिण उड़ीसा में भी नयी स्थानीय शक्तियों का उदय हुआ।

(६) दक्षिणापथ के राज्य—उड़ीसा से नीचे उतरने पर आंध्र-देश में विष्णुकुंडिन नामक राजवंश की स्थापना हुई। कान्यकुब्ज के मौखरियों और मगध के गुप्तों ने इसके ऊपर आक्रमण किया। धन-कटक का राज्य भी आन्ध्र देश में ही पड़ता था। ये दोनों राज्य पल्लवों के अधीन थे। सुदूर दक्षिण में पल्लव, चोल और कदम्ब आदि राज्य भी इस समय अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। महाराष्ट्र और कर्णाटक प्रांतों में ५५० ई० के लगभग पुलकेशिन प्रथम ने चालुक्य-वंश की नींव डाली। इन राज्यों का सविस्तार वर्णन आगे किया जायेगा।

(७) उत्तर भारत के राज्य-(क) मगध का परवर्ती गुप्तवंश—गुप्तों की मूलशाखा के विनाश के बाद लगभग ५३०ई० में उसी की एक शाखा के वंशज कृष्णगुप्त ने मगध में ही एक राजवंश की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी हर्षगुप्त और जीवितगुप्त (प्रथम) के समय गौडों से इस वंश का युद्ध चलता रहा और मौखरियों की सहायता से इसने गौडों को दबाया। परन्तु मौखरियों की बढ़ती हुई शक्ति को यह सहन नहीं कर सकता था। इसलिये कुमारगुप्त ( तृतीय ) ने पश्चिम में बढ़कर उन पर आक्रमण किया और प्रयाग तक का प्रदेश अपने अधीन कर लिया। इसके समय में मगध बौद्ध धर्म का अच्छा केन्द्र था। इसने परमार्थ नामक बहुत बड़े विद्वान् को चीन-देश भेजा, जिसने वहां पहुंचकर अनेक धर्म-ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। कुमारगुप्त के बाद दामोदरगुप्त, महासेनगुप्त और माधवगुप्त राजा हुये, जो आवश्यकतानुसार

मौखरियों और स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के पुष्यभूतिवंश से अपना राजनैतिक और वैवाहिक सम्बन्ध रखते रहे।

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा आदित्यसेन (माधवगुप्त का पुत्र) हुआ। हर्ष की मृत्यु के बाद स्वाधीन होकर उसने राजाधिराज की उपाधि धारण की। इसने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाकर आस-पास के प्रदेशों पर विजय प्राप्त की और साम्राज्य-सूचक अश्वमेध का अनुष्ठान किया। उसके राज्य का विस्तार दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक हो गया (याता सागरपारभू) था। आदित्यसेन के बाद फिर गुप्तों की शक्ति क्षीण होने लगी। अंतिम राजे देवगुप्त, विष्णुगुप्त और जीवितगुप्त (द्वितीय) थे। कान्यकुब्ज के राजा यशोधर्मन् ने अंतिम गुप्त राजा का वध किया। इसके अनन्तर पालवंश ने क्रमशः मगध पर अधिकार जमाया।

(८) कान्यकुब्ज का मौखरी-वंश—यह वंश बहुत पुराना था। हरहा-उत्कीर्ण लेख के अनुसार राजा अश्वपति ने वैवस्वत यम से जो एक सौ पुत्र पाये थे उन्हीं से मौखरियों की उत्पत्ति हुई। इनकी कई शाखाओं का उल्लेख राजस्थान और बिहार में मिले हुये उत्कीर्ण लेखों में पाया जाता है। परन्तु एक शक्तिमान राजवंश के रूप में इनका उदय गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने पर कान्यकुब्ज (कन्नौज) में हुआ। इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं का वैवाहिक और मैत्री-संबंध मगध के गुप्त-वंश के साथ था और दोनों ने मिलकर गौडों को परास्त किया था। ईशानवर्मन नामक मौखरी-राजा ने इस वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ायी। इसने 'आंध्रों को जीता........शूलिकों को परास्त किया........और गौडों को उनकी सीमा के भीतर घेर रखा।' इस बढ़ती हुई शक्ति से मगध के गुप्त आतंकित हुये। इसलिए ईशान-वर्मन और सर्ववर्मन मौखरी के समय में गुप्तों के साथ संघर्ष रहा। अब मौखरियों ने स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के पुष्यभूति-वंश से सम्बन्ध जोड़ा। उनका संघर्ष गुप्तों से प्रारम्भ हो गया। ईशानवर्मन के पुत्र सर्ववर्मन ने पुष्यभूतियों के साथ पश्चिमोत्तर सीमा पर हूणों को हराया और मगध में दामोदरगुप्त को परास्त किया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरफ गुप्तों और गौडों का गुट बना और दूसरी तरफ मौखरी और पुष्यभूति-वंश का। सर्ववर्मन के बाद अवन्तिवर्मन

के सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी नहीं है। उसका पुत्र ग्रहवर्मन हुआ जिसका विवाह प्रभाकरवर्धन (पुष्यभूति-वंश) की लड़की और हर्ष की बहन राज्यश्री से हुआ। गौड-राज शशांक और मालवा के देवगुप्त (गुप्त वंशी) ने कन्नौज पर आक्रमण करके ग्रहवर्मन को मार डाला। इसके अनन्तर राज्यश्री की कोई सन्तान न होने के कारण कान्यकुब्ज और स्थाण्वीश्वर के राज्य एक में मिल गये और कान्यकुब्ज-साम्राज्य की स्थापना हुई।

(९) स्थाण्वीश्वर (थानेसर) का पुष्यभूति-वंश—छठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में; जबकि हूण आक्रमण से गुप्त-साम्राज्य का पश्चिमी भाग छिन्न-भिन्न हो रहा था, पूर्वी पंजाब में पुष्यभूति-वंश का उदय हुआ। उत्तर भारत में जितने राज-वंश स्थापित हुये उनमें यही वंश कुछ समय के लिए विकेन्द्रीकरण की शक्तियों को रोककर उत्तर भारत में एक साम्राज्य बनाने में समर्थ हुआ। इस वंश की राजनैतिक और सांस्कृतिक महत्ता के कारण इसका सविस्तार इतिहास आगे दिया जाता है।

## २. पुष्यभूति-वंश और कान्यकुब्ज-साम्राज्य

(१) वंश-परिचय और उत्पत्ति—मंजुश्री मूलकल्प नामक बौद्ध-ग्रंथ के अनुसार पुष्यभूति-वंश वैश्य-वर्ण का था (आदित्यनामा वैश्यास्तु स्थाण्वीश्वरवासिनः)। हुयेन-संग भी अपने यात्रा-वर्णन में कान्यकुब्ज के राजा को फी-शे (वैश्य) लिखता है। परन्तु जिस प्रकार गुप्तों ने राज-पद पाने पर क्षत्रिय-पद प्राप्त कर लिया था उसी प्रकार पुष्यभूति-वंश ने भी, और उसका सम्बन्ध क्षत्रिय-राजवंशों के साथ होता था। हर्षचरित के अनुसार इस राज-वंश का संस्थापक पुष्यभूति नाम का एक राजा था, जो शिव का अनन्य भक्त था। इसने श्रीकंठ (पूर्वी पंजाब) में अपना राज्य स्थापित किया। किन्तु इसकी राजनैतिक शक्ति और काल का निर्णय करना कठिन है। यह गुप्तों के अधीन कोई सामन्त रहा होगा। वास्तव में पुष्यभूतियों की राजनैतिक शक्ति की स्थापना छठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई जब हूणों के आक्रमण और विकेन्द्रीकरण की शक्तियों के उदय होने से गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था।

**(२) पुष्यभूति-वंश के राजे**—पुष्यभूति के कुछ समय बाद इस वंश में नरवर्धन नामक राजा छठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। यह सूर्य का उपासक था। गुप्त-साम्राज्य के ह्रास से लाभ उठाकर इसने अपनी शक्ति बढ़ायी। नरवर्धन का उत्तराधिकारी राज्यवर्धन हुआ किन्तु इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं मालूम है। राज्यवर्धन के पुत्र आदित्यवर्धन ने गुप्त राजकुमारी महासेनगुप्ता से विवाह करके अपनी विदेशी नीति को दृढ़ किया।

आदित्यवर्धन के पुत्र प्रभाकरवर्धन के समय में पुष्यभूति-वंश बिल्कुल स्वतंत्र हो गया। प्रभाकारवर्धन एक योग्य सैनिक और महत्वाकांक्षी विजेता था। उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की और अपने राज्य-विस्तार के लिये पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण किया। उसकी दिग्विजय का वर्णन वाण आलंकारिक भाषा में इस प्रकार करता है : "(प्रभाकरवर्धन) हूणरूपी हरिण के लिये सिंह, सिन्धु-राज के लिये ज्वर, गान्धार-राजरूपी मदगन्धी हाथी के लिये घातक महामारी, गुर्जर देश की निद्रा को भंग करने वाला, लाटों की पटुता को अपहरण करने वाला और मालवदेशरूपी लता की शोभा को नष्ट करने वाला परशु था।" इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसने उपरोक्त सभी देशों को जीत लिया। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने सिन्धु तक प्रायः सम्पूर्ण पंजाब पर अधिकार और पड़ोसी राज्यों पर अपना सैनिक आतंक स्थापित कर लिया। कम-से-कम मालवा का राजा तो उसके अधीन हुआ दिखायी पड़ता है। दिग्विजय के बाद उसने महाराजाधिराज परमभट्टारक और प्रतापशील की उपाधि ग्रहण की। अपना अन्तर्राज्यों में प्रभाव बढ़ाने के लिये उसने अपनी राजकुमारी राज्यश्री का विवाह कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मन के साथ किया। उसके जीवन के अंतिम दिनों में हूणों ने सीमान्त पर आक्रमण किया किन्तु उसके पुत्र राज्यवर्धन ने उनको परास्त कर देश के बाहर निकाल दिया।

प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राज्यवर्धन गद्दी पर बैठा। वह लड़कपन से ही बौद्ध-प्रभाव में आ गया और स्वभाव से सीधा और कोमल था। प्रभाकरवर्धन के मरने के साथ ही पुष्यभूति-

वंश के शत्रु उठ खड़े हुये। गौड-राज शशांक और मालवा के देवगुप्त ने मिल कर कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। ग्रहवर्मन को मार डाला और राज्यश्री को बन्दी बनाया। किसी प्रकार बन्दी-गृह से निकल कर विन्ध्याचल की ओर भाग गयी। राज्यवर्धन ने कान्यकुब्ज की रक्षा करने और शत्रुओं से बदला लेने के लिये स्थाण्वीश्वर से पूर्व की ओर प्रस्थान किया। मालव-राज देवगुप्त को आसानी से हटाकर उसने कान्यकुब्ज को अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु अपनी अनुभव-हीनता और सिधाई के कारण शशांक के जाल में फँस गया। शशांक द्वारा अपनी राजकुमारी का अपने साथ विवाह के प्रस्ताव और निमंत्रण को स्वीकार कर वह अकेला उसके स्कन्धावार में चला गया और वहीं विश्वासघात से मार डाला गया। उत्कीर्ण लेखों से मालूम होता है कि वह परम सौगत (बौद्ध-धर्म का अनुयायी) था। 'उसने युद्ध में देवगुप्त आदि राजाओं को वश में किया, शत्रुओं का उन्मूलन किया और प्रजा का प्रिय बनकर अनुरोध से शत्रु के भवन में अपना प्राण छोड़ा।'

## हर्षवर्धन

(क) प्रारम्भिक समस्यायें—राज्यवर्धन की दुःखान्त और असामयिक मृत्यु के बाद ६०६ ई० हर्ष श्रीकंठ राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसके सामने विकट समस्यायें थीं। उसका भाई राज्यवर्धन मारा गया था जिससे वह शोकसंतप्त था और इच्छा न होते हुये भी उसे राज्य ग्रहण करना पड़ा; उसकी बहन राज्यश्री का अभी पता नहीं था कि वह कहाँ गयी; कान्यकुब्ज का सिंहासन खाली था और वहाँ उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित था और सबसे बढ़कर पुष्यभूति और मौखरी-वंश के शत्रु चारों तरफ उपद्रव मचा रहे थे। इन समस्याओं का हल आसान नहीं था किन्तु हर्ष की योग्यता और प्रतिभा से सभी प्रश्न सरल हो गये। पहले कान्यकुब्ज के उत्तराधिकार का प्रश्न हुआ। कान्यकुब्ज-राज्य के मन्त्रियों ने, ग्रहवर्मन के अपुत्र मरने और राजनैतिक परिस्थिति को समझते हुये, निर्णय किया कि कान्यकुब्ज के भी सिंहासन पर वही बैठे। पहले सावधानी वश हर्ष ने अनिच्छा प्रकट की,

परन्तु सभी के आग्रह और आश्वासन से उसने कान्यकुब्ज-राज्य का भी अधिकार स्वीकार किया, यद्यपि सिद्धान्ततः उसका अधिकार राज्य श्री के साथ संयुक्त था। कान्यकुब्ज और श्रीकंठ के राज्यों के मिल जाने से हर्ष के हाथ में बहुत बड़ी राजनैतिक और सैनिक शक्ति आ गयी जिसके द्वारा उसने कान्यकुब्ज-साम्राज्य का निर्माण किया।

(ख) दिग्विजय—गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद देश में जो राजनैतिक विशृंखलता उत्पन्न हुई और प्रभाकर की मृत्यु के बाद जो अराजकता और उपद्रव उत्तर भारत में शुरू हुये उससे कोई भी उदीयमान और महत्वाकांक्षी राजा यह निश्चय कर सकता था कि उस परिस्थिति में भारत का राजनैतिक एकीकरण बहुत आवश्यक था। भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं का अनुकरण करते हुये हर्ष ने भी यही निश्चय किया। उसने प्रतिज्ञा की : 'मैं आर्य (पिता) के चरण-रज का स्पर्श करके शपथ खाता हूँ कि यदि मैं कुछ दिनों के ही भीतर पृथ्वी को..........गौडों से रहित न कर दूंगा और समस्त उद्धत राजाओं के पावों की बेड़ियों की झंकार से उसे (पृथ्वी को) प्रतिध्वनित न कर दूं तो मैं पतंग की भाँति जलती हुई अग्नि में अपने को झोंक दूंगा।" सभी मन्त्रियों ने दिग्विजय की प्रतिज्ञा का अभिनन्दन किया। विजय की योजना तैयार हुई और सेना का अभिसंयान प्रारम्भ हुआ।

दिग्विजय के प्रारम्भ में ही प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा भास्कर वर्मा ने हर्ष का आधिपत्य स्वीकार किया और अपने दूत के द्वारा बहुत सा उपहार भेजा। इसका कारण यह था कि भास्कर वर्मा की शशांक से शत्रुता थी, इसलिये शशांक के परम शत्रु हर्ष का उसने साथ दिया। इसके बाद मालवा को फिर अच्छी तरह से पराजित किया गया, जिससे वह पुनः पीछे से आक्रमण न कर सके इसके अनन्तर हर्ष ने गौड पर आक्रमण करने के लिये अपने सेनापति भण्डि को आगे भेज दिया और अपनी बहन राज्यश्री को उसने स्वयं विन्ध्य के जंगलों से खोज निकाला। वह चिता बना कर उस पर जलने जा रही थी और हर्ष के मिलने पर भी वापस जाना नहीं चाहती थी। परन्तु हर्ष की इस प्रतिज्ञा पर कि अपनी उद्देश्य की सिद्धि के

बाद दोनों सन्यासी हो जायेंगे वह कान्यकुब्ज वापस गयी। गौड पर आक्रमण कर हर्ष ने शशांक का क्या किया, इसका साफ पता नहीं लगता। गंजाम में मिले हुये लेख से मालूम होता है कि ६१६ ई० में शशांक जीवित था और गंजाम के ऊपर उसका आधिपत्य था। इससे तो यही अनुमान निकलता है कि ६०६ ई० और ६१६ ई० के बीच में हर्ष शशांक को नष्ट नहीं कर सका और उसकी शक्ति दक्षिण-पश्चिम बंगाल में बनी रही। परन्तु हर्ष तो ६३४ ई० तक (दक्षिणापथ पर आक्रमण के समय तक) प्राय: बराबर युद्ध करता रहा। इसके फलस्वरूप उसने काश्मीर से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा और महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पीछे गौड भी उसके साम्राज्य में आ गया। हर्षचरित और उत्कीर्ण लेखों में गौड, उत्कल, मिथिला, सिन्ध, नेपाल, सुराष्ट्र आदि के ऊपर हर्ष की विजय के उल्लेख पाये जाते हैं। सुराष्ट्र में वलभी का राजा ध्रुवसेन द्वितीय हर्ष का समकालीन था। पहले हर्ष ने उसे पराजित किया, परन्तु फिर अपनी लड़की का उससे विवाह कर उसको अपना मित्र बना लिया। हुयेन-संग ने अपने यात्रा-वर्णन में लिखा है: "वह (हर्ष) पूर्व की तरफ बढ़ा; उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उसका आधिपत्य अस्वीकार किया था और लगातार युद्ध करता रहा जब तक कि छ: वर्ष के भीतर उसने पाँच गौडों (पाँच इंडिया) को अपने अधीन नहीं कर लिया।" ये पञ्च गौड पाँच उत्तर भारत के मण्डल थे—(१) सारस्वत मंडल (काश्मीर-पंजाब) (२) गौड (दिल्ली के आसपास का प्रदेश) (३) कान्यकुब्ज (पूरा संयुक्तप्रांत दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक और बिहार का अधिकांश) (४) पूर्वोत्तर (मिथिला बिहार, बंगाल-आसाम) और (५) उत्कल (बिहार का दक्षिणी छोर, उड़ीसा, कलिंग) इसमें छ: वर्ष की अवधि तो गलत है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष सारे उत्तर भारत का अधिपति (सकलोत्तरापथनाथ) हो गया।

(ग) दक्षिणापथ पर विफल आक्रमण—उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के बाद हर्ष ने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया। मध्य और पश्चिम भारत में हर्ष की विजयों के कारण उसके और दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशिन् द्वितीय के बीच पहले से तनातनी शुरू हो गयी थी। इसलिये यह युद्ध अनिवार्य

था। चीनी यात्री हुयेन-संग के अनुसार बड़ी तैयारी के साथ हर्ष ने महाराष्ट्र-कर्णाटक के राजा पुलकेशिन् पर चढ़ाई की, परन्तु हारकर उसे वापस आना पड़ा। पुलकेशिन् के उत्कीर्ण लेखों से भी इस बात की पुष्टि होती है: "जिसके चरण कमलों पर अपरिचित समृद्धि से युक्त सामन्तों की सेना नतमस्तक होती थी, उस हर्ष का हर्ष (आनन्द) युद्ध में मारे हुये हाथियों के बीभत्स दृश्य को देख कर विगलित हो गया।" यह युद्ध नर्मदा के किनारे हुआ था। इसके बाद पुष्यभूति और चालुक्य-साम्राज्य के बीच नर्मदा स्थिररूप से सीमा बन गयी। मयूर नामक एक कवि की उक्ति और एक उत्कीर्ण लेख के आधार पर श्री-कंठ शास्त्री का यह मत है कि हर्ष ने कुंतल, काञ्ची आदि दक्षिण और सुदूर दक्षिण के प्रदेशों पर आक्रमण किया था। परन्तु अभी यह मत विवादग्रस्त है। पुलकेशिन् के जिन उत्कीर्ण लेखों का हवाला दिया गया है उनके बाद ही यह संभव हो सकता है।

(घ) हर्ष के साम्राज्य का विस्तार—साम्राज्य में हर्ष का गृह-राज्य (स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज), दिग्विजय के समय भग-राज्य, अधीन राज्य, अधीन मित्र सभी सम्मिलित थे। उसके राजनीतिक प्रभाव में तो आस-पास के मित्र-राज्य भी सम्मिलित थे। मोटे तौर पर हर्ष के साम्राज्य का विस्तार उत्तर में काश्मीर और नेपाल से लेकर दक्षिण में नर्मदा और महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा में) तक और पश्चिम में सुराष्ट्र से लेकर पूर्व में प्राग्-ज्योतिष (आसाम) तक था। सारा आर्यावर्त उसके अधीन था और वास्तव में वह 'सकलोत्तरापथनाथ' (सम्पूर्ण उत्तर भारत का अधिपति) था।

(ङ) शासन-व्यवस्था—हर्ष की शासन-व्यवस्था वास्तव में गुप्त-काल की देन थी। गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था में ही आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन कर हर्ष ने अपनी शासन-प्रणाली का निर्माण किया था।

(च) केन्द्रीय-शासन—राजा राज्य का उच्चतम अधिकारी था और उसी के हाथ में सिद्धांततः राज्य की अंतिम सत्ता थी। परम भट्टारक, महाराजाधिराज, एकाधिराज, चक्रवर्ती, सार्वभौम, परमेश्वर, परमदैवत आदि साम्राज्यवादी उपाधियां वह धारण करता था। राज्य

का उच्चतम अधिकारी होने के नाते राजा शासन में पूरा भाग लेता था। बड़े-बड़े अधिकारियों की नियुक्ति, आज्ञा-पत्र तथा घोषणा-पत्र का प्रवर्तन, आय-व्यय की देख-रेख वह स्वयं करता था। राजा के सैनिक कार्यों में युद्ध के समय सैन्य-संचालन और शांति के समय सैन्य-संगठन और सैन्य-निरीक्षण सम्मिलित थे। न्यायाधीश की हैसियत से राजा बड़े अभियोगों का निर्णय करता और निचले न्यायालयों की अपील सुनता था। हर्ष अशोक की तरह धार्मिक आदर्श और भावना से प्रभावित था। इसलिए अपने व्यक्तिगत सुख और विलास की चिंता न कर बराबर राज्य कार्य और प्रजा-हित में लगा रहता था। बरसात के महीनों को छोड़ कर वह वर्ष-भर अपने राज्य में दौरा करता और प्रजा की अवस्था अपनी आँखों से देखता था। उसे अपने राज्य के भूगोल और शासन के ब्यौरे का पूरा ज्ञान था।

केन्द्रीय शासन का संगठन कई विभागों में हुआ था जो अध्यक्षों अथवा मंत्रियों के संरक्षण में रहते थे। राजा के निजी अधिकारियों में प्रतिहार ( राज-सभा के मुख्य संरक्षक ), विनयासुर (आगन्तुकों को राजसभा में ले जानेवाला और उनके आगमन की घोषणा करनेवाला), स्थपति ( रनिवास के कर्मचारियों के निरीक्षक), प्रतिनर्तक, दूतक, लेखक आदि थे। राजा की सहायता के लिए मंत्रि-परिषद् भी थी, जिसका उल्लेख बाण और हुयेन-संग दोनों करते हैं। मुख्य मंत्रियों में पुरोहित प्रधान-मंत्री, संधि-विग्रहिक ( जिसके हाथ में संधि और युद्ध करने करने का अधिकार था और जो पर-राष्ट्र-विभाग का प्रमुख अधिकारी था ), अक्षपटलाधिकृत ( जिसके हाथ में सरकारी कागज-पत्र रहते थे ), सेनापति ( सेना-विभाग का प्रमुख अधिकारी ) का विशिष्ट स्थान था। इनके अतिरिक्त अर्थ-विभाग और न्याय-विभाग के भी मंत्री थे।

प्रांतीय-शासन—गुप्त-साम्राज्य की तरह हर्ष का साम्राज्य भी शासन की सुविधा के लिये कई इकाइयों में बंटा हुआ था। सारे साम्राज्य की भूमि को राज्य, राष्ट्र, देश अथवा मण्डल कहते थे। वह कई प्रांतों में बँटा था, जिनको भुक्ति अथवा प्रदेश कहते थे, जैसे अहिच्छत्र, श्रावस्ती, कौशाम्बी, पुण्ड्रवर्धन आदि। भुक्ति अथवा प्रदेश विषयों (= जिलों) में विभक्त थे। विषय पठकों और पठक गाँवों में बंटे हुये थे। प्रांतों के अधिकारी उपरिक महाराज, गोप्ता, भोगपति,

ाजस्थानीय, राष्ट्रीय, राष्ट्रपति कहलाते थे। इनकी नियुक्ति सम्राट स्वयं
रता था, किन्तु अपने अधीन अधिकारियों की नियुक्ति करने का उनको
धिकार था। विषय के मुख्य अधिकारी को विषयपति कहते थे।
थानीय शासन में नगर-शासन के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता, किंतु
ाम अथवा ग्राम-समूह के अधिकारियों की विस्तृत सूची इस काल
े उत्कीर्ण लेखों में पायी जाती है। ग्राम का प्रमुख अधिकारी महत्तर
ा ग्रामिक था। इसके अतिरिक्त अष्टकुलाधिकरण। (आठ कुलों का
नरीक्षक), शौल्किक (शुल्क अथवा चुंगी वसूल करने वाला), गौल्मिक
वन, उपवन आदि का निरीक्षक), अग्रहारिक (ब्राह्मणों को दिये
ए गाँवों को देखभाल करने वाला), ध्रुवाधिकरण (भूमिकर का
ध्यक्ष), भाण्डागाराधिकृत (भाण्डार का अध्यक्ष), तलवाटक
गाँव का लेखा-जोखा रखनेवाला), उत्खेटयित (कर वसूल करने
ाला), पुस्तपाल (लेखा रखनेवाला) अक्षपटलिक (कागज-पत्र का
रक्षक), दिविर या लेखक, करणिन् (रजिस्ट्रार) कर्तृ या शासयितृ
कागज-पत्रों की पाण्डुलिपि बनाने वाला) के उल्लेख पाये जाते हैं।
ससे मालूम होता है कि ग्रामीण-शासन सरकारी तौर से बहुत अच्छा
रह संगठित था और गाँव के शासन में गैर-सरकारी स्थानीय
ोगों का भी काफी हाथ था।

राजस्व-विभाग—शासन का यह एक बहुत आवश्यक विभाग
ा। राजस्व अर्थात् सरकारी आय के उद्गम थे—उद्रंग (भूमिकर),
परिकर (यह कर उन कृषकों पर लगता था जिनका भूमि पर स्वाम्य
हीं होता था), धान्य (अनाज विशेष पर लगाया हुआ कर) हिरण्य
खनिज पदार्थों पर लगाया हुआ कर)। जो द्रव्य अथवा अनाज के
रूप में कर नहीं दे पाते थे उनसे शारीरिक श्रम निश्चित ढंग से
लिया जाता था। न्यायालयों से शुल्क और अर्थदण्ड से आमदनी
होती थी। सरकार की कर-सम्बन्धी नीति उदार थी और हलके कर
लगाये जाते थे। भूमि की उपज का ⅙ सरकार को मिलता था। और
करों की दर के बारे में कुछ पता नहीं लगता। राज्य की सबसे बड़ी
आमदनी भूमि से होती थी। इसकी व्यवस्था अच्छी थी। सारी भूमि
का पर्यवेक्षण और माप होता था। खेतिहर भूमि खेतों (प्रत्यय अथवा
केदार) में बँटी हुई थी। खेतों की सीमा (परिहर अथवा मर्यादा)

निर्धारित होती थी। पर्यवेक्षण-विभाग के मुख्य अधिकारी को प्रमाता (नापनेवाला) कहते थे। उसके अतिरिक्त सीमाप्रदाता और न्याय-कर्णिक (सीमासम्बन्धी विवादों का निर्णय करने वाला) होते थे। भूमि-सम्बन्धी कागज-पत्र सुरक्षित रखे जाते थे। भूमि की सिंचाई के लिये आवश्यकतानुसार सरकारी प्रबन्ध होता था।

राज्य का आय कैसे खर्च होता था, इसका अनुमान हुयेन-संग के इस वर्णन से लगा सकते हैं: "राजकीय भूमि के चार भाग थे। एक भाग धार्मिक कृत्यों तथा सरकारी कामों में खर्च होता था। दूसरा भाग बड़े-बड़े सार्वजनिक अधिकारियों पर खर्च होता था। तीसरा भाग विद्वानों को पुरस्कार और वृत्ति देने के लिये था और चौथा भाग दान-पुण्यादि में काम आता था।"

न्याय-विभाग—शासन व्यवस्था ठीक संगठित होने के कारण प्रजा-द्वारा सरकारी नियमों का भंग बहुत कम होता था। हुयेन-संग लिखता है: क्योंकि सरकारी शासन ईमानदारी से होता है और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा है, इसलिये अपराधी-वर्ग बहुत छोटा है।" फिर भी अपराध तो होते ही थे और उनके लिये दण्ड निश्चित थे। "राजद्रोह के लिये आजीवन कारावास का दण्ड मिलता था; परन्तु इसके लिये शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। सामाजिक निति के विरुद्ध अपराधों के लिये अपराधी को अंग-भंग, देशनिकाला अथवा बनवास का दण्ड मिलता था। साधारण अपराधों के लिये अर्थदण्ड दिया जाता था। फौजदारी के अपराधों के लिये दण्ड कठोर मिलता था और कारावास में बन्दियों के साथ कड़ाई का व्यवहार किया जाता था। परन्तु विशेष अवसरों पर बन्दी-गृह से कैदी छोड़े भी जाते थे। न्याय मीमांसा-शास्त्र के अनुसार होता था। अभियोगों में सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये और प्रमाणों के साथ चार प्रकार के दिव्य-प्रमाण भी काम में आते थे—(१) जल (२) अग्नि (३) तुला और (४) विष।

सार्वजनिक हित के काम—जैसा कि पहले कहा गया है हर्ष अशोक का अनुकरण करता था। इसलिये उसने बहुत सी परोपकारी और धार्मिक संस्थाओं का निर्माण कराया। उसने वैदिक-धर्मावलम्बियों और बौद्धों के लिये मन्दिर और चैत्य और बहुत से विहार

और स्तूप बनवाये। सड़कों के बनाने और सुरक्षा का प्रबन्ध था और उनके किनारे यात्रियों की सुविधा के लिये पांथशालायें बनी हुई थीं। शिक्षा के ऊपर भी हर्ष काफी खर्च करता था। व्यक्तिगत विद्वानों को पुरस्कार देने के अतिरिक्त नालन्दा आदि विहारों (विद्यापीठों) को वह नियमित आर्थिक सहायता देता था। दान-पुण्य और धार्मिक कृत्यों में भी बहुत बड़ी धन-राशि हर्ष खर्च करता था। प्रति पाँचवें वर्ष वह प्रयाग में धार्मिक मेला लगाता था और वहाँ अपार सम्पत्ति दान में लुटाता था।

सेना और रक्षिन-विभाग (पुलिस)—हर्ष के शासन में एक विशाल स्थायी सेना थी, जिसकी संख्या छः लाख थी। इसके अतिरिक्त अस्थाई सैनिक भी होते थे जो आवश्यकतानुसार युद्ध के अवसर पर बुला लिये जाते थे। साहित्यिक ग्रंथों में चतुरंगिणी सेना का वर्णन मिलता है, परन्तु इस समय वास्तव में सेना के तीन ही अंग थे—(१) पदाति (पैदल) (२) अश्वारोही और गज (हाथी); युद्ध में रथ का प्रयोग इस समय तक प्रायः उठ सा गया था। पुलकेशिन् के ऐहोल-लेख से मालूम होता है कि उसके और हर्ष के बीच में जो युद्ध हुआ था उसमें हर्ष ने हाथियों का ही प्रयोग किया था जो बहुत बड़ी संख्या में मारे गये थे। उत्कीर्ण-लेखों में नौ-सेना का भी उल्लेख पाया जाता है और स्कन्धावार (सैनिक पड़ाव) की चर्चा भी आती है। अस्त्र-शस्त्रागारों का भी वर्णन मिलता है और हर्षचरित में बहुसंख्यक हथियारों के नाम हैं। सेना-विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी महासन्धि विग्रहाधिकृत था जिसके हाथ में सन्धि और युद्ध करने का अधिकार होता था। सैन्य-संचालन का प्रमुख अधिकारी महाबलाधिकृत और उसके नीचे बलाधिकृत, सेनापति, वृहदश्ववार (अश्वारोही सेना के अधिकारी), भटाश्वपति, कटुक (गज-सेना के नायक), पागि (सैनिकों के निवास-स्थान के निरीक्षक) आदि होते थे।

रक्षिन-विभाग के अधिकारियों में कुछ उन्हींके नाम मिलते हैं, जिनका उल्लेख गुप्त-शासन के साथ हो चुका है—(१) दण्ड-पाशिक (डंडे और रस्सी रखनेवाले सिपाही) (२) दण्डिक (केवल दण्ड वाले) (३) चौरोद्धरणिक (चोरों का पता लगाने वाले) हर्षचरित में बाण ने ग्राम-चेटि का उल्लेख किया है जो रात में पहरा देनेवाली स्त्री होती

थी। इन प्रकट रक्षिणों के अतिरिक्त गुप्तचर भी होते थे जो छिपकर अपराधों का पता लगाते थे और न्याय और शासन में सहायता पहुँचाते थे। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि जितनी शांति और सुरक्षा का प्रबन्ध गुप्तकाल में था उतना हर्ष के समय में नहीं, जबकि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में आनेवाला चीनी-यात्री फाहियान निर्विघ्न यात्रा करता रहा। हर्षकालीन हुयेन-संग के सामान को चोरों और लुटेरों ने कई बार छीन लिया था।

**शासन का स्वरूप**—चीनी यात्री हुयेन-संग हर्ष के शासन से बहुत प्रभावित हुआ था। उसके अनुसार हर्ष का शासन बहुत उदार सिद्धान्तों पर अवलम्बित था। परिवारों के रजिस्टर्ड कराने का नियम नहीं था और लोगों से बलात् बेगार नहीं ली जाती थी। स्वतंत्र वातावरण में अपनी परिस्थिति के अनुकूल प्रजा का विकास होता था।

**३. सामाजिक अवस्था**—बाण और हर्ष के ग्रंथों, हुयेन-संग के यात्रावर्णन और उत्कीर्ण-लेखों से तत्कालीन सामाजिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। गुप्त-काल में वर्णाश्रम-व्यवस्था का जो पुनरुत्थान हुआ था वही इस काल में सामाजिक संगठन का आधार था। हर्षचरित में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-वर्ण के अनेक उल्लेख हैं। हुयेन-संग भी लिखता है! "परम्परागत जाति-भेद से चार वर्ग हैं। चारों जातियों में विभिन्न मात्रा में धार्मिक-अनुष्ठान-जनित पवित्रता है।" ब्राह्मण की उपाधियाँ शर्मा और भट्ट थीं। अपने ज्ञान और आचार के कारण ब्राह्मण पवित्र और सम्मानित समझे जाते थे। हुयेन-संग के अनुसार, भारत 'ब्राह्मण-देश' कहलाता था। दूसरा वर्ण क्षत्रियों का था। इनकी भी हुयेन-संग बड़ी प्रशंसा करता है। क्षत्रिय की उपाधियाँ, वर्मा त्राता, सेन, भट्ट आदि थीं। वैश्यों का भी प्रभावशाली और समृद्ध वर्ग था। शूद्रों की कई जातियाँ थीं। निषाद, पारशव, पुक्कुस आदि संकर-जातियों का भी उल्लेख मिलता है। अन्त्यज जातियों में चाण्डाल, मतप (मरे जानवर खाने वाले), श्वपाक (कुत्ता खाने वाले), कसाई, मछुआ, जल्लाद आदि की गणना थी।

वैवाहिक सम्बन्ध प्रायः सवर्ण लोगों में होते थे, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी संभव थे। ऐसे विवाह दो प्रकार के थे—(१) अनुलोभ (ऊंचे वर्ग के वर का निचले वर्ग की कन्या के साथ विवाह

और (२) प्रतिलोम (नीचे वर्ण के वर का ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह)। परन्तु अनुलोम विवाह से जो संतान इस समय उत्पन्न होती थी वह पिता के वर्ण की न होकर या तो वर्ण-संकर मानी जाती थी या माता के वर्ण की। विवाह गोत्र और पिण्ड के बाहर होता था। बहुविवाह की प्रथा भी समाज में प्रचलित थी। पुरुषों का पुनर्विवाह तो होता ही था। हुयेनसंग लिखता है कि स्त्रियाँ कभी अपना पुनर्विवाह नहीं करती थीं। यह बात ऊंचे वर्ण के लोगों पर ही लागू थी; शूद्रों और निम्नश्रेणी के वैश्यों में स्त्रियों का पुनर्विवाह होता था। सती की प्रथा जारी थी। हर्ष की माता पति की मृत्यु के पहले ही जलकर मर गयी। राज्यश्री भी सती होने जा रही थी, जब हर्ष ने उसका उद्धार किया। जो विधवायें जीवित रहती थीं वे श्वेत वस्त्र पहनती थीं और बालों की एक वेणी बाँधती थीं। लड़कों की तरह लड़कियों की शिक्षा का भी प्रबंध था। वे साहित्य, संगीत, कला आदि में प्रवीण होती थीं। समाज में आधुनिक अर्थ में पर्दा की प्रथा नहीं थी। राज्यश्री दरबार में बैठकर राज-सभा में भाग लेती थी। समाज में स्त्रियों का स्थान अब भी बहुत ऊंचा था और उनका सम्मान कन्या, स्त्री और माता के रूप में होता था। साधारण जनता का जीवन सादा था, किन्तु नगरों और राज-सभाओं में विलासिता काफी थी।

४. धार्मिक जीवन—गुप्त-काल में जिन धर्मों और उनके सम्प्रदायों का वर्णन किया गया है, उनमें कई एक नयी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही थीं। एक तो सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में दिनोंदिन वृद्धि हो रही थी। इन सम्प्रदायों में परस्पर उदारता थी यद्यपि कहीं-कहीं कटुता के उदाहरण भी पाये जाते हैं। दूसरे इन सम्प्रदायों का क्रिया-कलाप और पूजापद्धति धीरे धीरे जटिल होती जा रही थी। धार्मिक विश्वासों के साथ अन्ध-विश्वास भी बढ़ रहा था। धर्म के नाम पर बहुत से अश्लील और गुप्त व्यवहार चल पड़े थे। मुख्य धर्मों की अवस्था का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है:

(१) वैदिक अथवा ब्राह्मणधर्म—इस समय का सबसे व्यापक धर्म वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म था, जो क्रमशः बौद्ध और जैन आदि परम्परा विरोधी धर्मों को आत्मसात करता जा रहा था। इस धर्म

की प्रधानता के कारण ही भारत को हुयेन-संग ने 'ब्राह्मणों का दे
लिखा है। इस धर्म के वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, आदि सम्प्रदायों
कई उप-सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे जो अपने अलग अलग चिह्नों
पहचाने जाते थे। बाण ने हर्षचरित में निम्नलिखित सम्प्रदायों का उल्ले
किया है: आर्हत (जैन), मस्करी (परिव्राजक), श्वेतपट (श्वेताम
जैन सम्प्रदाय), पाण्डुभिक्षु (श्वेतवस्त्रधारी भिक्षु), भागवत (वैष्ण
वर्णी (ब्रह्मचारी), केशलुञ्चक (अपने बाल उखाड़ फेंकने वाले), कापि
(सांख्य मतवाले), लोकायतिक ( चार्वाक आदि ), जैन, बौ
काणाद (वैशेषिक मत को माननेवाले), औपनिषदिक, ऐश्वरकारणि
(न्यायदर्शन के मानने वाले), करंधम (धातुवादी), धर्मशा
(स्मार्त), पौराणिक, साप्ततंतव शैव, शाब्दिक (वैयाकर
और पाञ्चरात्रिक (वैष्णव धर्म की एक शाखा)। इनमें से अ
कांश ब्राह्मण धर्म के ही सम्प्रदाय थे। विशेष कर विष्णु, शि
सूर्य, दुर्गा, पार्वती आदि की उनके अनेक रूपों में उपासना चल
थी। इन देवताओं के अनेक रूपों की मूर्तियाँ बनतीं और मन्दिर
उनकी पूजा होती। पहले मूर्तियों को दूध से नहलाया जाता था;
पुष्प, धूप, गंध, ध्वज, बलि, विलेपन, प्रदीप आदि समर्पित
जाते थे। ब्राह्मण-धर्म का पौराणिक स्वरूप निखरता जा रहा
परन्तु साथ-ही साथ तांत्रिक और वाम मार्गी प्रवृत्तियाँ भी उ
दिखाई पड़ रही थीं। भारतीय जनता अपने प्राचीन वैदिक धर्म
भी नहीं भूली थी। हर्ष के समय में मीमांसकों का काफी जोर
और वैदिक यज्ञ, संस्कार, पंच महायज्ञ आदि कर्म काण्ड होते थे

(२) बौद्ध-धर्म —हुयेन-संग के यात्रा-वर्णन से मालूम होता
कि वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म के साथ साथ बौद्ध-धर्म भी देश में व
प्रचलित था। यद्यपि धीरे-धीरे इसके मानने वालों की संख्या
हो रही थी। उसने सारे देश में बौद्ध संघरायों और विहारों
पर्याप्त संख्या में देखा। बौद्ध-धर्म अपने दो मुख्य विभागों—हीनयान
महायान के अतिरिक्त अठारह उपविभागों में बँटा हुआ था। इनमें स
सम्मितीय, महा-संघिक, माध्यमिक तथा योगाचार आदि अ
प्रसिद्ध थे। जिस तरह वैदिक धर्म में भक्तिमार्ग और पौराणिक
की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी उसी प्रकार बौद्ध धर्म में मह

सम्प्रदाय की वृद्धि हो रही थी। यह भी बुद्ध के ऐश्वर्य, उनके अवतार बोधिसत्व और अवलोकितेश्वर तथा उनकी मूर्तियों और पूजा, तीर्थ-यात्रा, स्वस्तिक और पौष्टिक कर्म-काण्ड पर जोर देता था। वास्तव में भक्तिभाव और पूजा-पद्धति में वैदिक और बौद्ध धर्म इस समय एक दूसरे के बहुत निकट आ गये थे। ऊपर बौद्ध-धर्म के ह्रास का संकेत किया गया है। इसके मुख्य कारण थे प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान, मीमांसकों का बौद्ध-धर्म पर प्रहार, बौद्ध-संघरायों में शिथिलता और व्यभिचार तथा नवसंगठित वैदिक धर्म द्वारा बौद्ध धर्म को क्रमशः आत्मसात् करना। ह्वेन संग ने मध्यदेश में बहुत से स्तूपों और विहारों को भग्नावस्था में देखा। बौद्ध-धर्म के केन्द्र क्रमशः पूर्व भारत की ओर खिसक रहे थे।

(३) जैन-धर्म—जैसा कि गुप्त काल में देखा गया है उत्तर भारत से जैन-धर्म धीरे-धीरे दक्षिण की ओर खिसक रहा था और उत्तरोत्तर उसके मानने वालों की संख्या भी कम हो रही थी। फिर भी जैन-धर्म अभी सजीव था। ह्वेन-संग श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का वर्णन करता है। बाण ने हर्ष के दर्शकों में क्षपणकों (जैन-साधुओं) तथा दिवाकर मित्र के आश्रम में जैन-भिक्षुओं का उल्लेख किया है। दक्षिण में जैन-धर्म को काफी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। चालुक्य राजा पुलकेशिन (द्वितीय) जैन-धर्म का अनुयायी था और ह्वेन-संग को काँची में बहुत से जैन मन्दिर देखने को मिले थे। जैन-धर्म भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दो मुख्य सम्प्रदायों के अतिरिक्त कई उपविभागों में विभक्त था। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में कोई क्रांतिकारी भेद नहीं था। दिगम्बर सम्प्रदाय यह नहीं मानता था कि स्त्रियाँ भी मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। दोनों की पूजा-पद्धति में केवल यह अन्तर था कि दिगम्बर-जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ पूजने में श्वेताम्बरों की भांति वस्त्र, गन्ध और पुष्प का उपयोग नहीं करते थे।

(४) राजवंश का धर्म और धार्मिक नीति—इस वंश के संस्थापक पुष्यभूति का धर्म शैव तथा तांत्रिक था। पुष्यभूति के बाद प्रथम प्रसिद्ध राजा नरवर्धन के धर्म का स्पष्ट उल्लेख नहीं है; परन्तु संभवतः वह भी अपने पूर्वजों के धर्म को मानने वाला था। इसके पीछे आने वाले तीन राजा परमादित्य-भक्त (सूर्योपासक) थे। इसके अनन्तर

प्रभाकरवर्धन भी सूर्य का ही उपासक था। प्रभाकर वर्धन का बड़ा पुत्र राज्यवर्धन सौगत (सुगत = बुद्ध का अनुयायी) था। उसके छोटे पुत्र हर्षवर्धन को दान-पत्रों और मुद्राओं पर अंकित लेखों में माहेश्वर (शैव) ही कहा गया है। केवल हुयेन-संग के यात्रा-वर्णन से मालूम होता है कि वह बौद्ध धर्म की ओर झुका हुआ था। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म से वह अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में प्रभावित हुआ था, यद्यपि सरकारी कागज-पत्रों में वह अपने को माहेश्वर (शैव) ही घोषित करता रहा। कन्नौज में आयोचित धर्म-सभा का जो वर्णन हुयेन-संग करता है उसके अनुसार हर्ष वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन आदि सभी धर्मों का आदर करता था। सभी सम्प्रदायों के पंडित उसमें आमन्त्रित थे और सभी सम्प्रदायों के देवताओं की मूर्तियां उसमें स्थापित और पूजित हुई थीं; फिर भी उसने बौद्ध-प्रतिमा की स्थापना पहले दिन करके बौद्ध-धर्म के प्रति सबसे अधिक आस्था प्रकट की थी। धार्मिक मामलों में वह उदार था और प्राचीन भारतीय राजाओं की उदार धर्म-नीति का ही उसने अवलम्बन किया था। हर्ष-वर्धन दान में राज्य के आय का बहुत बड़ा अंश खर्च करता था। वह प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम 'महादान-भूमि' में प्रति पांचवें वर्ष दान-महोत्सव करता था। इस अवसर पर लाखों लोग इकट्ठे होते थे। और वह साधुओं, भिक्षुकों, अनाथों, रोगियों और दरिद्रों को करोड़ों की सम्पत्ति दान करता था। राज्य की पंचवर्षीय बचत का सर्वस्व दान कर केवल अपने शरीर के वस्त्रों के साथ लौटने में हर्ष को अत्यन्त सन्तोष होता था। इस अनियंत्रित दान-नीति से हर्ष के शासन और सेना पर अवश्य ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होगा।

५. विद्या, साहित्य और कला-(१) शिक्षा—हर्ष के समय में भारतवर्ष अपनी विद्या, ज्ञान और साहित्य के लिये प्रसिद्ध था। बाहर के लोग भी अपनी ज्ञान-पिपासा तृप्त करने के लिये इस देश में आते थे। वैदिक धर्मावलम्बियों और बौद्धों सभी में शिक्षा का काफी प्रचार था। ब्राह्मण उपाध्याय-आचार्य और गुरु प्राचीन प्रथा के अनुसार गुरुकुलों (अपने घरों और आश्रमों) में विद्यार्थियों को वेदों और शास्त्रों की निःशुल्क शिक्षा देते थे। चीनी यात्री हुयेन-संग ने पश्चिम में कपिश-गान्धार से लेकर पूर्व में बंगाल और सुदूर दक्षिण तक अनेक

बौद्ध-विहार और संघाराम देखे जो विद्या और शिक्षा के केन्द्र थे।

नालन्दा-महाविहार—हर्षकालीन शिक्षा के केन्द्रों में नालन्दा का महाविहार सबसे अधिक प्रसिद्ध था। यह विहार-प्रान्त के पटना जिला में राजगृह से आठ मील की दूरी पर आधुनिक बड़गाँव नामक गाँव के पास स्थित था। यहां पर छः विद्यालयों के विशाल गगनचुम्बी भवन थे। महाविहार के एक भाग में पुस्तकालय था जिसको धर्मगंज कहते थे। इसके रत्नसागर, रत्नदधि और रत्नरंजक नामक तीन भवन थे। रत्नदधि नवतल्लों का बना हुआ ऊंचा प्रासाद सा भवन था। विद्यार्थियों के भोजन के लिये सत्र ( निःशुल्क भोजनालय ) थे। पत्थर के बने हुये रास्ते, कुएं जल-घड़ी आदि विहार में थे। इन सबके चारों ओर ईंट की दीवार थी और उसमें दरवाजे बने हुये थे। महाविहार का व्यय चलाने के लिये राज्य की ओर से २०० गाँवों की आय लगी हुई थी। आसपास के गाँवों से नित्य खाद्य-सामग्री—अन्न, दूध, शाक आदि—महाविहार में अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिये पहुंचजाते थे। इसमें लगभग १००० अध्यापक और १०००० विद्यार्थी निवास करते थे। पाठ्य-क्रम में शब्द-विद्या ( व्याकरण ), हेतुविद्या (न्याय अथवा तर्क) अध्यात्म, योग, तंत्र, चिकित्सा, शिल्प, रसायन आदि सम्मिलित थे। शिक्षण प्रणाली, व्याख्यान, वाद-विवाद, व्यक्तिगत सहायता, निर्देश आदि के ऊपर अवलम्बित थी। महाविहार के कर्मचारियों में द्वार-पण्डित ( विद्यार्थियों का प्रवेश करने वाले ), धर्मकोष ( आधुनिक चांसलर ) कर्मदान ( प्रोचांसलर ), स्थविर ( कुलपति = वाइस-चांसलर ) मुख्य थे। इस महाविहार में हुयेन-संग ने स्वयं कई बार अध्ययन किया था और वह इसकी बड़ी प्रशंसा करता है।

(२) विद्या और साहित्य—हर्ष के समय में प्राचीन साहित्य और शास्त्रों का अध्ययन अच्छी तरह प्रचलित था और इस काल में भी काव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा, दर्शन, धर्म-विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि पर कई ग्रंथ लिखे गये। हर्षवर्धन स्वयं अच्छा लेखक और विद्वानों का आश्रयदाता था। ताम्रपत्रों के ऊपर हर्ष के हस्ताक्षर से उसकी लेखन-कला का चातुर्य प्रकट होता है। उसके रचित ग्रंथों में रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। हर्ष के

राजकवियों में बाण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बाण की रचनाओं में हर्षचरित और कादम्बरी अमर ग्रंथ हैं; इनके अतिरिक्त चण्डिशतक ( स्तोत्र ) और पार्वती-परिणय ( नाटक) का रचयिता भी वह माना जाता है। हर्ष की सभा में बाण के अतिरिक्त बाण का श्वसुर मयूर, हरिदत्त, जयसेन, मातंगदिवाकर आदि प्रसिद्ध कवि और लेखक रहते थे। हर्ष के पार्श्ववर्ती युग में भारवि, कुमारदास, दण्डी, सुबन्धु, रविकीर्ति, भूषण, महेन्द्रवर्मा, कुमारिल, उद्योतकर वामन, ब्रह्मगुप्त आदि अनेक प्रसिद्ध लेखक और विद्वान हुये।

(३) कला—गुप्तकालीन कला की प्रवृत्तियां और विशेषतायें इस काल की कला में पायी जाती हैं। वास्तु ( भवन ), मूर्ति, चित्र, संगीत आदि के बहुत से नमूने इस युग में मिल सकते हैं। मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में सिरपुर का लक्ष्मण-मंदिर, शाहाबाद में भबुआ के पास मुंडेश्वरी का मन्दिर हर्षकालीन हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन मंदिर और मूर्तियां बड़ी संख्या में इस काल में बनी। हर्ष ने नालन्दा में पीतल की चादर से आवेष्टित एक मठ बनवाया था। उत्तर भारत, दक्षिण और सुदूर दक्षिण में बड़े-बड़े नगरों, भवनों, मन्दिरों, मूर्तियों तथा चित्रों के बहुत से उल्लेख इस काल के पाये जाते हैं। अजंता की कुछ कृतियां इस समय की हैं। हर्ष और बाण के ग्रंथों में संगीत की चर्चा काफी मिलती है। शिल्प, वस्त्र, शृंगार, आभूषण, प्रसाधन के बहुसंख्यक उल्लेख पाये जाते हैं।

६. हर्ष की मृत्यु—बड़ी योग्यता और मान के साथ हर्ष ने बयालीस वर्ष तक शासन किया। ६४८ ई० में उसका देहांत हुआ। उसके कोई पुत्र न था। ऐसा मालूम होता है कि हर्ष के अंतिम वर्षों में उसकी अधिक धार्मिकता और दान-बाहुल्य से उसका शासन शिथिल हो गया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके मन्त्री अरुणाश्व अथवा अर्जुन ने राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। यह बात हर्ष की प्रजा और उसके राजनैतिक मित्र चीन-सम्राट को प्रिय न थी। चीनी दूत-मण्डल को अरुणाश्व ने बहुत तंग किया और उसके सैनिकों में से बहुतों को मार डाला। इससे क्रुद्ध होकर उसके नेता वैंग-हुयेन-से ने नेपाल और तिब्बत की सहायता से अरुणाश्व को बन्दी बना कर चीन-सम्राट को समर्पित कर दिया। यह निश्चित रूप से मालूम

नहीं कि हर्ष के ठीक बाद कान्यकुब्ज साम्राज्य का क्या हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि यह छिन्न-भिन्न हो गया और कान्यकुब्ज-राज्य फिर मौखरियों के हाथ में चला गया। हर्ष के साथ ही भारतीय इतिहास का साम्राज्यवादी काल समाप्त हो गया। देश की राजनैतिक एकता जाती रही। विकेन्द्री-करण की प्रवृत्तियां फिर प्रबल हुईं और सारा भारत छोटे छोटे प्रांतीय राज्यों में बँट गया।

# सोलहवाँ अध्याय

## विकेन्द्रीकरण : प्रांतीय राज्य

पिछले अध्याय के अन्त में यह बात कही गयी है कि हर्ष की मृत्यु के साथ भारत के साम्राज्यवादी इतिहास का अन्त हो गया। इसके पहले इस देश के शक्तिशाली और दूरदर्शी राजाओं के सामने भारत में एकछत्र सार्वभौम राज्य का आदर्श बना रहता था। इसका परिणाम यह होता था कि बहुत से अवसरों पर एक राजनैतिक सत्ता के अन्तर्गत देश केन्द्रित और संगठित हो जाता था; उसकी शक्ति और समृद्धि बढ़ जाती थी। परन्तु हर्ष की मृत्यु के समय केन्द्रीकरण की प्रवृति शिथिल पड़ गयी और भारत की राजनैतिक एकता जाती रही। उत्तर भारत में कान्यकुब्ज-साम्राज्य का पतन हुआ और दक्षिण में चालुक्य-साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी और भारत कई भागों में विभक्त हो गया। जो नये राज्य बने वे प्रान्तीय थे; उनमें सार्वदेशिक होने की क्षमत्ता नहीं थी। यह देश की सबसे बड़ी राजनैतिक दुर्बलता थी और विदेशी आक्रमणों के समय इसका स्पष्ट प्रदर्शन हुआ।

## अ. उत्तर भारत

### १. पश्चिमोत्तर

(१) सिन्ध—हर्ष के मरने पर पश्चिमोत्तर भारत में जो पहला राज्य स्वतंत्र हुआ वह सिन्ध था। हुयेन-संग के अनुसार हर्ष के समय में एक शूद्र-वंशी राजा शासन करता था जिसकी राजधानी एलोर (आधुनिक रोरी के पास) थी। इस वंश के राजाओं की उपाधि राय थी। हर्ष के बाद चार पीढ़ी तक इस वंश का राज्य रहा। अंतिम राजा साहसी नामक था। उसकी मृत्यु पर चच नामक ब्राह्मण-मन्त्री ने राज्य पर अधिकार कर लिया। इसके समय में सिन्ध राज्य का काफी

विस्तार हुआ। चच के पुत्र दाहिर के समय में सिन्ध के ऊपर अरबों ने ७१२ ई० में आक्रमण किया।

**इसलाम का उदय और सिन्ध के ऊपर अरब आक्रमण**—जिस समय भारतवर्ष में हर्ष और पुलकेशी (द्वितीय) शासन कर रहे थे, उसी समय अरब में इसलाम के रूप में एक नई शक्ति का उदय हुआ इसके पहले अरब के निवासी कई जातियों में बँटे हुये थे: जो आपस में लड़ा करते थे; उनमें अज्ञान बहुत था और वे जड़-पदार्थों और देवी-देवताओं को पूजते थे। ५७१ ई० में हजरत मुहम्मद का मक्का नामक स्थान में जन्म हुआ। उनको ऐसा भान हुआ कि ईश्वर की ओर से उन्हें सच्चे धर्म की प्रेरणा हुई है। इसलिये वे अपने को ईश्वर का पैगम्बर (दूत) कहते थे। उन्होंने ईश्वर की एकता (तौहीद) और उसके मानने वाले सभी मनुष्यों की समता का उपदेश दिया। उन्होंने अल्लाह (ईश्वर) और उसके पैगम्बर को न मानने वाले को काफिर (अपराधी) बतलाया। इस नये धर्म का नाम इसलाम (शांति) था और उसमें विश्वास करने वालों को मुसलमान कहते थे। इस धर्म के उपदेशों ने अरबों में एक अपूर्व शक्ति और साहस का संचार कर दिया। पहले हजरत मुहम्मद का विरोध हुआ और उन्हें मक्का छोड़कर मदीना ६२२ ई० में भागना पड़ा। इस घटना को हिजरत (पलायन) कहते हैं और हिजरी सन् इसी समय से प्रारम्भ हुआ। परन्तु थोड़े ही दिनों में इसलाम का प्रभाव सारे अरब में छा गया। ६३२ ई० में हजरत मुहम्मद का देहान्त हुआ। इसके बाद अबू बकर, उमर, उस्मान और अली नामक चार खलीफाओं ने इस्लाम-धर्म और उसकी राजनैतिक शक्ति का प्रसार किया। आसपास के देशों पर बिजली की तरह इसलाम की सत्ता स्थापित होने लगी। खलीफा उमर के समय (६३४—४३ ई०) में पूरब के देशों की तरफ इसलाम की शक्ति फैलने लगी। अरबों ने ६३६—३७ में ईरान के पारसी राजा यज्दगुर्ज को हरा कर ईरान पर अपना अधिकार कर लिया। बहुत से लोग बलात् मुसलमान बनाये गये; कुछ लोग वहां से भागकर भारतवर्ष में चले आये जो पारसी कहलाते हैं। बहुत शीघ्र बलोचिस्तान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में इसलाम फैल गया और उन देशों की प्राचीन संस्कृति और राज्य नष्ट हो गये।

सबसे पहले खलीफा उमर के समय में कोंकण के तट पर अरबों के सामुद्रिक हमले हुये, परन्तु चालुक्यों की सेना ने उनको बुरी तरह से हराकर भगा दिया। दूसरे सामुद्रिक आक्रमणों में भी अरब परास्त हुये। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरबों की बढ़ती हुई शक्ति को स्थल के रास्ते सिन्ध पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। सिंहल का राजा जिस जहाज से खलीफा के लिये उपहार भेज रहा था वह सिन्ध के बन्दरगाह देवल पर लुट गया। खलीफा के पूछने पर सिन्ध के राजा दाहिर ने सन्तोषजनक उत्तर न दिया। इसलिये ७१०-११ ई०में मकरान के रास्ते और समुद्र-तट से एक नौजवान सेनापति मुहम्मद-इब्न-कासिम के नेतृत्व में देवल पर अरब-आक्रमण शुरू हुआ। दाहिर युद्ध के लिये तैयार न था। सिन्धु नदी के पश्चिम का सारा प्रान्त छोड़ कर वह उसके पूरब भाग आया। सिन्धु के पश्चिमी तट पर अरबों का अधिकार हो गया। उत्तर में दाहिर के भाई ने उनका कड़ा विरोध किया; किन्तु वहां की अधिकांश जनता बौद्ध और युद्ध की दृष्टि से बेकार थी। अतः अंत में वहाँ भी अरब विजयी हुये। सिन्धु नदी के पूरबी तट को दाहिर के बेटे जयसिंह ने घेर रखा था। नदी के बीच में एक टापू था। यहां का मुखिया अरबों से मिल गया और उनको सिन्धु के पूरबी तट पर उतार दिया। इसके अतिरिक्त सिन्ध के जाटों और मेड़ों ने भी, जो दाहिर के शासन से असंतुष्ट थे, अरबों का साथ दिया। दाहिर वीरता से लड़ा, किंतु आंतरिक असंतोष और बाहरी सहायता के अभाव के कारण वह हार कर मारा गया। उसकी स्त्री ने भी एक छोटी सी सेना लेकर सामना किया, परन्तु अन्त में जौहर करके जल मरी। इसके बाद अरबों ने सिन्ध के प्रधान नगर बह्मनाबाद, एलोर (राजधानी) और आगे बढ़ कर मुलतान पर अधिकार कर लिया।

**अरबों की प्रसार-नीति और उसका प्रतिरोध**—खलीफा हिशाम के समय ( ७२४-४३ ई० ) में उसके सिन्ध प्रांत के शासक जुनैद ने, प्रसार नीति का अनुसरण करते हुये, भनिमाल ( दक्षिण-पश्चिम राजपूताना ) लाट ( गुजरात ) और उज्जैन ( अवन्ति ) के गुर्जर-प्रतिहार राज्यों पर आक्रमण किया। अवन्ति के प्रतिहार राजा प्रथम नागभट ने अरबों को हराकर पीछे ढकेल दिया। यद्यपि प्रतिहार राजाओं ने दाहिर की सहायता न कर अपनी राजनैतिक अदूरदर्शिता का परिचय दिया,

तथापि उन्होंने अरबों के प्रसार को रोककर वास्तव में भारत के प्रतिहार ( ड्योढ़ीदार ) का काम किया। अरबों ने, खलीफा की शक्ति दुर्बल पड़ जाने पर, सिन्ध को मुलतान, मंसूरा आदि छोटे-छोटे राज्यों में बांट लिया। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में गजनी के तुर्कों ने महमूद के नेतृत्व में सिन्ध के अरब राज्यों का अंत कर दिया। इनके बाद उत्तर सिन्ध में तुर्क और दक्षिण सिन्ध में हिंदू सुमर शासन करते रहे। तुर्कों द्वारा सुमरों का अन्त चौदहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ।

(२) काबुल और पंजाब के शाही-राज्य—ऋषिक-तुषारों अथवा कुषणों के वंशज, उनका साम्राज्य नष्ट हो जाने पर भी, काबुल-घाटी में बने रहे। समुद्रगुप्त के समय में वे दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही कहलाते थे। हुयेन-संग ने सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इनको क्षत्रिय लिखा है, जिसका अर्थ यह है कि इन्होंने पूर्णतः हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया था और वर्ण व्यवस्था में इनको क्षत्रिय का स्थान मिल गया था। अलबरूनी इनको तुर्की शाही कहता है। इस वंश के राजा सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक बराबर अरबों से लड़ते रहे और उनके प्रसार को रोकते रहे। इस वंश का अंतिम राजा लगतुमान था जिसको गद्दी से हटाकर उसका ब्राह्मण-मंत्री कल्लर राजा बना।

कल्लर ने जिस वंश की स्थापना की उसको अलबरूनी तुर्कों से भिन्न करने के लिये हिन्दूशाही (भारतीयशाही) कहता है। अलबरूनी के अनुसार कल्लर के बाद सामन्द (सामन्त), कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरोजनपाल ( त्रिलोचनपाल ) और भीमपाल ने शासन किया। इनमें से कई एक की ऐतिहासिकता सिक्कों से सिद्ध होती है। राजतरंगिणी से भी इन शाही राजाओं के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, यद्यपि उनके नामों में कुछ भिन्नता आजाती है, जैसे कल्लर को लल्लिय और कमलू को तोरमाण कहा गया है। ८७०-७१ ई० में अरबों ने शाही राजाओं की राजधानी उदभाण्डपुर ( काबुल-घाटी में स्थित) पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् शाहियों ने पूर्वी पंजाब में भटिंडा को अपनी राजधानी बनाया। जयपाल के समय से गजनी के तुर्कों ने शाही राज्य पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ

कि अफगानिस्तान में शाही सत्ता नष्ट हो गयी। जयपाल ने काबु
घाटी को वापस लेने के लिये उस पर आक्रमण किया, किंतु उसे
कर सुबुक्तगीन के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। इस स
की शर्तों को तोड़ने पर सुबुक्तगीन ने पंजाब पर आक्रमण किया। ज
पाल ने भी दिल्ली, अजमेर, कालंजर और कन्नौज के राजाओं को नि
त्रित कर एक सैनिक संघ बनाया। यह संघ दृढ़ नहीं हो सका अ
लमगान (जलालाबाद) की सीमा पर यह तुर्कों से हार गया। जयप
के ऊपर १००१ई० में सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद ने आक्रमण किया अ
उसको हराया। जयपाल आत्मग्लानि से चिता लगा कर उस पर
मरा। उसके बाद उसका लड़का आनन्दपाल गद्दी पर बैठा। इ
समय में भी महमूद के आक्रमण जारी रहे। अपने पिता की त
आनन्दपाल ने भी १००८ में हिंदू राजाओं का एक संघ बनाया, पर
तुर्कों के सामने इस बार भी यह संघ विफल हुआ। आनन्दपाल
पुत्र त्रिलोचनपाल और उसका पुत्र भीमपाल दोनों तुर्कों से युद्ध क
हुये क्रमशः १०२१ ई० और १०२६ ई० में मारे गये। इसका फल
हुआ कि पश्चिमी पंजाब तुर्कों के हाथ में चला गया, लाहौर में यामि
वंश की स्थापना हुई और भारत के लिये विदेशी आक्रमण का
स्थायी संकट उपस्थित हो गया।

(३) काश्मीर—काश्मीर का पुराना इतिहास बहुत स्पष्ट न
है। प्राचीन बड़े-बड़े साम्राज्यों के अंतर्गत होते हुये भी अपनी भौ
लिक स्थिति के कारण काश्मीर भारतीय इतिहास की मुख्य धारा
अलग रहा। गोनन्द-वंश के अंत होने पर सातवीं शताब्दी के प्रा
में काश्मीर में कार्कोटक-वंश (नागवंश) की स्थापना हुई। इसका सं
पक दुर्लभवर्धन हर्षवर्धन का समकालीन और उसका प्रधान मित्र
यह शक्तिमान राजा था और सिंहपुर (कटक) उरशा (हजारा) अ
राजपुर (राजौरी) के राजा इसके सामन्त थे। दुर्लभवर्धन के
उसका प्रतापी पुत्र ललितादित्य मुक्तापीड (७२४-७६० ई०) बड़ा प्रत
और विजयी राजा हुआ। उसकी दिग्विजय का वर्णन राजतरंगिणी
मिलता है। पहले उसने पंजाब को जीता। इसके बाद कन्नौज के
यशोवर्मन से उसका युद्ध हुआ और उसके राज्य के पश्चिमी भाग
छीन लिया। उसने गौड, तुषारदेश (आक्सस का उपरला भा

और दरददेश (आधुनिक काश्मीर का उत्तरी भाग) पर आक्रमण किया। भौटों के देश (भूटान और तिब्बत) में भी उसकी सेनायें पहुंची। चीन के सम्राट हुयेन-संग के साथ उसका दौत्य-सम्बन्ध था। इस समय मध्य-एशिया में अरबों का आक्रमण हो रहा था। इसमें तिब्बत वालों ने अरबों का साथ दिया। अतः स्वाभाविक था कि चीन और भारत की इस समय की मैत्री अरबों और तिब्बतियों के विरोध में होती। ललितादित्य प्रसिद्ध विजेता होने के अतिरिक्त कला को भी प्रश्रय देने वाला था उसने बहुत से बौद्ध-विहार और हिन्दू-देवताओं—शिव और विष्णु—के मंदिर बनवाये, जिनमें सबसे प्रसिद्ध सूर्य का मार्तण्ड-मंदिर था। ललितादित्य के बाद इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा उसका पोता जयापीड विनयादित्य था। उसने भी मध्यदेश, उत्तरी बंगाल और नेपाल पर आक्रमण किया। वह विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता था। उसकी राज-सभा में उद्भट, वामन् दामोदरगुप्त आदि प्रसिद्ध लेखक रहते थे। लगातार युद्धों के कारण उसका कोष खाली हो गया था, इसलिये अपने शासन के अंतिम दिनों में प्रजा का शोषण किया। धीरे-धीरे कर्कोटवंश दुर्बल होता गया और नवीं शताब्दी के मध्य में इसके स्थान पर उत्पल-वंश की स्थापना हुई।

उत्पल वंश के संस्थापक अवन्तिवर्मन ने व्यर्थ की लड़ाइयों में अपनी शक्ति नष्ट न कर देश के शासन-सुधार, आर्थिक विकास और प्रजा की भलाई में अपनी शक्ति का उपयोग किया। सब से पहले उसने देहातों में उत्पात करनेवाले डामर-उपाधिधारी सामन्तों को दबाया। उसके कर्म-सचिव सुय्य ने सिंचाई के लिये कई नहरें बनवाईं और वितस्ता (झेलम) के रास्ते को बदल कर बाढ़ से उस प्रदेश की रक्षा की। उसने सुय्यपुर (वर्तमान सोपुर) नामक नगर भी बसाया। इन सबका फल यह हुआ कि काश्मीर धन-धान्य से समृद्ध हो गया। अवन्तिवर्मन् ने बहुत से देवालय बनवाये और ब्राह्मणों को पुष्कल दान दिया। उसके दरबार को ध्वन्यालोक के लेखक आनन्दवर्धन आदि विद्वान् अलंकृत करते थे। अवन्तिवर्मन की मृत्यु ८८२ ई० में हुई। उसके पुत्रों में राज्याधिकार के लिये गृह-युद्ध हुआ। जिसमें शंकरवर्मन् को सफलता मिली। उसने अवन्तिवर्मन की शान्तिप्रिय रचनात्मक नीति का त्याग कर युद्ध-नीति को अपनाया। उसने दर्वाभिसार

(झेलम और चिनाव के बीच का भाग), त्रिगर्त (कांगड़ा) और गुर्जर-राज्य पर आक्रमण किया। इन लड़ाइयों के कारण उसका कोष खाली हो गया। उसने प्रजा पर अनुचित कर लगाया और यहाँ तक कि मंदिरों और धर्मोत्सवों से भी कर वसूल किया। शंकरवर्मन के पुत्र गोपालवर्मन के समय में उसके मंत्री प्रभाकरदेव ने काबुल-घाटी के शाही राजा सामन्तदेव को हराया और उसको अपदस्थ करके तोरमाण (कमलू) को गद्दी पर बैठाया। गोपालवर्मन की मृत्यु (९०४ ई०) के अनन्तर उत्पल-वंश का शासन-प्रबन्ध बिगड़ता गया। तंत्री और एकांगी नामक सैनिक अधिकारियों के अत्याचार से प्रजा पीड़ित थी और राजा स्वयं विलासी और लोभी होने के कारण जनता को बचा नहीं सकते थे। पार्थ नामक बालक राजा के शासन-काल (९१७-१८ ई०) में बहुत बड़ा अकाल पड़ा। दरिद्र-प्रजा में से लाखों लोग भूख के मारे मर गये, जब कि मंत्रियों, तंत्रियों और बनियों ने बहुत महँगा अनाज बेच कर खूब धन कमाया। इसके बाद उत्पलवंश का प्रसिद्ध राजा उन्मत्तावन्ति (९३७-९३८ ई०) हुआ। उसका उन्मत्त नाम उसकी दुष्टता का द्योतक था। उसने जयेन्द्र नामक बौद्ध विहार में अपने बूढ़े बाप को मार डाला और अपने सभी सौतेले भाइयों को अन्न-जल के बिना तड़पा कर यमलोक सिधरवाया। उसके पागलपन की पराकाष्ठा उस समय पहुँचती थी जब वह स्त्रियों के गर्भ को काट कर तमाशा देखता था। प्रजा के भाग्य से उसका शासन-काल छोटा था और उसके पुत्र सूरवर्मन के अत्यन्त संक्षिप्त शासन के बाद ९३९ ई० में उत्पल-वंश का अन्त हुआ।

उत्पलवंश के अन्त पर काश्मीर के ब्राह्मणों ने प्रभाकरदेव (गोपालवर्मन के मंत्री) के पुत्र यशःकर को राजा चुना। उसके योग्य और उदार शासन में प्रजा को शांति और सुख मिला। परन्तु शीघ्र ही उसके मंत्री पर्वगुप्त ने राज्य पर अधिकार जमा लिया। इस वंश की सबसे प्रसिद्ध शासका दिद्दा नाम की रानी थी जिसका लम्बा भ्रष्टाचार पूर्णशासन (९५३-१००३ ई०) काश्मीर के ऊपर बना रहा। उसके भतीज संग्राम के शासन (१००३-२८ ई०) के समय महमूद गजनी ने काश्मीर के ऊपर आक्रमण किया, किन्तु भौगोलिक कारणों से उसकी सेना बिना विजय किये काश्मीर से लौट आयी। ग्यारहवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काश्मीर का इतिहास कलश और हर्ष जैसे राजाओं के समय में अव्यवस्था, विलासिता, अत्याचार, शोषण आदि का इतिहास है। संग्राम के समय जो राजवंश स्थापित हुआ था वह किसी प्रकार १३३९ ई० तक बना रहा। यह शासन बहुत दुर्बल और अप्रिय था। १३३९ ई० में एक स्थानीय मुसलमान ने, जो संभवत: थोड़े दिन पूर्व मुसलमान हुआ था, 'श्री मंसदिन' (शमसुद्दीन) की उपाधि धारण कर एक नये मुसलिम राजवंश की स्थापना की। परन्तु इसके समय में भी हिन्दू संस्कृति और संस्कृत भाषा की प्रधानता रही।

(४) नेपाल—हिमालय के अंचल में बिहार और संयुक्त प्रान्त की उत्तरी सीमा पर सिक्किम और कुमाऊँ के बीच लगभग पाँच सौ मील लम्बा नेपाल का राज्य फैला हुआ था। यद्यपि यहाँ की प्रजा में किरात-रक्त का काफी मिश्रण है किन्तु राजनैतिक और भौगोलिक दृष्टि से भारत से इसका अधिक सम्बन्ध रहा है। बहुत प्राचीन इतिहास तो इनका धुँधला है किन्तु अशोक मौर्य के समय से प्रसिद्ध भारतीय साम्राज्यों में—मौर्य, गुप्त, पुष्यभूति आदि में—नेपाल शामिल होता रहा। स्थानीय परम्परा के अनुसार छठवीं शताब्दी के पहले यहाँ आभीर, किरात, सोमवंश और सूर्यवंश का राज्य रहा। अंतिम राजवंश लिच्छवियों का ही था। उसके अंतिम राजा शिवदेव के मंत्री अंशुवर्मन ने ठाकुरी वंश की स्थापना की। उसने ५९५ ई० में ठाकुरी संवत् का प्रवर्तन किया। अंशुवर्मन हर्ष का करद अधीन राजा था और उसी के समय में नेपाल में हर्ष-संवत् का प्रवेश हुआ। तिब्बत के साथ भी उसका मैत्री-सम्बन्ध था और वहाँ के राजा स्रांग-सैन-गैम्पो से उसने अपनी लड़की व्याही थी। थोड़े दिनों के बाद नेपाल में लिच्छवि-वंश का प्रत्यावर्तन हुआ और ८७९-८० में एक नये संवत् का प्रवर्तन हुआ। बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कई राजा नेपाल में शासन करते रहे, किन्तु उनके सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण बात मालूम नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कि नेपाल का अच्छा व्यापार भारत, तिब्बत और चीन के साथ इन दिनों चलता रहा। इस शताब्दी के मध्य में तिहुँत के कर्णाट राजा नान्यदेव ने नेपाल पर अपना आधिपत्य जमाया। इसके बाद नेपाल के इतिहास में १७६८ ई० तक कोई विशेष घटना नहीं हुई। इस समय वर्तमान राणा-वंश की स्थापना नेपाल में हुई।

# २ मध्यदेश

## १. कान्यकुब्ज (कन्नौज) का राज्य

(क) मौखरी-वंश—हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कान्यकुब्ज का इतिहास लगभग ७५ वर्ष तक अन्धकारमय है। जिस तरह छठवीं शताब्दी के प्रथम पाद में मालवाधिपति यशोधर्मन भारत के राजनैतिक आकाश में उल्का की तरह चमक उठा था वैसे ही आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यशोवर्मन नामक कान्यकुब्ज का राजा भी। उसके वर्मन नामान्त से मालूम होता है कि वह मौखरी-वंश का ही था। गौडवहो (गौडवध) नाम के प्राकृत काव्य से मालूम होता है कि उसने मगध, वंग, मलय, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, मरु, पंजाब (श्रीकंठ) और हिमालय-प्रदेश के ऊपर दिग्विजय किया था। मगध के ऊपर उसके विजय और शासन की बात तो उसके नालन्द-उत्कीर्ण लेख से सिद्ध हो जाती है और उस समय की राजनैतिक परिस्थिति को देखते हुए ऊपर के प्रदेशों पर उसकी सैनिक-यात्रा भी असंभव नहीं मालूम पड़ती। यशोवर्मन साहित्य और कला का आश्रयदाता था। उसकी सभा में उत्तर रामचरित, महावीरचरित और मालतीमाधव के रचयिता भवभूति, गौडवहो के लेखक वाक्पति आदि रहते थे। यशोवर्मन को काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने युद्ध में हराया। यशोवर्मन की मृत्यु के बाद उसके तीन नाममात्र के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं मालूम है।

(ख) आयुध-वंश—मौखरी वंश के बाद तीन आयुध नामान्त वाले राजाओं—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध—ने ७७० ई० से लेकर ८१६ ई० तक शासन किया। इनमें से पहले के समय काश्मीर के राजा जयापीड ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। दूसरे (इन्द्रायुध) के समय में राष्ट्रकूटों के आक्रमण उत्तर भारत पर हुये। कुछ समय पीछे बंगाल के राजा धर्मपाल ने इन्द्रायुध को गद्दी से उतार कर अपने आश्रित चक्रायुध को राजा बनाया। इस समय मध्यदेश पर आधिपत्य जमाने के लिये पाल, राष्ट्रकूत और प्रतिहारों में त्रिकोणात्मक प्रतियोगिता चल रही थी। अन्त में प्रतिहारों को सफलता मिली। ८१६ ई० में

मालवा के प्रतीहार राजा द्वितीय नागभट्ट ने चक्रायुध को परास्त कर कान्यकुब्ज को अपने अधिकार में कर लिया।

(ग) प्रतीहार-वंश—नागभट्ट (द्वितीय) ने जिस राजवंश की स्थापना कान्यकुब्ज में की वह प्रतीहार वंश था। इस वंश का उदय पहले पहल गुर्जरत्रा ( प्राचीन गुजरात = दक्षिण-पश्चिम राजपूताना ) में हुआ। छठवीं शताब्दी के मध्य में एक रणकुशल महत्वाकांक्षी ब्राह्मण हरिश्चन्द्र ने प्रतीहार वंशी (लक्ष्मण को अपना पूर्वज मानने वाली ) क्षत्रिय-कन्या भद्रा से विवाह किया। उस समय के धर्मशास्त्री नियम के अनुसार भद्रा के पुत्रों द्वारा मातृवर्ण से क्षत्रिय-प्रतीहार-राजवंश की परम्परा चली। उन्होंने उत्तर बढ़कर माण्डव्यपुर (मांडोर) पर अधिकार कर लिया और उत्तर से पुष्यभूतियों के बढ़ाव को रोका। प्रतीहारों ने बहुत शीघ्र सारे गुर्जरत्रा, लाट और मालवा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इनके प्रारम्भिक इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण बात थी सिन्ध में अरबों के विस्तार को रोकना और उनको सिन्ध के भीतर घेर रखना। इस समय वास्तव में उन्होंने भारत के प्रतीहार (ड्योढ़ीदार) का काम किया। मालवा में प्रवेश करने के बाद प्रतीहारों ने मध्यदेश की राजनीति में भाग लेना शुरू किया। इस समय कान्यकुब्ज में आयुध-वंश के दुर्बल राजा शासन कर रहे थे और मध्य-देश पर अधिकार कर लेने के लिये प्रतीहारों, राष्ट्रकूटों और पालों में होड़ शुरू हो गयी। अन्त में प्रतीहारों को ही सफलता मिली और जैसा कि ऊपर कहा गया है मालवा के प्रतीहार राजा द्वितीय नागभट्ट ने कान्यकुब्ज पर अधिकार जमाया और अपनी राजधानी अवन्ति ( उज्जयिनी ) से हटाकर कन्नौज में कर लिया।

द्वितीय नागभट्ट ने चक्रायुध के संरक्षक बंगाल के राजा धर्मपाल को मुंगेर के आसपास हराकर कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार किया था। उसकी इस विजय से भयभीत हो आन्ध्र, सिन्धु, विदर्भ (बरार) और कलिंग (उड़ीसा) के शासकों ने उसकी मैत्री के लिये प्रार्थना की। भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से मालूम होता है कि उसने आनर्त ( उत्तरी-काठियावाड़ ), मालवा, मत्स्य ( पूर्वोत्तर राजपूताना ), किरात (हिमालय प्रदेश ), तुरुष्क ( सिन्ध के अरब ) और वत्स ( प्रयाग के पास कोशाम्बी ) पर विजय प्राप्त की थी। द्वितीय नागभट्ट के पुत्र राम-

भद्र का शासन दुर्बल था और उसके प्रान्तीय सामन्तों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। [ रामभद्र के उत्तराधिकारी मिहिरभोज (८३६--८८५ ई० ) ने बहुत शीघ्र सम्पूर्ण मध्यदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस समय बंगाल के राजा देवपाल की शक्ति दृढ़ होने के कारण पूर्व में मिहिरभोज के राज्य का विस्तार न हो सका परन्तु दक्षिण-पश्चिम में नर्मदा और सुराष्ट्र तक उसका आधिपत्य फैल गया। पश्चिम में पूर्वी पंजाब उसके राज्य में सम्मिलित था। इसके बाद उसने अपने वंश के पुराने शत्रु राष्ट्रकूटों ( द्वितीय ध्रुव धारावर्ष और द्वितीय कृष्ण ) के साथ युद्ध जारी रखा और दक्षिण से आगे नहीं बढ़ने दिया। अरब यात्री सुलेमान ने भोज के साम्राज्य, उसके शासन, उसके राज्य के व्यापार तथा समृद्धि और अश्वारोही सैनिक-बल की बड़ी प्रशंसा की है तथा अरबों और इसलाम का उसको सबसे बड़ा शत्रु लिखा है। मिहिरभोज के पुत्र महेन्द्रपाल (८८५—९१० ई० ) के समय में भी प्रतीहारों की शक्ति प्रबल बनी रही। उसने पूर्व में मगध, उत्तर-विहार और उत्तर बंगाल को पालों से जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु पश्चिम में काश्मीर के राजा शंकरवर्मन के आक्रमण से उसके राज्य का कुछ भाग उसके हाथ से निकल गया। महेन्द्रपाल कवियों और लेखकों का उदार प्रश्रयदाता था और उसकी राजसभा में प्रसिद्ध कवि, नाटककार और रीतिकार राजशेखर रहते थे, जिन्होंने काव्यमीमांसा, कर्पूर मन्जरी, बाल रामायण और बाल-भारत की रचना की थी। महेन्द्रपाल के उत्तराधिकारी महीपाल ( ९१०-९४४ ई० ) के समय में भी राजशेखर जीवित थे और उन्होंने महीपाल को सम्पूर्ण आर्यावर्त का महाराजाधिराज और मुरल, मेकल, कलिंग, केरल, कुलूत, कुन्तल, रमठ आदि प्रांतों का विजेता लिखा है। परन्तु राष्ट्रकूटों के आक्रमण इनके समय में फिर उत्तर भारत पर जारी हो गये और प्रतीहार-शक्ति का पतन महीपाल के अंतिम समय में प्रारंभ हो गया।

महीपाल के समय में ही प्रतीहार-राज्य का ह्रास साफ दिखाई पड़ने लगा यद्यपि उसके पुत्र द्वितीय महेन्द्रपाल ने उसको किसी प्रकार सुरक्षित रखा। इसके बाद देवपाल के समय में जेजाक भुक्ति (बुन्देलखंड) का चन्देल राजा यशोवर्मन प्रायः स्वतंत्र हो गया और उसने

देवपाल से विष्णु की एक बहुमूल्य मूर्ति लेकर खजुराहो के एक मंदिर में उसकी स्थापना की। देवपाल के अनन्तर विजयपाल के समय में प्रतीहारों के कई सामन्त स्वतंत्र हो गये, जैसे गोपाद्रि (ग्वालियर) के कच्छप घाट, डाहल के चेदि, मालवा के परमार, मेवाड के गुहिल, शाकंभरी के चाहमान आदि। दसवीं शताब्दी के अंत में राज्यपाल सिंहासन पर बैठा। इसके समय में पश्चिमोत्तर भारत में गजनी के तुर्कों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। काबुल और पंजाब के शाही राजा जयपाल और उसके पुत्र आनन्दपाल ने तुर्कों का सामना करने के लिये जो संघ बनाया था उनमें राज्यपाल ने भी अपनी सेना भेजी थी; संघ के साथ उसकी सेना भी पराजित हुई। १०१८ ई० में महमूद गज़नी ने पंजाब को आक्रान्त करते हुये कान्यकुब्ज पर चढ़ाई की। राज्यपाल असावधान, निर्बल और आत्मविश्वासहीन था। पहले तो वह गंगा पार करके बारी की तरफ भागा, परन्तु पीछे हार कर उसने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली। मध्यदेश के तथाकथित अधिपति राज्यपाल के कायरतापूर्ण आत्म-समर्पण पर अप्रसन्न हो चंदेल राजा गंड ने अपने युवराज विद्याधर के साथ एक सेना कन्नौज भेजी। विद्याधर ने राज्यपाल को मार कर उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को गद्दी पर बैठाया। महमूद ने इसका समाचार सुनकर फिर अपनी सेना कन्नौज भेजी; त्रिलोचनपाल ने भाग कर अपनी जान बचायी और १०२७ ई० तक जीवित रहा। इस वंश का अंतिम राजा यशःपाल १०३६ ई० में वर्तमान था। इसके बाद प्रतीहारों की शक्ति का मूलोच्छेद हो गया और उनके सम्बंध में कुछ भी मालूम नहीं।

(घ) गहडवाल-वंश—प्रतीहारों के पतन के बाद मध्यदेश में ग्यारहवीं शताब्दी में अराजकता फैल गयी। चेदि के कलचुरि, राष्ट्रकूट और मालवा के परमारों ने कान्यकुब्ज राज्य के ऊपर कई बार आक्रमण किया। १०३३ ई० में पंजाब के तुर्क शासक नियाल्तगीन ने कन्नौज और बनारस के ऊपर धावा मारा। इस प्रकार 'जब अराजकता से पृथ्वी त्रस्त थी, तब इस शताब्दी के अंतिम पाद में गहडवालों का उदय हुआ। वे प्राचीन प्रतिष्ठान अथवा कौशाम्बी के चन्द्रवंशियों की संतान थे और इस समय मिर्ज़ापुर की पहाड़ियों (गुहाओं) के प्रदेश में राजनैतिक शक्ति के रूप में प्रकट हुये; अतः गहडवाल (गुहा वाले)

कहलाये।

गहड़वालों का प्रथम राजधानी वाराणसी थी। इनके राजा चन्द्रदेव ने अपने राज्य का विस्तार पश्चिम की ओर करते हुये कान्य-कुब्ज के राजा गोपाल को लगभग १०८५ ई० में हराया और कन्नौज पर अधिकार कर लिया। उसने काशी, कोसल (अयोध्या), कुशिक (कन्नौज) और इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) की (तुर्कों से) रक्षा की। इस प्रकार प्रायः सम्पूर्ण वर्तमान युक्तप्रांत पर उसका अधिकार स्थापित हो गया। पूर्व में उसने बंगाल के सेनों के बढ़ाव को भी रोका। चन्द्रदेव के पुत्र मदनपाल के राजनैतिक कार्यों के बारे में कुछ विशेष नहीं मालूम है। वह आयुर्वेद का अच्छा ज्ञाता था, परन्तु मदनपाल का लड़का गोविन्दचन्द्र बड़ा प्रतापी हुआ। जब वह युवराज था तभी उसने तुर्कों के आक्रमण को अपनी वीरता से विफल किया। पूर्व में उसने पालों की घटती हुई शक्ति से लाभ उठाकर मगध के पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लिया। मालवा का पूर्वी भाग (दशार्ण) भी उसके राज्य में आ गया। काश्मीर, गुजरात और चोल-राज्य से उसका मैत्री का सम्बन्ध था। विजयी होने के अतिरिक्त गोविन्दचन्द्र दानी, स्वयं विद्वान् और विद्वानों का आदर करने वाला था। उसकी रानी कुमार-देवी बौद्ध थी और उसने सारनाथ में बिहार बनवाया। गोविन्दचन्द्र का पुत्र विजयचन्द्र लगभग ११५४ ई० में राजा हुआ। उसने भी तुर्कों से मध्य देश की रक्षा की। उसके समय में तो गहड़वाल-राज्य सुरक्षित था, किन्तु पश्चिम में चाहमानों ने दिल्ली उससे छीन ली।

विजयचन्द्र के पश्चात् उसका पुत्र जयचन्द्र ११७० ई० में कन्नौज के सिंहासन पर बैठा। वह विजयी, परम वैष्णव और दानी था। उसके पास बड़ी विशाल सेना थी। कहा गया है कि उसने देवगिरि के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को कई बार हराया था। पूर्व में गया तक उसके राज्य का विस्तार था। अपनी विजयों के उपलक्ष में उसने राजसूय-यज्ञ और उस अवसर पर अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर किया। गहड़वालों का चाहमानों से वैर चला आता था। स्वयंवर में पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता के अपहरण से दोनों वंशों की शत्रुता और बढ़ गयी। ११९२ ई० में जब शहाबुद्दीन गोरी ने चाहमानों पर चढ़ाई की तो अपनी पारस्परिक शत्रुता के कारण जयचंद्र ने

देश के परम शत्रु तुर्कों का साथ दिया और सदा के लिये अपयश कमाया। चाहमानों के हराने के बाद शहाबुद्दीन ने ११९४ ई० में कन्नौज पर आक्रमण किया। चंदावर के युद्ध में जयचंद्र परास्त होकर मारा गया। शहाबुद्दीन ने कान्यकुब्ज-राज्य का भंग तो नहीं किया किंतु कन्नौज और बनारस को लूटकर १४०० ऊंटों पर सोना, चांदी और दूसरे बहुमूल्य पदार्थ ले गया। जयचंद्र के सम्बंध में एक बात और उल्लेखनीय है। उसकी सभा में श्रीहर्ष नाम का प्रसिद्ध कवि रहता था, जिसने नैषधचरित और खण्डन-खण्ड-काव्य आदि प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की थी। जयचंद्र की मृत्यु पर उसका बेटा हरिश्चन्द्र गद्दी पर बैठा, परन्तु १२२५ ई० में इल्तुतमश ने कन्नौज पर अधिकार करके गहडवालवंश का अन्त कर दिया।

(ङ) चाहमान-वंश—हर्ष के साम्राज्य के पतन के बाद शाकंभरी ( सांभर ) के आसपास इस वंश का उदय हुआ। सूर्यवंश में उत्पन्न चाहमान नामक विजेता ने इस वंश की स्थापना की, इसलिये यह वंश चाहमान कहलाया। जिन राजपूत-कुलों ने यज्ञाग्नि के सामने अरबों और तुरुष्कों ( तुर्कों ) से देश की रक्षा की शपथ ली थी उनमें चाहमान-वंश भी था, अतः आगे चलकर यह अग्निकुलीय भी कहलाया।

इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं में वासुदेव और गूवक के नाम उल्लेखनीय हैं। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अजयराज नामक चाहमान राजा ने अजयमेरु (अजमेर) नगर बसाकर उसको राजप्रासादों और देवालयों से अलंकृत किया। चाहमानों की शक्ति का विशेष विकास चतुर्थ विग्रहराज वीसलदेव (११५३-६४ ई०) के समय हुआ। उसने उत्तर में बढ़कर गहडवालों से दिल्ली छीन ली और यामिनी और गहडवाल राज्यों के बीच हिमालय-प्रदेश तक अपना अधिकार जमा लिया। वीसलदेव यशस्वी कवि और लेखक भी था। उसने हरकेलि-नाटक और ललित विग्रहराज नामक दो नाटकों की रचना की, जिनके कुछ अंश अजमेर में अढ़ाई दिन का झोंपड़ा नामक मसजिद में लगे पत्थर पर अंकित पाये गये थे। मसजिद भी वीसलदेव द्वारा निर्मित एक भव्य संस्कृत महाविद्यालय को तोड़ कर बनायी गयी थी।

चाहुमान-वंश का सबसे प्रसिद्ध और अंतिम शक्तिमान हिन्दू राजा तृतीय पृथ्वीराज था। उसने ११७६ से लेकर ११६३ तक शासन किया। उसके सम्बंध में वीरता और शृंगार के रोमांच की बहुत सी कहानियां प्रचलित हैं। इसके राज-कवि चन्दबरदायी ने पृथ्वीराजरासो नामक अपभ्रंश महाकाव्य और जयानक ने पृथ्वीराज-विजय नामक संस्कृत काव्य की रचना की। पृथ्वीराज ने प्रचलित प्रथा के अनुसार विजय-यात्रा की और अपनी युद्ध-प्रियता के कारण अपने पड़ोसी राज्यों से शत्रुता मोल ली। कान्यकुब्ज के गहडवाल, जेजाकभुक्ति के चन्देल और गुजरात के सोलंकियों के साथ पृथ्वीराज के युद्ध हुये। स्वयंवर के अवसर पर संयोगिता-हरण ने जयचन्द्र को पृथ्वीराज का कट्टर शत्रु बना दिया। दुर्भाग्य से भारतीय राजाओं की ये आपसी लड़ाइयाँ उस समय हो रही थीं जब कि लाहौर का तुर्क-यामिनी-वंश भारत के भीतर घुसने का प्रयत्न कर रहा था और पीछे नया तुर्क-विजेता शहाबुद्दीन गौरी यामिनी-राज्य को आत्मसात् कर उत्तर भारत पर आक्रमण कर रहा था। तुर्कों ने भारत के इस गृह-कलह से लाभ उठाया। शहाबुद्दीन के नेतृत्व में तुर्कों की बढ़ती हुई शक्ति का पृथ्वीराज (तृतीय) ने सामना किया। हम्मीर-महाकाव्य के अनुसार पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को कई बार हराकर छोड़ दिया। ११६१ ई० में शहाबुद्दीन ने एक बड़ी सेना लेकर उत्तर भारत पर आक्रमण किया। काबुल और पंजाब के शाही राजाओं की तरह पृथ्वीराज ने भी भारतीय राजाओं का सैनिक संघ बनाया। तुर्क और भारतीय सेनाओं की मुठभेड़ तलावरी के मैदान में हुई। तुर्क बुरी तरह हारे। शहाबुद्दीन घायल हुआ और कठिनाई से अपनी जान लेकर भागा। परन्तु इस हार से वह क्षुब्ध रहा और ११६३ ई० में पूरी तैयारी के साथ उसने दुबारा आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने फिर भारतीय राजाओं को सहायता के लिये बुलाया। इस बार कन्नोज के राजा जयचंद ने संघ में सम्मिलित होना ही अस्वीकार न किया किंतु तुर्कों को पृथ्वीराज पर आक्रमण के लिये निमंत्रण भी दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय संघ हार गया। पृथ्वीराज पकड़ा गया और मारा गया। अजमेर और दिल्ली दोनों ही तुर्कों के हाथ लगे। परन्तु शहाबुद्दीन ने अजमेर का राज्य पृथ्वीराज के पुत्र को वार्षिक कर निश्चय करके लौटा दिया।

पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने उसको हटाकर स्वतंत्रता की घोषणा की। इस पर शहाबुद्दीन के सेनापति ने फिर अजमेर पर आक्रमण किया और चाहमान-सत्ता नष्ट हो गयी।

(च) चंदेल-वंश—जहाँ आजकल बुन्देलखण्ड है वहीं पर नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चन्देलों की राजनैतिक शक्ति का उदय हुआ। खजुराहो (खर्जूरवाहक) उनकी राजधानी थी। उत्कीर्ण-लेखों में उनकी दी हुई परम्परा के अनुसार चन्द्रवंश में उत्पन्न चन्द्रात्रेय इनके आदि पुरुष थे; इसीलिये ये चन्देल कहलाये। इस समय इस वंश का सर्व प्रथम राजा नन्नुक हुआ। उसके पौत्र जयसिंह अथवा जेजा के नाम पर यह प्रदेश जेजाकभुक्ति कहलाया। पहले चन्देल राजे शक्तिशाली प्रतीहारों के करद सामन्त थे। पीछे जब प्रतीहारों की शक्ति क्षीण होने लगी तब राजा हर्षदेव चन्देल के समय से चन्देलों की शक्ति जोरों से बढ़नी शुरू हुई। यशोवर्मन ने चेदि, मालवा और महाकोसल पर आक्रमण करके अपने राज्य का विस्तार काफी कर लिया और व्यवहार में वह प्रतीहारों से बिल्कुल स्वतंत्र हो गया, यद्यपि उनका नाम-मात्र का आधिपत्य स्वीकार करता था। इतना ही नहीं, उसने प्रतीहार राजा देवपाल से विष्णु की प्रतिमा खजुराहो-मन्दिर के लिये बलात् उपहार में ली और प्रतीहारों के प्रसिद्ध दुर्ग कालंजर को अपने अधिकार में कर लिया।

यशोवर्मन का पुत्र धंग (९५०-१००२ ई०) बड़ा प्रतापी और विजयी था। उसने अपने शासन-काल में प्रतीहारों के आधिपत्य का पर्दा उतार फेंका और उन पर आक्रमण करके अपनी पूर्ण स्वतंत्रता घोषित की। प्रतिहारों का दूसरा प्रसिद्ध गढ़ गोपाद्रि (ग्वालियर) उसने छीन लिया। ९९८ ई० के एक दान-पत्र से मालूम होता है कि बनारस और उसके आसपास के प्रदेश पर उसका अधिकार हो गया था। धंग के विजयों के फलस्वरूप उसका राज्य पश्चिम में ग्वालियर से पूर्व में बनारस और उत्तर में यमुना-तट से दक्षिण में चेदि और मालवा की सीमा तक फैल गया। शाही राजा जयपाल ने तुर्कों का प्रतिरोध करने के लिये जो संघ बनाया था उसमें धंग ने सक्रिय भाग लिया था। धंग के बाद उसका पुत्र गंड भी शक्तिमान राजा हुआ। उसने भी १००८ ई० में महमूद गज़नी का सामना करने के लिये जयपाल के पुत्र आनंद-

पाल द्वारा बनाये हुये संघ में भाग लिया। दुर्भाग्य से यह दूसरा संघ भी पराजित हुआ। इसके बाद जब प्रतीहार राजा जयपाल ने महमूद का आधिपत्य कायरतापूर्वक स्वीकार कर लिया तब गंड ने अपने पुत्र विद्याधर के द्वारा उसको सिंहासन से हटाकर त्रिलोचनपाल को कान्य-कुब्ज (कन्नौज) का राजा बनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि महमूद ने क्रुद्ध होकर दो बार चन्देलों के ऊपर आक्रमण किया, किंतु लम्बे घेरों के बाद भी उनके दुर्गों पर अधिकार न कर सकने के कारण वापस चला गया।

गंड के बाद दूसरा प्रसिद्ध राजा कीर्तिवर्मा हुआ। इसने अपने पड़ोसी कलचुरियों को, जो उत्तर से तुर्क आक्रमणों से प्रोत्साहित हो चंदेलों को तंग करते थे, अच्छी तरह से हराकर अपनी शक्ति दृढ़ की। इसके सभापण्डित कृष्ण मिश्र ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक लिखा, जिस में रूपक के बहाने वेदांत-दर्शन के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। कीर्तिवर्मा के अनंतर मदनवर्मन् नामक प्रसिद्ध चंदेल राजा हुआ। इसका परमारों (मालवा के) और गुजरात के सोलंकियों से युद्ध हुआ। इसकी शक्ति से आतंकित होकर गहड़वालों ने इसको अपना मित्र बनाया। चन्देल-वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा परमर्दि अथवा पर-मल था। इसके समय में अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज ने चन्देलों पर आक्रमण करके उनको दुर्बल कर दिया था, परन्तु अंत में परमर्दि ने चंदेलों की लड़खड़ाती हुई शक्ति को संभाल लिया। फिर भी उसमें इतनी शक्ति न थी कि वह तुर्कों के बढ़ाव को रोक सके। १२०३ ई० में गहड़वालों की शक्ति नष्ट हो जाने के बाद जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालंजर पर आक्रमण किया, तब परमर्दि ने उसका घोर विरोध किया, किंत अंत में उसे हार खानी पड़ी। इसके बाद तुर्कों का आधिपत्य कालंजर और महोबा दोनों पर हो गया और चंदेलों का छोटा सा राज्य दक्षिण बुन्देलखण्ड में बचा रहा। इस राज्य का अस्तित्व १५६४ ई० तक था जब कि अकबर ने इस पर आक्रमण किया और यहां की राजकुमारी दुर्गावती लड़ती हुई वीर गति को प्राप्त हुई। राजनीति के अतिरिक्त चंदेलों की कृतियों में उनके खजुराहो, कालंजर तथा महोबा के नगरों, कई एक सरोवरों और खजुराहो में भव्य मंदिरों के निर्माण का उल्लेख किया जा सकता है।

(छ) कलचुरि-वंश—चंदेलों के राज्य के दक्षिण में त्रिपुरी (जबलपुर के पास) के कलचुरि प्राचीन हैहय क्षत्रियों के वंशज थे। नवीं शताब्दी के अंत में कोकल्लदेव ने इस राज्य की स्थापना की। इसका चंदेलों, राष्ट्रकूटों, परमारों और प्रतीहारों से वैवाहिक और राजनैतिक सम्बंध थे। इसने अपने राज्य का विस्तार काफी अच्छा कर लिया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा गांगेयदेव था। यह लगभग १०१६ में गद्दी पर बैठा। अपने दिग्विजय में इसने उत्तर कांगड़ा तक आक्रमण किया; प्रयाग और बनारस पर अधिकार करके पूर्व में तीरभुक्ति ( तिहुंत ) तक अपने राज्य को बढ़ाया और दक्षिण में उत्कल ( उड़ीसा ) और कुंतल ( कर्णाटक ) के राजाओं को परास्त किया। इसके उपलक्ष में उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी समय मालवा में भोज के नेतृत्व में परमारों की शक्ति बढ़ रही थी, जिसने कलचुरियों के प्रसार को कुछ समय के लिये रोक दिया। परन्तु गांगेयदेव के पुत्र लक्ष्मीकर्ण ने फिर उत्तर भारत में कलचुरियों की धाक जमा दी। बनारस उसके अधिकार में रहा जहाँ उसने कर्णमेरु नामक शिवमंदिर का निर्माण कराया। उत्तर में उसकी सेनायें भी कीरदेश (कांगड़ा) तक पहुंचीं। बंगाल के पाल राजा और मालवा के भोज को उस ने युद्ध में परास्त किया। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण से चालुक्यों और पश्चिम से परमारों ने कर्ण को दबाया तथा उत्तर से चंदेल राजा कीर्तिवर्मा ने उसे युद्ध में बुरी तरह से परास्त किया। इस के बाद कलचुरियों की शक्ति क्षीण होने लगी। वे किसी प्रकार बारहवीं शताब्दी के अंत तक महाकोसल में शासन करते रहे।

(ज) परमार-वंश—दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब प्रतीहारों का आधिपत्य मालवा में नष्ट हो गया तब वहाँ परमार-शक्ति का उदय हुआ। परमार वीर और युद्धप्रिय दक्षिण के राष्ट्रकूटों के वंशज थे। राजस्थान और उसके आसपास के प्रदेशों में जिन चार क्षत्रिय राजवंशों ने तुर्कों से अपने देश की रक्षा के लिये अग्नि के सम्मुख शपथ ली थी उनमें से परमार भी थे जो आगे चलकर अग्निकुलीय कहलाये। इस शाखा का आदि पुरुष परमार था किंतु राजनैतिक शक्ति के रूप में इस वंश का संस्थापक उपेन्द्र अथवा कृष्णराज था। वह राष्ट्रकूटों का सामन्त था। इसके बाद प्रथम स्वतंत्र और शक्ति-

मान राजा सीयक अथवा श्रीहर्ष था। मान्यखेत के राष्ट्रकूटों से इसका संघर्ष हुआ और खोट्टिग नामक राष्ट्रकूट राजा को हराकर उसकी विपुल सम्पत्ति लूटी। उसने राजस्थान के हूण-वंश को भी युद्ध में पराजित किया।

वास्तव में मालवा में परमारों की शक्ति का उत्कर्ष वाक्पतिमुञ्ज के समय में प्रारम्भ हुआ। उसने दक्षिण के विजयी राष्ट्रकूटों के समान ही श्रीवल्लभ और अमोघवर्ष की उपाधियां धारण कीं। उसने सबसे पहले त्रिपुरी के राजा युवराज (द्वितीय) को पराजित किया। इसके बाद लाट (गुजरात) कर्णाटक, चोल और केरल के राजाओं को युद्ध में हराया। उसकी सबसे प्रसिद्ध विजय कल्याणी के चालुक्य राजा द्वितीय तैलप के ऊपर थी। मेरुतुंग के प्रबंध-चिंतामणि के अनुसार मुञ्ज ने तैलप को छः बार हराया और उसके राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार भी कर लिया। अपने मंत्रियों के मना करने पर भी उसने सातवीं बार गोदावरी को पार कर चालुक्यों पर आक्रमण किया। अब की बार तैलप से पराजित हो वह स्वयं बन्दी बना। भागने के षड्यंत्र में पकड़ा जाकर मारा गया। मुञ्ज विजेता होने के अतिरिक्त स्वयं विद्वान और कवियों तथा लेखकों का आश्रयदाता था। उसकी सभा में परिमलगुप्त, धनञ्जय (दशरूप के लेखक), धनिक, भट्ट हलायुध, अमितगति आदि रहते थे। उसने कई एक सरोवरों और मंदिरों का भी निर्माण कराया। परिमलगुप्त के नवसाहसांक चरित के अनुसार मुञ्ज के बाद उसका छोटा भाई सिंधुराज नवसाहसांक सिंहासन पर बैठा और उसने राजस्थान के हूण-राज्य, दक्षिण, कोसल, लाट और दूसरे पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण किया।

सिन्धुराज के बाद उसका पुत्र भोज (१०१८-१०६० ई०) इस वंश का सबसे लोक-प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने मुञ्ज की विजय-नीति का अवलम्बन किया। सबसे पहले अपने चचा की मृत्यु का बदला लेने के लिये उसने कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य चतुर्थ को परास्त किया। इसके बाद कलचुरि राजा गांगेयदेव को हराया और उत्तर में कुछ समय के लिये प्रतीहारों के कान्यकुब्ज राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। बिहार के पश्चिमी भाग पर परमारों के आधिपत्य के कारण ही आरा और उसके आसपास का प्रदेश भोजपुर कहलाया।

जब गुजरात और सुराष्ट्र के ऊपर तुर्कों का आक्रमण हुआ तब भोज ने उनको वहाँ से भगाया। गुजरात के सोलंकियों पर भी भोज ने कई सफल आक्रमण किये। परन्तु निरंतर युद्ध के कारण कुछ समय बाद भोज की शक्ति कुछ शिथिल पड़ने लगी। चन्देल राजा विद्याधर से युद्ध में भोज को मुंह की खानी पड़ी। अंत में भोज के दो पुराने शत्रु गुजरात के सोलंकियों (चालुक्यों) और त्रिपुरी के कलचुरियों ने परस्पर मैत्री कर एक साथ भोज पर आक्रमण किया। भोज युद्ध में मारा गया और शत्रुओं ने उसकी राजधानी धारा और मालवा को खूब लूटा। भोज की प्रसिद्धि उतनी उसके राजनैतिक विजयों के कारण नहीं थी जितनी उसकी योग्य शासन-व्यवस्था, आदर्शन्याय, पाण्डित्य तथा विद्या और कला को प्रश्रय देने के कारण है। भोज की उपाधि कविराज थी। उसने साहित्य, व्याकरण, धर्म, दर्शन, गणित, वैद्यक, वास्तुकला, कोष आदि पर पुस्तकें लिखीं, जिनमें सरस्वती-कंठाभरण, शब्दानुशासन, युक्तिकल्पद्रुम, समरांगण-सूत्रधार, आयुर्वेद-सर्वस्व आदि प्रसिद्ध हैं। उसने धारा में एक बहुत बड़ा सरस्वती-कंठा-भरण नामक विद्यालय स्थापित किया जो आज तक भोज-शाला कहलाता है, यद्यपि मुसलिम धर्मान्धों ने उसको मसजिद के रूप में बदल दिया। भोज की राज-सभा विद्वानों और कवियों से भरी रहती थी। भोज ने कई एक नगर बसाये तथा भवनों और मंदिरों का निर्माण कराया। उज्जयिनी के अतिरिक्त धारा की शोभा बढ़ा कर उसको परमारों की राजधानी बनाया और वहां से थोड़ी दूर पर भोजपुर नामक नगर भी बसाया। उसकी एक बहुत बड़ी कीर्ति भोज-सागर नामक ताल था जिससे बहुत बड़े भूभाग पर सिंचाई होती थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में मांडू के शाह हुसेन ने उसके बांधों को तुड़वा और ताल को सुखाकर अपनी मूर्खता का परिचय दिया। भोज की मृत्यु से विद्या और कला जैसे निराश्रित हो गयी—अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती। पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते॥

भोज के बाद परमारों की सत्ता क्षीण होने लगी। दक्षिण के चालुक्यों और गुजरात के सोलंकियों से उनका बराबर युद्ध चलता रहा। परमार राजे दुर्बल होते गये। बीच में उदयादित्य ने अपनी शक्ति के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया, परन्तु उसके वंशज फिर पतन की

तरफ जाने लगे। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक किसी प्रकार परमारों का राज्य बना रहा। १३०५ ई० में अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक ऐनुल-मुल्क ने मालवा पर आक्रमण किया और परमारों के राज्य का अन्त हो गया।

## ३. अपरान्त

(क) गुजरात का चालुक्य अथवा सोलंकी-वंश—हर्षवर्धन के समय में सौराष्ट्र और लाट (=गुजरात) पर अधिकार जमाने के लिये उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों ही प्रयत्न कर रहे थे। वहाँ का वलभी राजा ध्रुवसेन पहले दक्षिण के चालुक्य-सम्राट् पुलकेशिन द्वितीय के प्रभावक्षेत्र में था; पीछे हर्ष के प्रभावक्षेत्र में आ गया। इसके बाद इन प्रदेशों के ऊपर प्रतीहारों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। दसवीं शताब्दी के मध्य में जब उनका ह्रास होने लगा तब यहाँ चालुक्य (सोलंकी)-वंश की स्थापना हुई। यह मूलतः दक्षिण के चालुक्यों की एक शाखा में था। चालुक्यों ने अन्हिलवाड या अन्हिलपाटक को अपनी राजधानी बनाया।

इस वंश का पहला राजा मूलराज था जिसने गुजरात में चापोटकवंशी अपने मामा को लगभग ६४१ ई० में मार कर उसके राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। इसके पश्चात् उसने अपने बाहुबल से सारस्वत-मंडल (गुजरात का एक भाग) को अपने अधीन किया। इस विजय से उत्साहित होकर उसने कच्छ के राजा को हरा कर मार डाला और वामनस्थली (=सुराष्ट्र में वनथली) को अधिकृत किया। फिर और उत्तर बढ़कर उसने शाकंभरी के चाहमान राजा से लड़ाई की। मूलराज शैव धर्म का अनुयायी था। उसने बहुत से मंदिरों का निर्माण कराया और ब्राह्मणों को वृत्ति दी। उसका देहान्त ६६५ ई० के लगभग हुआ।

चालुक्य-वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा भीम (प्रथम) हुआ जिसने १०२१ से १०६३ ई० तक राज्य किया। इसके शासन के प्रारंभ में महमूद गजनी का सुराष्ट्र के ऊपर आक्रमण हुआ। वह बहुत तेजी से अन्हिलवाड के मुख्यद्वार पर पहुँचा। भीम उससे भयभीत होकर भाग निकला। इसके बाद महमूद ने अपनी सम्पत्ति के लिये प्रसिद्ध सोम-

नाथ के मंदिर पर चढ़ाई की। इसके रक्षकों ने महमूद का कड़ा सामना किया, किन्तु अन्त में वे हार गये। बहुत से हिंदू मारे गये, मंदिर ध्वस्त और भ्रष्ट हुए। मंदिर की विपुल सम्पत्ति लूट कर भग्न मूर्ति के साथ महमूद गजनी लौटा। मूर्ति का पत्थर वहाँ जामा मसजिद के दरवाजे की सीढ़ियों में लगाया गया, जिससे नमाज पढ़ने वाले उसके ऊपर पैर रख कर जाँय। महमूद के लौट जाने पर भीम ने अपनी शक्ति का पुनरुद्धार और प्रसार किया। पहले उसने आबू के परमार राजा को हराया। जब वह सिंध के ऊपर आक्रमण कर रहा था परमार राजा भोज के सेनापति कुलचंद्र ने अन्हिलवाड को लूटा। इससे क्रुद्ध होकर भीम ने चेदि के कलचुरि राजा लक्ष्मी-कर्ण से मैत्री की और दोनों ने मिल कर मालवा पर आक्रमण किया। इस युद्ध में भोज मारा गया। किंतु चालुक्यों और कलचुरियों की मैत्री स्थायी नहीं रही। मालवा शीघ्र स्वतंत्र हो गया। भीम की लक्ष्मीकर्ण से लड़ाई हुई, जिसमें कलचुरि राजा पराजित हुआ। भीम के पुत्र कर्ण के समय में परमार राजा उदयदित्य ने सौराष्ट्र पर आक्रमण किया। परंतु कर्ण शीघ्र सँभल गया। उसने बहुत से मंदिर और पोखरे बनवाये। और नगर बसाये। उन्हीं नगरों में से एक आगे अहमदाबाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कर्ण का उत्तराधिकारी जयसिंह सिन्धुराज (१०६३-११४३ ई०) बड़ा वीर और विजयी राजा हुआ। उसने नाडोल के चाहमान राजा को हराया और सौराष्ट्र के एक सामन्त चूडासम के राज्य को छीन लिया। इसके बाद उसका ध्यान मालवा की तरफ गया। वहाँ के दुर्बल राजा नरवर्मन् और यशोवर्मन् से अपनी अधीनता स्वीकार करा कर उसने 'अवन्ति-नाथ' का विरुद धारण किया। जयसिंह और पूर्वोत्तर में अपनी शक्ति फैलाना चाहता था किन्तु चन्देल राजा मदन वर्मा ने उसके बढ़ाव को रोका। कलचुरि राजाओं और गहडवालों के साथ जयसिंह का मित्रता का सम्बन्ध था। जयसिंह अपने कुल-धर्म शैव मत का अनुयायी था, यद्यपि और धर्मों को भी वह प्रश्रय देता था। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि उसकी सभा में रहते थे। उसने बहुत से देवालय बनवाये और विद्या तथा कला को आश्रय दिया। जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल (११४४-११७१ ई०) उसी के

समान महत्वाकांक्षी था। उसने शाकंभरी के चाहमान राजा अर्णोराज की सेनाओं को परास्त किया, आबु के परमारों के विद्रोह को दबाया और मालवा के ऊपर चालुक्यों के आधिपत्य को फिर दृढ़ किया। कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन को हरा कर उसने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। कुमारपाल विद्या और कला के प्रश्रय के लिये अपने वंश में सबसे अधिक प्रख्यात था। उसके समय में हेमचन्द्र सूरि जीवित थे जिन्हों ने धर्म, दर्शन, व्याकरणादि विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे। कुमारपाल ने सोमनाथ मन्दिर का भी जीर्णोद्धार कराया। उत्कीर्ण-लेखों में कुमारपाल शैव कहा गया है, यद्यपि मन्दिर का भी जीर्णोद्धार कराया। उत्कीर्ण-लेखों में कुमारपाल शैव कहा गया है, यद्यपि जैन-ग्रंथों में उसको जैन बतलाया गया है। उसने जैन-धर्म के प्रभाव से अपने राज्य में जीव-हिंसा का निषेध कर दिया।

कुमारपाल के बाद गुजरात के चालुक्यों का पतन और उस पर तुर्कों के आक्रमण फिर शुरू हो गये। भोला भीम (११७८ ई०) के समय गोर के तुर्कों ने गुजरात पर आक्रमण किया, परन्तु उन्हें हार कर वापस आना पड़ा। ११९७ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपनी सेना यहाँ भेजा किन्तु उसको स्थायी सफलता न मिली। मालवा के परमारों और देवगिरि के यादवों के आक्रमण से चालुक्यों की शक्ति और शिथिल होती गयी। इसी समय कुमारपाल की एक बहन से उत्पन्न बघेल-वंश में लवणप्रसाद राजा हुआ जिसने दक्षिण गुजरात में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। थोड़े दिनों में अन्हिलवाड के ऊपर भी बघेलों का अधिकार हो गया। तेरहवीं शताब्दी के अंत में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुग-खाँ ने गुजरात पर आक्रमण करके वहाँ हिन्दू-राज्य का अंत कर दिया।

## ४. पूर्वोत्तर

(१) बंगाल का पाल-वंश—हर्ष के समय में उसका समकालीन गौड (बंगाल) का राजा शशांक था। वह बड़ा शक्तिमान् राजा था और उसका आधिपत्य उत्कल और कलिंग तक फैला हुआ था। शशांक की मृत्यु के बाद बंगाल पर हर्ष का आधिपत्य और ६४८ ई० में हर्ष की मृत्यु के बाद आसाम के राजा भास्करवर्मा का आधिपत्य

रहा। इसके पश्चात् बंगाल में अराजकता फैल गयी और कान्यकुब्ज, काश्मीर और आसाम के राजाओं ने इस पर अधिकार जमाने की चेष्टा की। जब बंगाल का प्रदेश इस प्रकार अव्यवस्था से त्रस्त था तब साधारण कुल में उत्पन्न किंतु महत्वाकांक्षी नवयुवक गोपाल ने एक राजवंश की स्थापना की। खालिमपुर ताम्र-पत्र के अनुसार अराजकता से व्याकुल होकर बंगाल की प्रजा ने गोपाल को स्वयं अपना राजा चुना। क्योंकि इस वंश के सभी राजाओं का नामान्त पाल था, इसलिये वह वंश पाल-वंश कहलाया।

गोपाल ने बहुत शीघ्र प्रायः सारे बंगाल और मगध पर अधिकार स्थापित कर लिया। वह बौद्ध-धर्म का मानने वाला था। उसने उदन्त पुर नामक स्थान पर एक विशाल महा विहार बनवाया। उसका लम्बा शासन-काल (७२५-७७० ई०) पैंतालीस वर्ष तक चलता रहा गोपाल का पुत्र धर्मपाल बड़ा विजयी और धार्मिक था। उसने तत्कालीन उत्तर भारत की अराजकता से लाभ उठा कर अपने राज्य की सीमायें खूब बढ़ा लीं। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार उसके राज्य का विस्तार पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में जालंधर और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्या-पर्वत तक था। कान्य-कुब्ज का दुर्बल राजा चक्रायुध धर्मपाल का आश्रित और अधीन था। उत्तर भारत के आधिपत्य के लिये उसको प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों से युद्ध करना पड़ा। पहले उसको सफलता मिली, यद्यपि पीछे प्रतीहारों के उत्थान पर उसको कान्यकुब्ज-क्षेत्र से हटना पड़ा। धर्म-पाल धार्मिक-प्रवृत्ति का तथा विद्या और कला का आश्रयदाता था। उसने भागलपुर के जिले में गंगा के किनारे विक्रमशिला नामक महा-विहार बनाया जो विद्या का एक बड़ा केन्द्र था। लगभग ८१५ ई० में धर्मपाल की मृत्यु पर उसका पुत्र देवपाल सिंहासन पर बैठा। वह पालवंश का सबसे अधिक शक्तिमान राजा था। उसने उड़ीसा को अपने राज्य में मिला लिया तथा आसाम को अपना अधीन राज्य बनाया। प्रतीहार राजा मिहिर भोज की पूर्व में बढ़ती हुई शक्ति को देवपाल ने रोका। उत्कीर्ण लेखों से मालूम होता है कि उसने बड़े भूभाग पर राज्य किया और बरमा, सुमात्रा, जावा आदि पूर्वी देशों से अपना राजनैतिक सम्बन्ध रखा। उसने मुद्गगिरि (मुंगेर) और नालन्दा को कई दान

दिये। उसके समय में नालन्दा महाविहार और विक्रमशिला दोनों ही उन्नत अवस्था में थे। वह अपने पिता और पितामह के समान बौद्धधर्म का अनुयायी था और उसने बहुत से चैत्यों, महाविहारों और संघरामों का निर्माण कराया। कला को उसके समय में प्रोत्साहन मिला। ८५५ ई० के लगभग उसका देहान्त हुआ।

देवपाल का पुत्र नारायणपाल शैव-धर्म का अनुयायी था। उसने हजारों शैव-मन्दिर बनवाये और उनके लिये वृत्तियां दीं। उसके समय में पालों की शक्ति को बड़ा धक्का लगा। प्रतीहार राजा प्रथम महेन्द्रपाल ने मगध और उत्तर बंगाल तथा चन्द्रों ने पूर्वी बंगाल पर अपना अधिकार कर लिया। पर ऐसा मालूम होता है कि अपने शासन के अंतिम काल में उसने प्रतीहारों से उत्तर बंगाल और उत्तर बिहार वापस ले लिया। उसकी मृत्यु ९१० ई० के लगभग हुई। नारायणपाल के पुत्र महीपाल के समय में पाल-शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। उत्तरी बंगाल में किरात-जाति के कम्बोज उपद्रवियों की सत्ता को बराबर के लिए उसने नष्ट कर दिया। उसी के समय में (१०२३ई०) काँची के चोल राजा राजेन्द्र ने बंगाल और बिहार पर आक्रमण किया, परन्तु ये भूभाग शीघ्र ही स्वतंत्र हो गये। दूसरा आक्रमण चेदिराज गांगेयदेव का हुआ, जिसने तिरहुत पर अपना अधिकार कर लिया। महीपाल बौद्ध था। उसने सारनाथ में कई चैत्य बनवाये तथा मूल-गंध-कुटी, धर्मराजिका स्तूप और धर्मचक्र की मरम्मत करायी। महीपाल के बाद उसका पुत्र नयपाल राज्य का अधिकारी हुआ। चेदि राजा लक्ष्मीकर्ण से उसका युद्ध कई वर्षों तक चला। महाबोधि-बिहार के दीपंकर श्रीज्ञान ने दोनों में सन्धि करायी और नयपाल के पुत्र विग्रहपाल का विवाह लक्ष्मीकर्ण की पुत्री यौवनश्री से हुआ। विग्रहपाल के समय में चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने बंगाल और आसाम पर चढ़ाई की। उसके पुत्रों ने उत्तराधिकार के लिये आपस में युद्ध करके पालों की शक्ति को और भी कम कर दिया। पूर्वी बंगाल पूरा वर्मन-राजाओं के हाथ में चला गया और वारेन्द्र में कैवर्तकों के उपद्रव हुये और उत्तरी बंगाल पर कैवर्त द्विव्वोक ने अपना राज्य स्थापित किया।

विग्रहपाल के पुत्रों में रामपाल सबसे शक्तिमान् और प्रसिद्ध था। इसके राजकवि सन्ध्याकर नन्दी ने 'रामचरित' में इसका इतिवृत्त

लिखा है। इसने अपने सामन्तों के उपद्रव को दबाया और अपने मामा राष्ट्रकूट मथन की सहायता से कैवर्त राजा दिव्वोक के पुत्र भीम को मारकर उत्तरी बंगाल वापस लिया। इन विजयों से प्रोत्साहित हो उसने कलिंग और कामरूप पर आक्रमण किया। परन्तु यह पाल-शक्ति के बुझते दीपक की अंतिम लौ थी। पूर्वी बंगाल में सेनों के उदय से पाल धीरे-धीरे उत्तरी बंगाल और बिहार की तरफ खिसकते गये। कुमारपाल के दुर्बल उत्तराधिकारियों में कुमारपाल, गोपाल, मदनपाल के नाम उल्लेखनीय हैं। तेरहवीं शताब्दी के शुरू में तुर्क आक्रमण के समय इस वंश का अंतिम राजा इन्द्रद्युम्न पाल अत्यन्त शक्तिहीन और सामना करने में असमर्थ था।

पालवंश भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध राजवंश था जिसने लगभग चार सौ वर्षों तक शासन किया। पालों के समय में बंगाल एक प्रबल शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। अनेक बिहारों और विद्यालयों का निर्माण कराकर पालों ने शिक्षण और विद्या का प्रसार किया। स्थापत्य और मूर्तिकला को भी पालों ने प्रश्रय दिया और पूरे बंगाल और बिहार में चैत्यों, विहारों और मूर्तियों का निर्माण कराया। अधिकांश पाल राजे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और अपने अंतिम समय में बौद्ध धर्म उन्हीं के आश्रय में पलता रहा।

(२) बंगाल का सेन-वंश—ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में जब कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने बंगाल पर आक्रमण किया तब उसके एक सेनापति सामन्त देव ने उत्तरी उड़ीसा में सुवर्ण-रेखा नदी के किनारे काशीपुरी नामक नगरी में एक राज्य की स्थापना की। सामन्तदेव या सामन्तसेन का वंश सेन-वंश कहलाया। सामन्तसेन कर्णाट-क्षत्रिय थे। इस वंश के राजा ब्राह्मणोचित गुणों से युक्त वैदिक धर्म के संरक्षक थे, अतः यह वंश ब्रह्म-क्षत्र भी कहलाता है। सामन्तसेन और उसका पुत्र हेमन्तसेन दोनों ही सामन्त थे, स्वतंत्र राजा नहीं।

हेमन्तसेन का पुत्र विजयसेन वास्तव में इस वंश का पहला स्वतंत्र और शक्तिमान राजा था। उसने पूर्व की ओर बढ़कर बंगाल पर आक्रमण किया और पालों से दक्षिण और दक्षिण-पूर्व बंगाल छीनकर पूर्वी-बंगाल में विक्रमपुर को अपनी राजधानी बनाया। पालों का ह्रास इस

समय प्रारम्भ हो गया था। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विजय-सेन ने उत्तरी बंगाल भी पालों से जीत लिया। उसने तिर्हुत और कामरूप (आसाम) के राजाओं को भी युद्ध में हराया। विजयसेन ने कलिंग के राजा चोलगंग से मित्रता का सम्बन्ध रखा। उसने लगभग ४० वर्ष तक शासन किया। उसके बाद उसका पुत्र बल्लालसेन राज्य का अधिकारी हुआ। उसने अपने पिता के राज्य को सुरक्षित रखा, परन्तु उसने कोई राजनैतिक विजय नहीं की। उसका शासन-काल बौद्ध-धर्म के स्थान पर ब्राह्म-धर्म या वैदिक-धर्म के प्रचार, जाति-व्यवस्था के सुधार, ऊंची जातियों में कुलीनता के जन्म और शैव-सम्प्रदाय के प्रसार के लिए प्रसिद्ध है। वह विद्वान् भी था और उसने दानसागर और अद्भुत-सागर नामक ग्रन्थों की रचना भी की। वृद्धावस्था में बल्लालसेन प्रयाग चला गया और जीते-जी उसने जल-समाधि ग्रहण की।

बल्लालसेन की मृत्यु के बाद उसके पुत्र लक्ष्मणसेन का जन्म हुआ। वह वंश का अंतिम शक्तिशाली राजा था। (१११६ ई० में उसके जन्म-दिन और शासन के प्रारम्भ से एक संवत् का भी प्रवर्तन हुआ)। अपने शासन के प्रारम्भ में उसने कामरूप (आसाम) और कलिंग पर आक्रमण किया और अपनी विजयों के उपलक्ष्य में तीर्थ-राज प्रयाग और काशी में पुण्यार्थ जयस्तम्भ स्थापित किया। उसने लक्ष्मणावती (लखनौती = गौड) को अपनी राजधानी बनाया। लक्ष्मण-सेन स्वयं विद्वान् तथा विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में गीत-गोविंद के लेखक जयदेव और पवनदूत के रचयिता धोयिक नामक कवि रहते थे। लक्ष्मणसेन के बाद सेनवंश की शक्ति क्षीण होने लगी। उसके पुत्र माधवसेन (लक्ष्मणेय या लखम-निया) के समय में कुतुबुद्दीन के तुर्क सेनापति मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने ११६६ ई० में बंगाल पर आक्रमण किया। मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार माधवसेन कायरतापूर्वक खिड़की के रास्ते भाग निकला और गौड के ऊपर तुर्कों का अधिकार हो गया। इस घटना के बाद सेनवंशी राजा कुछ समय और पूर्वी बंगाल में स्थानीय शासक के रूप में बने रहे।

**(३) कलिंग और ओड्र के राज-वंश**—अपने संकुचित अर्थ में गोदावरी और महानदी के बीच में पूर्वी समुद्र-तट का प्रदेश कलिंग

कहलाता था और उसके उत्तर सुवर्ण-रेखा की घाटी तक का भूभाग ओड्र नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु कभी-कभी वर्तमान पूरा उड़ीसा-प्रांत कलिंग कहा जाता था। इस काल में इन प्रदेशों का इतिहास बड़ा ही अंधकारमय है।

गंगा-वंश—आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कलिंग में गंगा-वंश की स्थापना हुई, जो दक्षिण मैसूर के गंगा-वंश की ही एक शाखा थी। इसकी राजधानी कलिंग पटम ( =मुखलिंगम ) थी। इसका प्रारंभिक इतिहास बाहरी आक्रमणों का इतिहास है। आठवीं शताब्दी में आसाम के राजा श्रीहर्ष और नवीं शताब्दी में पूर्वी चालुक्य राजा विजयादित्य ने इस पर आक्रमण किया। ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में अवन्तिवर्मन चोल-गंगा के समय में इस वंश का उत्कर्ष हुआ। उसने उत्कल या उड़ीसा के राजा को हराया और कहा जाता है कि उसने गोदावरी और गंगा के बीच के प्रदेशों पर राज्य किया। उसने वेंगी के चालुक्य राज्य पर भी चढ़ाई की। बंगाल के राजा विजयसेन के साथ उसका मैत्री का सम्बन्ध था। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार अवन्तिवर्मन ने पुरी के प्रसिद्ध विष्णु-मंदिर का निर्माण कराया। उसके बाद उसका पुत्र राघव अथवा कामार्णव राजा हुआ जिसके समय में विजयसेन और लक्ष्मणसेन ने कलिंग पर आक्रमण किया। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुसलमानों के आक्रमण कलिंग पर शुरू हुये, परन्तु इसका अंतिम पतन सोलहवीं शताब्दी में हुआ।

केशरी-वंश—जिस समय कलिंग में गंगा-वंश की स्थापना हुई उसी समय ओड्र में केशरी-वंश स्थापित हुआ। इसकी राजधानी भुवनेश्वर थी। इस पर भी आसाम और बंगाल के राजाओं के आक्रमण होते रहे। इस वंश के राजाओं के सम्बन्ध में कोई राजनैतिक बात विशेष उल्लेखनीय नहीं है, किंतु धर्म और कला के क्षेत्र में उनकी देन है। केशरी राजा शैव-धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने भुवनेश्वर में बहुत से भव्य मंदिर बनवाये जो अपनी कारीगरी और सजावट के लिये प्रसिद्ध हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में इस वंश के प्रसिद्ध राजा लिंगराज ने एक विशाल मंदिर बनवाया जो आजतक वर्तमान है और अपने मूर्ति-अलंकार के कारण संसार में अद्वितीय है। तेरहवीं शताब्दी में ओड्र-प्रदेश तुर्कों का शिकार बना।

(४) कामरूप ( आसाम ) के राज-वंश—आसाम का प्राचीन नाम कामरूप था, जिसकी राजधानी प्राग् ज्योतिषपुर गौहाटी के आस-पास थी। यहां का हर्ष का समकालीन राजा भास्करवर्मन या कुमार-राज था जो परम्परा के अनुसार उस वंश का था जिसकी स्थापना नरकने बहुत प्राचीन काल में की थी और जिस वंश का राजा भगदत्त महाभारत-युद्ध में कौरवों की तरफ से लड़ा था। भास्करवर्मन् गौड के राजा शशांक से आतंकित रहता था। इसलिये उसने कान्यकुब्ज के सम्राट हर्ष का आधिपत्य और मैत्री स्वीकार की। चीनी यात्री हुयेन-संग उसकी राज-सभा में गया था। हर्षवर्धन के मरने पर उसके सिंहासन अपहर्ता अरुणाश्व को परास्त करने में उसने चीनी राजदूत वांग-हुयेन-से की सहायता की थी। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद उसने गौड(बंगाल) पर अधिकार कर लिया। उसका शासन-काल सातवीं शताब्दी के मध्य तक बना रहा।

भास्करवर्मन् के थोड़े समय बाद शालस्तम्भ नामक एक साह-सिक व्यक्ति ने एक नया राजवंश स्थापित किया जो नवीं शताब्दी में समाप्त हो गया। आठवीं शताब्दी के मध्य में इस नये वंश के श्रीहर्ष नामक राजा ने गौड, ओड्, कलिंग, ( दक्षिण ) कोसल और दूसरे पड़ोस के राज्यों पर विजय प्राप्त की। नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक तीसरे राजवंश की स्थापना हुई। १०५० ई० के लगभग इस वंश के राजा ब्रह्मपाल का पुत्र रत्नपाल शक्तिमान् हुआ। उसका आतंक गुर्जर, गौड, चालुक्य, वाह्लीक (पंजाब) और ताइक( =ताजिक =तुर्क ) राजाओं पर छा गया।' पड़ोसी बंगाल के पाल राजाओं से आसाम का संघर्ष चलता रहा। पाल-राजा देवपाल ( ८१५-८५५ ) ने आसाम पर आक्रमण किया। बारहवीं शताब्दी के मध्य में कुमारपाल ने फिर आसाम पर चढ़ाई की। उसने अपने मंत्री वैद्यदेव को वहाँ का राजा बनाया और आसाम ने कुमारपाल का आधिपत्य स्वीकार किया। इसके पश्चात् शताब्दियों तक आसाम की शक्ति दृढ़ दिखायी पड़ती है। बंगाल के ऊपर तुर्कों का शासन स्थापित होने के बाद भी आसाम स्वतंत्र बना रहा यद्यपि मुसलमानों ने कई बार उस पर आक्र-मण किया। १२०५ ई० में जब मुहम्मद बिन बख्तियार ने तिब्बत पर आक्रमण किया तो आसामियों ने उसके पीछे का महत्वपूर्ण पुल काट

दिया, जिससे प्राय: उसकी सारी सेना भगदड़ में नष्ट हो गयी। तेरहवीं शताब्दी में १२२८ ई० के लगभग आहोम नामक शान-वंशी जाति का राज्य आसाम में स्थापित हुआ जो १८२५ ई० तक बना रहा। आहोमों के ऊपर ही उस प्रान्त का नाम आसाम पड़ा।

आसाम के धार्मिक इतिहास में एक बात की विशेषता है कि यहाँ पर ब्राह्मण या वैदिक-धर्म का प्राधान्य रहा, इस काल में बौद्ध-धर्म इसमें न घुस सका, यद्यपि यह बंगाल तक आ चुका था। हुयेन-संग ने एक भी विहार या संघाराम आसाम में न देखा। यहाँ पर शैव अथवा शाक्त सम्प्रदाय का जोर था और गौहाटी के पास कामाख्या का मंदिर आज भी शाक्तधर्म का एक बड़ा तीर्थ है। शाक्त-धर्म के तांत्रिक स्वरूप का यहाँ बहुत प्रचार हुआ, जिससे यहाँ की जनता के धार्मिक जीवन में तंत्र, मंत्र, जादू, टोना और गुह्य प्रथाओं का प्राबल्य था। आसाम में आनेवाली सभी किरात या मंगोल जातियों ने भारतीय धर्म और संस्कृति अपनाई। उनके ऊपर पहले शाक्त और पीछे वैष्णव-धर्म का विशेष प्रभाव पड़ा।

## आ० दक्षिण भारत (दक्षिणापथ)

दक्षिण भारत में आंध्र-साम्राज्य के भंग होने के बाद उसकी राजनैतिक एकता भी भंग हो गयी। उसके स्थान पर वाकाटक, इक्ष्वाकु, पल्लव, कदम्ब और दूसरे छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुये। वाकाटकों ने मध्यभारत और दक्षिण के अधिकांश पर अपना आधिपत्य जमा कर दक्षिण में एक प्रकार की एकता उत्पन्न की। इसके बाद गुप्त-साम्राज्य ने अपनी सार्वभौम सत्ता से भारत की राजनैतिक एकता में दक्षिण को भी कुछ समय के लिये सम्मिलित कर लिया। गुप्त-साम्राज्य और वाकाटकों के पतन के बाद दक्षिण भारत फिर कई भागों में विभक्त हो गया। चालुक्यों ने थोड़े समय के लिये दक्षिण को एक राजनैतिक सूत्र में बाँधा; परन्तु इस प्रक्रिया में स्थायित्व न आ सका और मुस-लमानों के आक्रमण तक दक्षिण कई राज्यों में बँटा रहा। इनमें से मुख्य राज्यों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

## १. वातापीपुर का चालुक्य-वंश

चालुक्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई एक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। सबके देखने से यही मालूम होता है कि चालुक्यों के पूर्वज उत्तर भारत के किसी क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न हुये थे। वहाँ से वे राजस्थान में आये और गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद जिन क्षत्रिय-कुलों का संगठन वहाँ हुआ, उनमें चालुक्यों की भी गणना थी। राजस्थान से वे दक्षिण कर्नाटक में पहुँचे और लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने एक राजवंश की स्थापना की। इस वंश का पहला राजा जयसिंह था, जिसने राष्ट्रकूटों और कदम्बों से युद्ध करके एक छोटा सा राज्य अपने लिये बनाया। उसके पुत्र रणराग के समय में भी चालुक्य-राज्य की विशेष वृद्धि नहीं हुई। परन्तु छठवीं शताब्दी के मध्य में तीसरे राजा प्रथम पुलकेशिन् के शासन-काल में चालुक्यों की शक्ति का काफी प्रसार हुआ। उसने वातापीपुर (= बादामि बीजापुर जिले में) को जीत कर उसे अपनी राजधानी बनाया और अपनी बढ़ती हुई शक्ति का परिचय देने के लिये अश्वमेध-यज्ञ भी किया। पुलकेशिन् का पुत्र कीर्तिवर्मा बड़ा महत्वाकांक्षी और विजयी था। उसने कोंकण के मौर्यों, वनवासी के कदम्बों और दक्षिण मैसूर के नलों को युद्ध में हराया। उसके मरने पर उसके छोटे भाई मंगलेश ने अपने नाबालिग भतीजे पुलकेशिन् द्वितीय को राजधानी से भगा दिया और स्वयं राजा बन बैठा। उसने पूर्व-पयोधि और पश्चिम-समुद्र के बीच के प्रदेशों को अपनी विशाल सेना से आक्रान्त किया। इसके बाद उसने रत्नागिरि जिले में स्थित रेवती द्वीप को जीता और चेदि-राज्य के कलचुरियों को अपने अधीन बनाया। अपने मरने के पश्चात् वह अपने बेटे को सिंहासन पर बैठाना चाहता था। परन्तु उसका भतीजा पुलकेशिन् द्वितीय 'मंत्र और उत्साह शक्ति से युक्त था' उसने अपने मित्रों की सहायता से मंगलेश का विरोध किया। उत्तराधिकार के लिये मंगलेश का उससे युद्ध हुआ, जिसमें मंगलेश मारा गया और पुलकेशिन् राजा हुआ।

द्वितीय पुलकेशिन्—चालुक्य-वंश का सबसे शक्तिमान् और प्रतापी राजा हुआ। ६०८ ई० में सिंहासन पर बैठ कर उसने श्रीपृथ्वीवल्लभ-सत्याश्रय की उपाधि धारण की। उसके राज्यारोहण के समय

गृहयुद्ध से लाभ उठाकर चालुक्य-वंश के शत्रुओं ने गुट बनाकर आक्रमण किया। पुलकेशिन् ने अपनी योग्यता से सबको मार भगाया। सब से पहले उसने भीमा नदी के किनारे अप्पायिक और गोविन्द (संभवतः राष्ट्रकूट) को हराया। इसके बाद कदम्बों की राजधानी बनवासी पर अधिकार किया तथा मैसूर के गंगों और केरल (मलाबार) के अलूपों को डराया। फिर कोंकण पर आक्रमण कर उसकी राजधानी पुरी (एलिफैंटो द्वीप में स्थित) को जीत लिया। दक्षिण में अपनी शक्ति दृढ़ कर उसने उत्तर की ओर विजय-प्रयाण किया। उसने लाट (दक्षिण गुजरात), मालव और भृगुकच्छ के गुर्जरों को हराया। मध्यभारत और गुजरात के ऊपर हर्षवर्धन और पुलकेशिन दोनों के दाँत गड़े हुये थे। पुलकेशिन् के बढ़ाव को रोकने के लिये हर्ष ने ६२० ई० के लगभग उस पर आक्रमण किया। पुलकेशिन् को हट कर नर्मदा के किनारे आना पड़ा, परन्तु उसने भी हर्ष को नर्मदा पार न करने दिया। हर्ष के पराजय के बाद उसने 'परमेश्वर' और 'दक्षिणापथेश्वर' की उपाधियां धारण कीं। विन्ध्य की शृङ्खलाओं से होते हुये उसने महाकोसल, कलिंग, आंध्र, और कांची के पल्लवों पर आक्रमण किया। जब उसकी सेना कावेरी के किनारे पहुँची तब चोल, पाण्ड्य और केरल के राजाओं ने उससे संधि कर ली। इस प्रकार सारे दक्षिणापथ पर पुलकेशिन् का आधिपत्य स्थापित हो गया। पुलकेशिन् का फारस आदि विदेशों से दौत्य-सम्बन्ध था। उसके दरबार में चीन-यात्री हुयेन-संग गया था जो उसकी शक्ति, उसके प्रति प्रजा की भक्ति और महाराष्ट्रियों के सीधे, स्वाभिमानी और कठोर स्वभाव का वर्णन करता है। चालुक्य-वंश के प्रारंभिक सभी राजा वैदिक धर्म को मानने वाले थे, परन्तु पुलकेशिन् जैन-धर्म का अनुयायी हो गया। वह विद्या और कला का आश्रयदाता भी था। उसकी सभा में प्रसिद्ध लेखक और कवि रविकीर्ति रहता था। उसके समय के गुहा-स्थापत्य और चित्रकला के नमूने अजंता में पाये जाते हैं।

पुलकेशिन् के अंतिम दिनों में ही चालुक्यों का ह्रास होने लगा। पल्लव राजा नरसिंहवर्मन ने ६४२ ई० में वातापी पर आक्रमण कर पुलकेशिन् को हराया। पुलकेशिन इसी युद्ध में मारा भी गया। इस धक्के के बाद ही आन्ध्र में उसके भाई कुब्जविष्णुवर्धन का पुत्र जय-

सिंह, जो वातापी के अधीन था, स्वतंत्र हो बैठा और उसका वंश पूर्वी चालुक्य-वंश कहलाया। पुलकेशिन् के पुत्र प्रथम विक्रमादित्य ने चालुक्य-शक्ति के पुनरुत्थान की चेष्टा की। उसने ६५५ ई० में पल्लवों से अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया। इसी के समय में गुजरात में भी एक चालुक्य-वंश की स्थापना हुई। विक्रमादित्य के बाद विनयादित्य, विजयादित्य, द्वितीय विक्रमादित्य और द्वितीय कीर्तिवर्मन इस वंश के राजा हुये। उनका पल्लवों और दूसरे दक्षिण के राज्यों से बराबर युद्ध होता रहा और चालुक्यों की शक्ति क्रमशः क्षीण होती गयी। आठवीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्रकूटों ने चालुक्य-राज्य का अंत कर दिया, यद्यपि चालुक्य वंश किसी प्रकार बचा रहा और आगे चल कर एक बार फिर राज्य-स्थापित करने में समर्थ हुआ।

## राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूट प्राचीन यादवों के वंशज थे जो उत्तर भारत से आकर दक्षिण में बसे थे और अशोक के समय में रष्ट्रिक अथवा रठिक और आन्ध्रों के समय में महारठी कहलाते थे। वे पहले महाराष्ट्र में रहते थे। परन्तु छठवीं और सातवीं शताब्दी में वे कर्णाटक में सामन्त के रूपमें शासन करते थे, यद्यपि महाराष्ट्र का थोड़ा दक्षिण भाग भी उनके अधीन था। वातापी के चालुक्यों के समय में वे उनके अधीन थे, परन्तु चालुक्य-राजा कीर्तिवर्मा के बाद वे अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में सफल हुये। उन्होंने पहले नासिक जिले में मयूरखंड और पीछे मान्यखेट (हैदराबाद-राज्य में मालखेड) को अपनी राजधानी बनाया।

आठवीं शताब्दी के मध्य में दन्तिदुर्ग नाम के राष्ट्रकूट राजा ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उसने विजयिनी चालुक्य सेना को पराजित कर द्वितीय कीर्तिवर्मन् से वातापी छीन लिया। उसने दक्षिण के और राजाओं को जीत कर दक्षिणापथ के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने मालवा के गुर्जर-प्रतीहार राज्य पर भी चढ़ाई की। दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र न था, इसलिये उसके बाद उसका चचा प्रथम कृष्ण राजा हुआ। उसने चालुक्यों की बची शक्ति को भी नष्ट किया और राष्ट्रकूटों के एक भीषण शत्रु राहप्प को हराया। कृष्ण प्रसिद्ध भवन-निर्माता था उसने इलोरा का प्रसिद्ध कैलास-मंदिर बन-

वाया। यह पर्वत काट कर बनवाया गया है और भारतीय स्थापत्य का अद्भुत उदाहरण है।

प्रथम कृष्ण के बाद ७७२ ई० में द्वितीय गोविंद राजा हुआ। वह बड़ा विलासी और असावधान था। इसलिये उसका भाई ध्रुव-धारावर्ष उसको गद्दी से हटाकर राजा बन बैठा। वह बड़ा विजयी था। उसने गंग-राज्य ( मैसूर में ) को अपने राज्य में मिला लिया और पल्लवों को अधीन बनाया। इसके बाद ध्रुव ने उत्तर भारत की राजनीति में भाग लेना शुरू किया। पहले इसने उज्जयिनी के राजा वत्सराज को हराया; फिर कान्यकुब्ज के राजा इन्द्रायुध को परास्त कर अपने झंडे पर गंगा-यमुना का चिह्न ग्रहण किया; और गंगा-यमुना के दोआब में ही बंगाल के राजा धर्मपाल को परास्त कर उसका छत्र छीन लिया। इन चढ़ाइयों से राष्ट्रकूट अपना राज्य उत्तर भारत में नहीं स्थापित कर पाये, किंतु उनका आतंक सारे देश में छा गया। ध्रुव के तृतीय गोविंद जगतुंग ने दक्षिण में कांची से लेकर उत्तर में मालवा तक अपनी शक्ति और आधिपत्य का प्रसार किया। उसने लाट में अपने भाई इन्द्रराज को राजा बनाकर वहाँ एक राष्ट्रकूट-वंश की स्थापना की। उसने कान्यकुब्ज के राजा चक्रायुध और बंगाल के राजा धर्मपाल को भी युद्ध में पराजित किया।

गोविंद की मृत्यु पर उसका पुत्र प्रथम अमोघवर्ष ८१४ई० के लगभग राजा हुआ। राज्यारोहण के समय वह बालक था और राज्य-भार गुजरात के राष्ट्रकूट-वंश का कर्कराज संभालता था। अमोघवर्ष के शासन के प्रारम्भ में राज्य में उपद्रव और अराजकता रही, परन्तु युवा होने पर उसने स्थिति सुधार ली। वेंगी के चालुक्य-राजा को उसने परास्त किया और दूसरे पड़ोसी राजाओं को अपने वश में किया। उसी के समय में राष्ट्रकूटों की राजधानी मयूरखंड से मान्यखेट में आई। वह दिगम्बर जैन-धर्म का माननेवाला और बड़ा दानी था। आचार्य जिनसेन उसके गुरू थे। अमोघवर्ष के समय दक्षिण में जैन-धर्म का अच्छा प्रचार हुआ। वह स्वयं विद्वान् था। उसने प्रश्नोत्तरमालिका नामक नीतिग्रंथ और रीतिशास्त्र पर कन्नड भाषा में कविराजमार्ग नाम का एक ग्रंथ लिखा। अरबयात्री सुलेमान ( ८५१ ) संसार के चार बड़े राजाओं में उसकी गणना करता है— (१) बगदाद का खलीफा (२) चीन

का राजा। (३) कुस्तुनतुनिया का शासक और (४) वल्हार (= वल्लभ-राय = राष्ट्रकूट)।

प्रथम अमोघवर्ष के बाद उसका पुत्र द्वितीय कृष्णराज सिंहासन पर बैठा। उसके समय में राष्ट्रकूट-शक्ति कुछ दुर्बल हो गयी। कान्य-कुब्ज के प्रतीहार राजा भोज ने मालवा और गुजरात की तरफ राष्ट्र-कूटों को दबाया। गुजरात की राष्ट्रकूट-शक्ति जाती रही। ६१४ ई० में कृष्णराज का पुत्र तृतीय इन्द्र शासनारूढ़ हुआ। वह बड़ा विजयी और प्रतापी राजा था। उसने कान्यकुब्ज के प्रतीहार राजा महीपाल पर आक्रमण किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सुराष्ट्र आदि पश्चिमी प्रांत प्रतीहारों के हाथ से निकल गये। इन्द्र के समय राष्ट्रकूटों का आतंक उत्तर में गंगा से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। उसने परम माहेश्वर की उपाधि धारण की, जिससे मालूम होता है कि वह शैव-धर्म का अनुयायी था। वह ६४६ ई० में चोल राजा राजादित्य के साथ युद्ध में मारा गया। इसके बाद राष्ट्रकूटों की शक्ति का क्रमशः पतन होने लगा। इस वंश के पिछले राजा दुर्बल थे और अपनी गिरती शक्ति का पुनरुत्थान नहीं कर सके। केवल तृतीय कृष्ण के समय उनमें कुछ जागरण दिखाई पड़ता है। अंतिम राष्ट्रकूट राजा द्वितीय कक्क था जिस पर चालुक्य तैलप द्वितीय ने ६७३ ई० में आक्रमण किया और राष्ट्रकूटों के राज्य का अंत कर दिया।

**राष्ट्रकूटों की विदेशी नीति**—राष्ट्रकूट अपने दक्षिण के पड़ोसी राज्यों से बराबर लड़ते ही रहे, परन्तु उनके सबसे बड़े राजनैतिक शत्रु कान्यकुब्ज के गुर्जर-प्रतीहार थे। गुर्जर-प्रतीहारों पर दबाव डालने के लिये उन्होंने अरबों से मित्रता की। राष्ट्रकूट-राज्य में अरबों को न केवल व्यापार की सुविधा थी, परन्तु मसजिद बनाने और अपने कानून बरतने की भी स्वतन्त्रता थी। इससे मुसलमानों ने भारतीयों के विरुद्ध अनुचित लाभ उठाया। देश की दृष्टि से राष्ट्रकूटों की यह नीति अहित-कर थी और इससे उनकी अदूरदर्शिता प्रकट होती है।

## ३. कल्याणी का चालुक्य-वंश

वातापी के अंतिम चालुक्य राजा द्वितीय कीर्तिवर्मन से राष्ट्र-कूट राज्य के ऊपर अधिकार करने वाले द्वितीय तैलप का क्या सम्बन्ध

था, यह बतलाना कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि तैलप प्राचीन चालुक्य-वंश का था और अवसर पाकर फिर चालुक्य-शक्ति के पुनरुद्धार करने में समर्थ हुआ। उसके वंशजों ने आगे चलकर निज़ाम-राज्य में कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया। इसलिये उसके वंशवाले कल्याणी के चालुक्य कहलाते हैं। तैलप ने उत्तर में गुजरात को छोड़ कर प्रायः सम्पूर्ण प्राचीन चालुक्य-राज्य पर अपना अधिकार जमाया। उसका मालवा के परमार-राजा मुञ्ज से कई बार युद्ध हुआ। पहले तो मुञ्ज विजयी होता रहा, परन्तु अपने सातवें आक्रमण में वह तैलप द्वारा बन्दी हुआ और भागने के षड्यंत्र में मारा गया। तैलप के २४ वर्ष के शासन के बाद लगभग ६६७ ई० में उसका पुत्र सत्याश्रय राजा हुआ। उसके समय में चोल राजा राजराज ने चालुक्य राज्य पर आक्रमण करके उसको संकट में डाल दिया। परन्तु सत्याश्रय थोड़े ही समय में संभल गया। उसके बाद उसका भतीजा पंचम विक्रमादित्य सिंहासन पर बैठा। परमार राजा भोज ने अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिये कल्याणी पर आक्रमण किया और दक्षिण पर अपना अधिकार जमाना चाहा। किन्तु विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी द्वितीय जयसिंह जगदेवमल्ल ने उसकी योजना को विफल कर दिया। जयसिंह का पुत्र प्रथम सोमेश्वर आहवमल्ल इस वंश का एक शक्तिमान् राजा हुआ। उसने चोल राजा राजाधिराज पर आक्रमण कर उसे मार डाला। इसके पश्चात् मालवा, कांची और चेदि के राजा सोमेश्वर की सेना से परास्त हुये। उसके पुत्र छठवें विक्रमादित्य ने मिथिला, मगध, अंग, गौड आदि प्रदेशों पर सफल आक्रमण किया, परन्तु कामरूप से मुंह की खाकर उसे लौटना पड़ा। सोमेश्वर ने कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया। सोमेश्वर आहवमल्ल के पुत्र द्वितीय सोमेश्वर भुवनैकमल्ल के ८ वर्षीय छोटे और अयोग्य शासन के बाद कल्याणी के चालुक्यों में सबसे प्रसिद्ध राजा छठवाँ विक्रमादित्य अथवा विक्रमाङ्क त्रिभुवनमल्ल १०७६ ई० में सिंहासन पर बैठा और चालुक्य-विक्रम-संवत् चलाया। वह अपनी सैनिक प्रतिभा का परिचय अपने पिता और भाई के शासन-काल में दे चुका था। शासनारूढ होने पर उसने दक्षिण में चोल, होयसाल, और वनवासी के शासक अपने छोटे भाई जयसिंह को परास्त किया। उत्तर में परमारों से

उसकी मैत्री थी, किंतु सुराष्ट्र के चालुक्यों से उसका युद्ध होता रहा। सफल योद्धा होते हुये भी विक्रमाङ्क ने अपना अधिक समय और साधन विद्या और कला की सेवा में लगाया। उसकी राजसभा में विक्रमाङ्कदेव-चरित का लेखक काश्मीरी पण्डित बिल्हण और याज्ञवल्क्य-स्मृति के ऊपर 'मिताक्षरा' नामक प्रसिद्ध टीका के रचयिता विज्ञानेश्वर रहते थे। उसने बहुत से भवनों और देवालयों का भी निर्माण कराया। ५० वर्ष के लम्बे शासन के बाद ११२६ ई० में उसका देहान्त हुआ।

विक्रमाङ्क के बाद चालुक्य-वंश का ह्रास प्रारम्भ हो गया। उसका पुत्र तृतीय सोमेश्वर विद्वान था और उसने मानसोल्लास नामक ग्रंथ लिखा, परन्तु उसकी राजनैतिक ख्याति नहीं के बराबर थी। सोमेश्वर के पुत्र द्वितीय जगदेकमल्ल ने अपनी सैनिक शक्ति का परिचय दिया। उसने मालवा का कुछ भाग जीता और सुराष्ट्र के चालुक्यों से युद्ध करता रहा। जगदेवमल्ल के भाई तृतीय तैलप के समय में उसके मन्त्री विज्जल कलचुरी ने सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। विज्जल लिंगायत-सम्प्रदाय का अनुयायी और उस धर्म को प्रश्रय देने वाला था। ११८२ ई० में चतुर्थ सोमेश्वर ने कलचुरियों का अन्त करके फिर चालुक्य-वंश का पुनरुद्धार किया। इसी समय दक्षिण में यादवों की एक प्रबल शक्ति का उदय हुआ। चालुक्य राजे होयसालों और यादवों से लड़ते-लड़ते दुर्बल होते गये। ११९० ई० के लगभग देवगिरि के यादवों ने चालुक्य-वंश का अन्त कर दिया।

## ४. देवगिरि का यादव-वंश

इस काल के यादव वीर और युद्धप्रिय यादवों के वंशज थे जो प्राचीन महाराष्ट्र में आकर बस गये थे। वे भगवान कृष्ण को अपना पूर्वज मानते थे। राष्ट्रकूटों और कल्याणी के चालुक्यों के समय यादव उनके अधीन सामन्त थे। चालुक्यों की शक्ति क्षीण होने पर यादव राजा चतुर्थ भिल्लम ने सोमेश्वर (चतुर्थ) चालुक्य को परास्त कर कृष्णा के उत्तर सम्पूर्ण चालुक्य-राज्य पर अधिकार कर लिया और देवगिरि ( दौलताबाद ) को अपनी राजधानी बनाया। भिल्लम बड़ा शक्तिमान् और विजयी राजा था। उसने महाराजाधिराज की उपाधि

धारण की। परंतु कृष्णा के दक्षिण में उसे सफलता नहीं मिली। होयसाल राजा प्रथम वीर वल्लाल के साथ लड़ता हुआ मारा गया। भिल्लम के पुत्र प्रथम जैत्रपाल ने पूर्व में तैलंग राजा रुद्रदेव को मार कर उसके भतीजे गणपति को गद्दी पर बैठाया और यादवों के प्रभाव को बढ़ाया। इसके बाद देवगिरि के यादवों में सिंहन (१२१०-१२४७) सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने कोल्हापुर के शिलाहारों को हराया। होयसाल-राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार किया, परमारों और चेदियों को युद्ध में परास्त किया और गुजरात के बघेलों पर कई बार चढ़ाई की। सिंहन विद्या और कला का भी रसिक था। उसकी सभा में संगीत-रत्नाकर का लेखक सारंगधर और भास्कराचार्य के सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ज्योतिषी चंगदेव रहते थे। सिंहन का पुत्र कृष्ण भी अपने धर्म और विद्या-प्रेम के लिये विख्यात था। उसके समय में काश्मीरी पण्डित जल्हण ने सूक्ति मुक्तावली और अमलानन्द ने वाचस्पति मिश्र की भामती के ऊपर वेदान्त-कल्पतरु नामक टीका ग्रंथ लिखा। कृष्ण का भाई महादेव बड़ा विजेता हुआ। उसने शिलाहारों से कोंकण छीन लिया, कर्णाटक और लाट (गुजरात) की शक्ति क्षीण कर दी और काकतीय रानी रुद्राम्बा को भयभीत किया। वह चतुर्वर्ग-चिंतामणि के लेखक हेमाद्रि, गीता की प्रसिद्ध टीका ज्ञानेश्वरी के रचयिता मराठी संत ज्ञानेश्वर और 'मुग्धबोध' नामक व्याकरण-ग्रन्थ के कर्ताबोपदेव का आश्रयदाता था। वह मन्दिर-निर्माण की एक नयी शैली का प्रवर्तक और मोडी-लिपि का सुधारक था।

यादव राजा रामचंद्र के समय (१२६४ ई०) में पहले पहल दक्षिण के ऊपर तुर्कों का आक्रमण हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चचा जलालुद्दीन के क्रोध से त्राण पाने का बहाना लेकर देवगिरि में शरण ली और उदार, निश्चिन्त और असावधान रामचंद्र पर अपने साथी तुर्क सैनिकों को लेकर दुर्ग के भीतर ही आक्रमण कर दिया। दुर्भाग्य से यादव सेना रामचंद्र के पुत्र शंकरदेव के साथ दक्षिण गयी हुई थी। विवश होकर रामचन्द्र को अलाउद्दीन से संधि की प्रार्थना करनी पड़ी। इसी बीच में शंकरदेव सेना लेकर देवगिरि पहुंचा। परन्तु अलाउद्दीन ने यह बात फैला दी कि २० हजार तुर्क-सैनिक और आ रहे हैं। इसपर शंकरदेव के सैनिक त्रस्त हो गये और रामचन्द्र ने अन्त में संधि कर ली। इसके अनुसार ६००

मन मोती, २ मन रत्न, १००० मन चांदी, ४००० थान रेशम और अन्य बहुमूल्य पदार्थ अलाउद्दीन को मिले। साथ ही रामचंद्र ने तुर्कों की अधीनता स्वीकार की, वार्षिक कर देने का वादा किया और एलिचपुर का प्रदेश भी उनको दे दिया। अलाउद्दीन के दिल्ली लौट जाने पर रामचन्द्र और शंकरदेव ने क्रमशः वार्षिक कर बंद करके स्वतन्त्र होने की चेष्टा की, परन्तु अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने उन पर आक्रमण करके दबा दिया और शंकरदेव को तो १३१२ ई० में जान से भी मार डाला। रामचन्द्र के दामाद हरपाल ने फिर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, किन्तु सुलतान मुबारक के सेनापति ने उसे हरा कर जीते-जी उसके शरीर से चमड़ा निकलवा लिया। इस प्रकार यादवों की शक्ति का दुःखान्त पतन हुआ। इसके पश्चात् दक्षिण एक मुसलिम प्रान्त हो गया।

## ५. द्वारसमुद्र का होयसाल-वंश

होयसाल-वंश यादवों की एक शाखा थी और इस वंश के राजा उत्कीर्ण लेखों में 'यादव-कुल-तिलक' कहे गये हैं। इस वंश के प्रारम्भिक शासकों का राज्य बहुत छोटा था और ये कांची के चोल-राज्य अथवा कल्याणी के चालुक्य-राज्य के सामन्त थे। उनकी राजधानी वेलापुर (वेलूर) थी। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में इस वंश के विनयादित्य और उसके पुत्र एरयंग ने चोल-चालुक्य संघर्ष से लाभ उठाकर अपने राज्य को कुछ और बढ़ाया। परन्तु फिर भी ये चालुक्यों के सामन्त ही रहे। विट्टिग विष्णुवर्धन इस वंश का पहला राजा था जिसने अपने राज्य की शक्ति और सीमा का विस्तार कर उसको गौरव का स्थान दिया। वेलापुर छोड़ कर उसने द्वारसमुद्र (हलेबिड) को अपनी राजधानी बनाया। उसने अपने अधिपति चालुक्य राजा छठवें विक्रमादित्य पर आक्रमण करके प्रायः अपने को पूरा स्वतन्त्र कर लिया। इसके बाद उसने चोल, पाण्ड्य, केरल, तुलुव (दक्षिण कर्णाटक), कदम्ब और गंग राजाओं को हराया और इस प्रकार लगभग सारे मैसूर पर अपना आधिपत्य जमा लिया। विष्णुवर्धन पहले जैन-धर्म का अनुयायी था, परन्तु पीछे अपने मन्त्री और प्रसिद्ध आचार्य रामानुज के प्रभाव से वैष्णव-धर्म को अपनाया। उसने कई सुन्दर प्रासादों और मन्दिरों का निर्माण कराया।

होयसाल-वंश का सबसे शक्तिमान् और प्रसिद्ध राजा प्रथम वीरवल्लाल ( ११७२-१२१५ ) हुआ, जिसने नियमत: अपनी स्वतन्त्रता घोषित की और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इस समय यादवों की शक्ति क्षीण हो रही थी। वीरवल्लाल ने चालुक्य राजा चतुर्थ सोमेश्वर को हराया और अपने प्रतिद्वन्द्वी यादव राजा पंचम भिल्लम से भी संघर्ष किया। उसके शासन-काल में होयसाल वंश की गणना दक्षिण की प्रबल शक्तियों में होने लगी। परन्तु उसके पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय नरसिंह के समय में यादव राजा सिंहन के आक्रमण से होयसाल-शक्ति को धक्का लगा। नरसिंह के पीछे आने वाले राजा दुर्बल थे और उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं मालूम है। उनकी पड़ोसी राज्यों चोल और पांड्य से बराबर लड़ाई होती रही। इस वंश का अन्तिम राजा तृतीय वीरवल्लाल था। उसी के समय (१३१० ई०) में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने द्वारसमुद्र पर आक्रमण किया। वीरवल्लाल बन्दी होकर दिल्ली गया। वहां से छूटने पर उसने फिर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया परन्तु वह फिर दबाया गया और होयसालों के स्वतन्त्र राज्य का १३२७ ई० में अन्त हो गया। इसके बाद उनके वंशज स्थानीय सामन्तों के रूप में बने रहे।

## ६. वनवासी का कदम्ब-वंश

कदम्ब-राज्य उन प्राचीन राज्यों में से था जो आन्ध्र-साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिण में उत्पन्न हुये थे। कदम्ब-वंशी मानव्य-गोत्र के ब्राह्मण थे। पहले ये कांची के पल्लवों के अधीन थे। कहा जाता है कि कदम्ब-राजा मयूरशर्मन का एक बार कांची में अपमान हुआ। इससे अप्रसन्न होकर ३५० ई० के लगभग उसने वनवासी ( धारवार जिले में) को अपनी राजधानी बनाकर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। काकुस्थवर्मन् के समय में कदम्ब-राज्य का विस्तार हुआ और उसकी शक्ति और प्रभाव बढ़े। इसके बाद प्रसिद्ध कदम्ब राजा छठवीं शताब्दी में रविवर्मा हुआ। उसने पल्लवों और गंगों से युद्ध करके अपने राज्य को और बढ़ाया। इसके बाद वातापी के चालुक्यों की बढ़ती हुई शक्ति से कदम्ब-वंश दब गया, परन्तु कदम्ब राजा सामन्तों

के रूप में पड़े रहे। राष्ट्रकूटों के पतन के बाद दसवीं शताब्दी में कादम्ब-शक्ति का पुनरुद्धार हुआ। कदम्बों के वंशज तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण कर्णाटक में स्थानीय राजाओं के रूप में शासन करते रहे।

## ७. तलकाड का गंग-वंश

अनुश्रुति के अनुसार यह वंश इक्ष्वाकु-वंश से उत्पन्न हुआ था और प्राचीन काल में गंगा के किनारे से आने के कारण 'गंग-वंश' कहलाया। चौथी शताब्दी में डिडिग कोंगनिवर्मन् ने आधुनिक मैसूर-राज्य के दक्षिण भाग में गंग-राज्य की स्थापना की। इस वंश के राजा हरिवर्मा ने पुरानी राजधानी कुलुवल (कोलार) को छोड़ कर तलबपुर (तलकाड) को राजधानी बनाया। इस वंश का एक विख्यात राजा दुर्विनीत हुआ जिसने पल्लवों से युद्ध करके प्रसिद्धि प्राप्त की। वह संस्कृत का विद्वान् था और उसने गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत में लिखी बृहत्कथा का संस्कृत में भाषान्तर किया। इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा श्रीपुरुष था जिसने राष्ट्रकूटों और पल्लवों का सफल विरोध किया। इसके बाद चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से गंग-वंश की स्वाधीनता जाती रही, परन्तु राजमल्ल गंग के समय में इस वंश की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। १००४ ई० में चोलों ने उनकी राजधानी तलकाड को जीत लिया और गंगों का स्वतंत्र अस्तित्व जाता रहा; इसके बाद कुछ समय तक गंगों के वंशज चोलों और होयसालों के अधीन सामन्त बने रहे। गंग-वंश के कई राजा जैन-धर्म के आश्रयदाता थे। अविनीत नामक राजा जैन आचार्य विजयकीर्ति के संरक्षण में पला था और उसके पुत्र दुर्विनीत ने प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यपाद को प्रश्रय दिया। राजमल्ल के मंत्री चामुण्डराय ने श्रवण बेलगोला में ९८३ ई० गोमतेश्वर की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया।

## ८. कोंकण का शिलाहार-वंश

शिलाहार क्षत्रिय-वंश के थे और अनुश्रुति के अनुसार उनकी उत्पत्ति विद्याधरों के राजा जीमूतवाहन से हुई थी। उनका मूल स्थान तगर था। वे कोंकण में राष्ट्रकूट चालुक्य और यादव राजाओं के अधीन सामन्त होकर शासन करते थे। कोंकण में उनकी दो शाखायें

थी। सबसे प्राचीन दक्षिणी शाखा की राजधानी गोआ थी; उत्तरी शाखा की राजधानियां थाना और पुरी ( एलिफैंटा में ) थीं। इनकी तीसरी शाखा महाराष्ट्र के कोल्हापुर, सितारा और बेलगाँव प्रदेश में स्थापित हुई और इसका अधिकार दक्षिण कोंकण पर भी रहा। यह शाखा काफी शक्तिशाली थी और इसके प्रसिद्ध राजा विजयाक ( विजयादित्य ) ने चालुक्य-वंश का दमन करने में कलचुरि विज्जल की सहायता की थी। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा भोज हुआ। यादवराज सिंहन ने इस वंश का अंत किया।

## ६. वारंगल का काकतीय-वंश

आंध्र-साम्राज्य के पतन पर आंध्र-प्रदेश में इक्ष्वाकुवंशी राज्य की स्थापना हुई थी। संभवतः काकतीय उन्हीं के वंशज थे। पहले चालुक्यों के अधीन ये सामन्त राजा थे। उनके पतन पर तेलंगाना में काकतीयों ने स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और वारंगल में ( अरुनगल्लु ) को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं में प्रोलराज, रुद्र और महादेव के नाम उल्लेखनीय हैं। महादेव का पुत्र गणपति ११९९ ई० में राजा हुआ और लगभग ६२ वर्ष तक राज्य किया। इसने चोल, कलिंग, यादव, कर्णाट, लाट और वलनाडु पर सफलतापूर्वक आक्रमण किया। गणपति के बाद उसकी पुत्री रुद्राम्बा सिंहासन पर बैठी ( १२६१ ई० )। उसने बड़ी बुद्धिमानी और योग्यता से शासन किया। उसके लम्बे शासन के बाद उसका पोता प्रतापरुद्र राजा हुआ। उसके राजकवि वैद्यनाथ ने रीतिशास्त्र पर प्रतापरुद्रीय नामक ग्रंथ लिखा। मलिक काफूर के आक्रमण के समय उसे मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। बहमनी सुलतान अहमदशाह ने १४२४ ई० में तेलंगाना को अपने राज्य में मिला लिया।

# इ. द्रविड-प्रदेश

भारतवर्ष का वह भाग जो कृष्णा और तुंगभद्रा के दक्षिण में पड़ता है द्रविड प्रदेश कहलाता है। इसमें लंका भी आ जाता है। वैसे तो संस्कृत लेखकों के दक्षिणापथ में, जिसका अर्थ विन्ध्य पर्वत के दक्षिण का सम्पूर्ण भारत है, द्रविड प्रदेश भी सम्मिलित है, फिर भी इस प्रदेश का अपना कुछ विशेष व्यक्तित्व रहा है। यहाँ के मूल

निवासी आग्नेय और द्रविड जाति के लोग हैं, परन्तु बहुत प्राचीन काल में ही उत्तर भारत से आर्य यहाँ पहुंच गये थे, जैसे द्रविड-प्रदेश से द्रविड भी उत्तर आ चुके थे। यहाँ भी भारत के अन्य भागों की तरह द्रविड और आर्य जातियों और संस्कृतियों का संगम हुआ। परन्तु यहाँ के रक्त, भाषा और रीति-रिवाज में द्रविड-तत्व की प्रधानता रही। सबसे पहले आर्य-ऋषि अगस्त्य यहाँ पहुँचे थे। रामायण-घटना के पूर्व द्रविड प्रदेश और भारत के दूसरे भागों से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। स्वयं राम का द्रविड-प्रदेश से होते हुये लंका-गमन यहाँ पर आर्य-प्रभाव के प्रसार का द्योतक है। महाभारत काल में द्रविड-राजाओं ने भी महाभारत युद्र में भाग लिया था। अशोक के शिला-लेख में पांच द्रविड-राज्यों का स्पष्ट उल्लेख है—(१) चोल (२) पांड्य (३) केरलपुत्र (४) सत्यपुत्र और (५) ताम्रपर्णि (लंका)। इनको 'प्रत्यन्त' अर्थात् साम्राज्यकी सीमा के बाहर स्वतंत्र राज्य कहा गया है। परन्तु ये अशोक के प्रभाव-क्षेत्र के भीतर थे और अशोक ने अपने धर्म-प्रचारकों को यहाँ भेजा था। आंध्र-साम्राज्य के समय द्रविड-प्रदेश उसमें शामिल था। उसके पतन पर यह अलग हो गया। परन्तु इसी समय पल्लवों की एक नयी शक्ति का कृष्णा के दक्षिण में उदय हुआ जिसने कई शताब्दियों तक अपना आधिपत्य द्रविड-प्रदेश पर बनाये रखा। चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में गुप्त-साम्राज्य की परिधि द्रविड-प्रदेश की दक्षिणी-सीमा तक पहुँचती थी। चालुक्यों के उत्कर्ष के समय भी द्रविड-प्रदेश उनके साम्राज्य के भीतर था। परन्तु चालुक्यों के बाद विकेन्द्रीकरण की शक्तियां यहाँ भी प्रबल हो गयीं और पिछला इतिहास स्थानीय प्रांतों और राजवंशों का इतिहास है।

## १. कांची का पल्लव-वंश

पल्लवों की उत्पत्ति के सम्बंध में बड़ा मतभेद है। कुछ लोगों के मत में पल्लव विदेशी पह्लवों (पार्थियन) के वंशज थे। परन्तु यह मत केवल ध्वनिसाम्य पर अवलम्बित है। राजशेखर ने अपने भुवन-कोष में पल्लवों और पह्लवों का अलग-अलग स्पष्ट उल्लेख किया है। भारतीय इतिहास से यह भी मालूम है कि पह्लवजाति पश्चिमोत्तर भारत में केवल थोड़े दिनों तक रही और दक्षिण नहीं पहुँची। कुछ इतिहासकार प्राचीन तामिल-साहित्य के आधार पर पल्लवों को द्रविड-

प्रदेश की जंगली जातियों से उत्पन्न समझते हैं। संभवतः 'पल्लव' (नये पत्ते) नाम ने उनका जंगल से नाता जोड़ दिया। कुछ विद्वान उनको नागवंशी और कुछ चोल-नाग-मिश्रण से उत्पन्न समझते हैं। काशी प्रसाद जायसवाल उनको उत्तरी ब्राह्मणों का वंशज मानते हैं, जिसकी पुष्टि पल्लवों के संस्कृत-प्रेम से होती है। उनके मत से वे वाकाटकों की एक शाखा थे। कदम्बों ने पल्लवों को क्षत्रिय कहा है, परन्तु ब्राह्मण से क्षत्रिय कहे जाने की प्रक्रिया स्वयं कदम्बों में दिखायी पड़ती है; शुरू के कदम्ब शर्मन् और पीछे के वर्मन् कहे जाते थे। संभवतः पल्लव-वंश उत्तरी शास्त्रजीवी ब्राह्मणों से उत्पन्न था और पीछे क्षत्रिय माना जाने लगा।

आंध्र-साम्राज्य के पतन पर ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दियों में पल्लवों का उदय हुआ। पल्लव-राज-वंश का संस्थापक बप्पदेव था, जिसके अधीन आंध्र-पथ (आंध्र-प्रदेश) और टोंडमंडलम् दोनों थे। पहले प्रदेश की राजधानी धान्यकट (अमरावती के पास) और दूसरे की कांची थी। बप्पदेव का पुत्र शिवस्कन्दवर्मन् धर्ममहाराज ने अपने राज्य का विस्तार उत्तर और दक्षिण दोनों तरफ किया। इसके उपलक्ष्य में अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों का अनुष्ठान भी कराया। इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा विष्णुगोप था, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति में पाया जाता है और जिसने गुप्त-सम्राट समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की। इसके बाद पल्लवों का लगभग एक शताब्दी का इतिहास बहुत धुंधला सा है।

छठवीं शताब्दी के मध्य में पल्लवों की शक्ति का विकास बड़ी शीघ्रता से हुआ। इस शताब्दी का सबसे प्रसिद्ध और शक्तिमान् राजा सिंहविष्णु अथवा अवविष्णु था। उसने चोलों को हरा कर दक्षिण में कावेरी नदी तक अपने राज्य को बढ़ाया और युद्ध में पांड्य, कलभ्र, सिंहल और मालव (मलनाडु के) राजाओं को हराया। उस के नाम से मालूम होता है कि वह वैष्णव-धर्म का अनुयायी था। सिंहविष्णु का पुत्र प्रथम महेन्द्रवर्मन् या महेन्द्रविक्रम सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजा हुआ। इसी समय कर्णाटक और महाराष्ट्र में चालुक्यों की शक्ति का उत्कर्ष हो रहा था। चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशिन् और पल्लव-

राज महेन्द्रवर्मन् में दक्षिणपथ के आधिपत्य के लिये संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में आंध्र-प्रदेश में वेंगी का राज्य पल्लवों के हाथ से चालुक्यों के अधिकार में चला गया। फिर भी द्रविड-प्रदेश में पल्लवों की शक्ति प्रबल रही और चोल आदि राज्यों को उन्होंने दबा रखा और दक्षिण की तरफ अपने राज्य को कुछ बढ़ाया भी। महेन्द्रवर्मन् पहले जैन-धर्म का मानने वाला था, किंतु शैव, सन्त और तिरुज्ञान सम्बन्दर के प्रभाव से शैव हो गया। परन्तु इस धर्मपरिवर्तन के बाद भी वह जीवन में उदार रहा। उसने शैव-मंदिरों के साथ-साथ ब्राह्म (ब्रह्मा के लिये) और वैष्णव-मंदिर भी बनवाये। द्रविड-प्रदेश में चट्टानों को काटकर मंदिर बनाने की कला का वह प्रवर्तक माना जाता है। स्थापत्य के अतिरिक्त उसने चित्र, नृत्य संगीत आदि कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया। वह स्वयं एक अच्छा लेखक भी था। उसने मत्त-विलास-प्रहासन नामक ग्रंथ लिखा, जिससे कापालिक, पाशुपत, बौद्ध-भिक्षु आदि के भ्रष्टाचार का परिचय मिलता है।

महेन्द्रवर्मन् के बाद उसका पुत्र प्रथम नरसिंहवर्मन् बड़ा विजयी और प्रतापी था। उसके शासन के प्रारम्भ में द्वितीय पुलकेशिन् ने कांची पर चढ़ाई की। नरसिंहवर्मन् ने केवल पीछे ही नहीं ढकेल दिया, परन्तु अपने सेनापति सिरुटोंड को चालुक्यों की राजधानी वातापी पर आक्रमण करने के लिये भेजा। इस युद्ध में पुलकेशिन् लड़ता हुआ मारा गया। इस घटना के उपलक्ष्य में उसने वातापी-कोंड और महामल्ल की उपाधि धारण की। इसके बाद कुछ समय के लिये पल्लवों का आधिपत्य न केवल द्रविड-प्रदेश पर परन्तु सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर छा गया। उत्तर में अपने चालुक्य प्रतिद्वंदी को हराने के पश्चात् उसने अपने आश्रित लंका के सिंहासन के दावेदार मानवर्मन् की सहायता के लिये अपनी नौ-सेना भेजी और उसको सफलतापूर्वक लंका-राज्य का अधिकारी बनाया। नरसिंहवर्मन् मंदिर-निर्माण के लिये भी प्रसिद्ध है। उसने महामल्लपुरम् नामक नगर बसाया और उसको बहुत से शिला-मंदिरों से सुशोभित किया। नरसिंहवर्मन् के ही समय चीनी यात्री हुयेन-संग कांची गया था। उसके अनुसार पल्लव-राज्य की भूमि उपजाऊ, और समृद्ध, प्रजा सुखी और सदाचारी थी; जनता में विद्या और कला का प्रचार था और लोग महायान के स्थविर-

साहित्य का अध्ययन करते थे; यहाँ पर लगभग ८० देव-मंदिर और १०० से अधिक विहार थे जिनमें अनेकों बौद्ध-भिक्षु रहते थे; दिगम्बर-सम्प्रदाय के जैनों के मंदिर भी बने हुये थे।

पल्लव-वंश में प्रथम नरसिंहवर्मन के बाद द्वितीय महेन्द्रवर्मन, द्वितीय नरसिंहवर्मन्, नन्दिवर्मन्, दन्तिवर्मन् आदि कई राजा हुये। इनके समय में चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, पाण्ड्य और चोल राजाओं से बराबर युद्ध होता रहा। इस वंश का अंतिम राजा अपराजितवर्मन् (८७६-८६५ ई०) था। इसने गंगों की सहायता से पाण्ड्यों को हराया था किन्तु चोल-राजा प्रथम आदित्य द्वारा स्वयं पराजित हुआ। चोलों ने कांडमण्डलम् को अपने राज्य में मिला लिया और पल्लव-शक्ति का अन्त कर दिया।

## पल्लव-कालीन शासन-पद्धति, साहित्य, कला और धर्म

पल्लवों का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित और योग्य था। राज्य का प्रमुख अधिकारी राजा होता था जिसकी उपाधि महाराज अथवा धर्ममहाराज थी। शासन के विभिन्न विभागों में उसकी सहायता करने के लिये मंत्री हुआ करते थे। प्राचीन प्रणाली के अनुसार अनेक अध्यक्षों और राजपुरुषों के अधीन सारा केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन संगठित था। मुख्य अधिकारियों में राजकुमार (युवराज अथवा प्रान्तीय शासक), अमात्य या राज्य के उच्च अधिकारी राष्ट्रिक (प्रान्तीय अथवा जिले का अधिकारी), देशाधिकत (स्थानीय संरक्षक), ग्रामभोजक (गाँव का मुखिया), गौल्मिक (सेना-नायक या जंगल का अधिकारी), दूतक (संदेश-वाहक), संजरन्तक (= संचरन्तक, गुप्तचर), भट्टमनुष्य (सैनिक) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। शासन की सुविधा के लिये सारा साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा था, जिनको राष्ट्र या मण्डल कहते थे। शासन की इन से छोटी इकाइयाँ कोट्टम, नाडु और ग्राम थे। प्रान्तों के ऊपर राजवंश या सामंत-वंश के पुरुष शासन करते थे। राष्ट्र और मंडलों के ऊपर राष्ट्रिक और मांडलिक का अधिकार होता था। ग्राम का प्रमुख अधिकारी मुखिया था। ग्राम-सभा को स्थानीयन्याय, रक्षा और सार्वजनिक हित के काम करने का अधिकार था। राज्य को भूमि, उद्योग-

धंधों और व्यापार से आय होता था। भूमि का माप, व्यवस्था और उसकी सिंचाई का प्रबन्ध सरकार करती थी। राज्य की ओर से ब्राह्मणों और शिक्षकों को वृत्ति मिलती थी और धार्मिक कृत्यों और दान के लिये व्यवस्था होती थी। पल्लव राजाओं के पास विशाल सेना थी जो अच्छी तरह संगठित और सुसज्जित थी।

साहित्य और विभिन्न शास्त्रों को पल्लव राजाओं से बड़ा प्रोत्साहन मिला। संस्कृत भाषा और साहित्य को राज्य का प्रश्रय प्राप्त था। राजाओं की अधिकांश प्रशस्तियां और सरकारी आलेख संस्कृत में ही पाये जाते हैं, यद्यपि स्थानीय तामिल भाषा का प्रयोग भी होता था। पल्लव-काल में कांची विद्या औरशिक्षा का केन्द्र थी। भारवि और दण्डिन् जैसे कवि पल्लवों की राज-सभा में रहतेथे। उनमें से कई स्वयं विद्वान् और कवि थे। प्रथम महेन्द्रवर्मन् ने मत्तविलास-प्रहसन नाम का अच्छा नाटक लिखा था। कुछ विद्वानों का मत है कि भास और शूद्रक के नाटकों के संक्षिप्त संस्करण अभिनय करने के लिये पल्लव- राजाओं की सभा में तैयार हुये थे।

मंदिर और मूर्ति-निर्माण-कला के विकास में पल्लवों की अपनी एक विशेष देन है। उन्होंने चट्टानों को काट कर और पत्थर तथा ईंट के भी बड़े विशाल और सुन्दर मंदिर बनवाये जो आज भी वर्तमान हैं और अपनी कारीगरी के लिये प्रसिद्ध हैं। पल्लवों के समय मंदिर-कला के विकास के चार क्रम और शैलियां हैं। पहली महेन्द्र-शैली है जिसका प्रवर्तन महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने किया था, ये ठोस चट्टानों को काट कर बनाये गये हैं। वृत्ताकार लिंग, खास तरह के द्वारपाल और प्रभातोरण इनकी विशेषतायें हैं। दूसरी शैली को नरसिंहवर्मन्मामल्ल ने चलाया था, मामल्लपुरम् में पाँच रथों (मंदिरों) का निर्माण उसने कराया था। समुद्र के किनारे निकली हुई चट्टानों के एक-एक खण्ड को काट कर ये मंदिर पाँचों पाँडवों के नाम पर बनाये गये हैं, यद्यपि वास्तव में ये शैव-मंदिर हैं। इन मंदिरों की विशेषतायें हैं बहुत ही अलंकृत मुख-द्वार, आठ कोणवाले सिंहस्तम्भ तथा अलंकार के लिये दीवारों पर राजा और रानी की प्रतिकृतियाँ। तीसरी शैली राजसिंह-शैली थी। इस शैली के मंदिरों में सबसे प्रसिद्ध कांची का कैलास-मंदिर और महावलीपुरम् के कुछ समुद्र तट के मंदिर हैं। कांची के मंदिर ईंट

और पत्थर के बने हुये हैं। इनके शिखर बहुत ऊंचे और मण्डप की छत चपटी है। चौथी शैली का प्रवर्तन अपराजित ( ६०० ई० ) नामक राजा ने किया था। इन मंदिरों के लिंग ऊपर की ओर पतले होते गये हैं और शिखरों की गर्दन पहले की अपेक्षा अधिक स्थूल है। यह शैली धीरे-धीरे चोल-शैली से मिल जाती है।

पल्लव-काल के प्रारम्भ में वैष्णव और शैव-धर्म के साथ-साथ बौद्ध और जैन-धर्म भी प्रचलित थे। चीनी यात्री हुयेन-संग के अनुसार कांची में लगभग १०० विहार ( संघाराम ) थे, जिनमें १०००० भिक्षु रहते थे। प्रसिद्ध बौद्ध उपदेशक धर्मपाल कांची के ही रहने वाले थे। निर्ग्रंथ अथवा जैन-धर्म का भी उल्लेख हुयेन-संग करता है। पल्लव-राजा प्रथम महेन्द्र पहले जैन-धर्म को मानता था, पीछे शैव-महात्माओं के प्रभाव में आया। उत्तरोत्तर शैव-धर्म की प्रधानता होती गयी और बुद्ध-धर्म लुप्त होता गया।

## २. चोल-वंश

चोल-राष्ट्र या चोल-मण्डलम् पेन्नार और वेल्लारु नदियों के बीच पूर्वी समुद्र-तट पर स्थित था। चोल राजाओं के बलाबल के अनुसार इसकी सीमायें भी बदलती रहती थीं। इस राज्य की सबसे पुरानी राजधानी उरगपुर (=उरैयूर त्रिचनापली के पास) थी; फिर क्रमशः कावेरी पट्टनम् तंजुवुर (तंजौर) और गंग-कोंड-चोलापुरम् में राजधानी रही। पल्लवोंकी उत्पत्तिके समान चोलों की उत्पत्ति के बारे में बहुत मतभेद है। विभिन्न विद्वानों ने तामिल 'चुल' (भड़काना), 'चोलम्' (एक प्रकार का अन्न) संस्कृत 'चोर' और 'कोल' (कोल-जाति) से 'चोल' शब्द की व्युत्पत्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु ये सभी व्युत्पत्तियाँ अस्वाभाविक और अशोभन मालूम होती हैं। 'चोल' का सबसे निकटवर्ती शोभन शब्द चूल (=चूड=शिर=श्रेष्ठ) है। द्रविड-प्रदेश के प्राचीन राजाओं में चोल शिरोमणि थे, इसलिये वे चोल कहलाये। उत्तर भारत से ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बुलाने तथा बसाने और संस्कृत-साहित्य को विशेष प्रश्रय देने से मालूम होता है कि चोल-वंश भी उत्तर भारत से ही द्रविड-प्रदेश में गया था। साहित्य और उत्कीर्ण लेखों में उनको सूर्य-वंशी कहा भी गया है।

चोल-राज्य बहुत प्राचीन राज्यों में से है। प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन ने चोल और पाण्ड्य का साथ-साथ उल्लेख किया है। अशोक के समय में मौर्य-साम्राज्य के दक्षिण में चोल-राज्य का सबसे पहले नाम आता है। इसके बाद का संगम-साहित्य में बहुत से राजाओं का वर्णन है। इनमें करिकाल प्रसिद्ध था। उसने चेर और पाण्ड्य राजाओं को हराकर अपना राज्य बढ़ाया, लंका पर आक्रमण किया तथा अन्य पड़ोसी राज्यों पर अपना आतंक जमाया। उसके समय में चोलों की राजधानी उरगपुर से उठकर कावेरी पट्टनम में आयी। करिकाल के कुछ समय बाद पेरुनरकिल्लि नामक प्रसिद्ध राजा हुआ, जिसने अपने विजयों के उपलक्ष्य में राजसूय भी किया था। इसके पश्चात् चोलों की शक्ति शिथिल पड़ने लगी। पहले चोल-राज्य के ऊपर आंध्रों का आधिपत्य रहा और इसके पीछे पल्लवों का नवीं शताब्दी के मध्य तक। पल्लव-शक्ति के नष्ट होने पर चोल-राज्य की फिर उन्नति प्रारम्भ हुई।

नवीं शताब्दी में चोल-वंश का पहला राजा विजयादित्य हुआ जिसने अपने बल का परिचय दिया। वह पहले पल्लवों का सामन्त था। उसने दक्षिण बढ़कर तंजौर पर अधिकार कर लिया और उसको अपनी राजधानी बनाया। उसके बाद उसका पुत्र प्रथम आदित्य(८८०-९०७ ई०) राजा हुआ। उसके समय चोल-वंश पल्लवों के आधिपत्य से बिल्कुल स्वतन्त्र हो गया। उसने गंगों की राजधानी तलकाड को भी जीता। आदित्य शैव-मत का माननेवाला और कई एक शैव-मंदिरों का निर्माता था। द्रविड-देश में चोल-आधिपत्य की स्थापना वास्तव में प्रथम परान्तक ( ९०७-९४६ ई० ) के समय में हुई। उसने मदुरा के पाण्ड्य राजा को हराया और लंका पर आक्रमण किया। परन्तु इसके बाद राष्ट्रकूटों के आक्रमण चोल-राज्य पर आरम्भ हुये और परान्तक के पुत्रों के समय में चोलों की शक्ति कुछ समय के लिये मन्द पड़ गयी।

प्रथम राजराज (९८५-१०१४) के शासन-काल में चोलों की विस्तृत विजय और समृद्धि का इतिहास फिर शुरू हुआ। सबसे पहले उसने चेरों की नौ-सेना को कण्डलूर में परास्त किया। फिर वेंगी के चालुक्य, मदुरा के पाण्ड्य, और दक्षिण मैसूर के गंग-राजाओं को हराकर अपने अधीन किया। उसकी विजयिनी सेना ने दक्षिण में लंका और उत्तर

में कलिंग को जीता। उसके पास एक शक्तिशाली नौ-सेना थी। उसकी सहायता से उसने लकदिव और मालदिव को जीता और पूर्वी द्वीप पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार राजराज ने सम्पूर्ण द्रविड-प्रदेश लंका कर्णाटक और आंध्र तथा कलिंग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया और जलमार्ग से बाहर के द्वीपों तक अपना साम्राज्य फैलाया। उसकी गणना भारत के प्रसिद्ध विजेताओं में की जा सकती है। वह योग्य और सफल शासक भी था। उसका नाम कला को प्रश्रय देने के लिये भी विख्यात है। तंजौर में शिव का राजराजेश्वर नामक मंदिर उसीका बनवाया हुआ है जो अपनी विशालता, सुन्दर आकार, मनोहर मूर्तिकला और सजावट के लिये प्रसिद्ध है। इस मंदिर की दीवारों पर राजराज के दिग्विजयों का वर्णन अंकित हैं। वह नाट्य, नृत्य और संगीत को प्रोत्साहन देता था।

राजराज का पुत्र प्रथम राजेन्द्र (१०१२-१०४२) अपने पिता से भी अधिक महत्वाकांक्षी और विजयी था। उसने अपने पिता के साम्राज्य को केवल संगठित ही नहीं किया किन्तु उसे बढ़ाया भी। उसने दक्षिण भारत में पहले कल्याणी के चालुक्यों, वनवासी के कदम्बों और मध्य प्रदेश में गोंडवाना को जीता। इसके बाद उत्तर भारत पर विजय-प्रयाण किया। उसकी सेनायें कलिंग को पार कर ओड्र (उडीसा), बंगाल और मगध होती हुई गंगा तक पहुँची। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने गंगैकोंड की उपाधि धारण की और गंगैकोंड-चोलापुरम नामक नगर बसाया। उसकी जलसेना ने अंडमान, नीकोबार तथा बरमा के समुद्र-तट के अराकान, पेगू आदि प्रदेशों को जीता। मलय, सुमात्रा, जावा और दूसरे पूर्वी द्वीप-समूह के द्वीपों तक उसका जहाज़ी बेड़ा गया। इन विजयों के फलस्वरूप भारतीय व्यापार, उपनिवेश और संस्कृति का प्रसार हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप-समूह में हुआ। राजेन्द्र ने नये नगर बसाये और प्रासाद, मंदिर, झील आदि बनवाये। वह अपने पारिवारिक धर्म शैवमत का अनुयायी था।

प्रथम राजेन्द्र के उत्तराधिकारी राजाधिराज (१०४२-५२) के समय में साम्राज्य के अधीन चेर, पाण्ड्य तथा लंका के राजाओं ने विद्रोह किया, परन्तु उसने कड़ाई के साथ सब को दबा दिया। वह चालुक्य राजा सोमेश्वर के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया, परन्तु उसके

भाई द्वितीय राजेन्द्र ने चालुक्यों को हराया और १०६३ ई० तक राज्य किया। उसके बाद वीर राजेन्द्र, अधिराजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग आदि कई प्रसिद्ध चोल राजा हुये। अधिराजेन्द्र कट्टर शैव था। उसने कांची के वैष्णव आचार्य रामानुज का घोर विरोध किया और उनको दूसरे स्थान में आश्रय लेना पड़ा। कुलोत्तुंग एक सफल सैनिक और योग्य शासक था। उसने पाण्ड्य और चेर राजाओं के विद्रोह को शान्त किया। उसने १११८ ई० तक शासन किया। उसके बाद पाण्ड्य, होयसाल, काकतीय आदि पड़ोसी राज्यों से निरंतर युद्ध करते-करते चोल-राज्य का ह्रास होने लगा। सामन्त-राज्य धीरे-धीरे स्वतंत्र होते गये। इस वंश का अंतिम स्वतंत्र राजा तृतीय राजेन्द्र था जो १२६७ ई० तक शासन करता रहा। पाण्ड्य-राज्य की शक्ति इस समय बढ़ी हुई थी। उसने चोलों के पतन में बहुत बड़ा भाग लिया। जयवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने चोल राज्य पर अपना अधिकार जमाया। स्थानीय चोल-राजाओं का अंतिम पतन १३१०-११ ई० में मलिक काफूर के आक्रमण के समय हुआ।

## चोल-शासन-प्रबन्ध

केन्द्रीय—चोलों के शासन के सम्बन्ध में उनके उत्कीर्ण-लेखों से काफी सामग्री मिलती है। उससे मालूम होता है कि चोलों का राज्य और उसका शासन अच्छी तरह से संगठित था। जैसा कि एकतांत्रिक राज्यों में होता था, राजा राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी था और उसके ऊपर राज्य की रक्षा, न्याय और शासन का पूर्ण दायित्व था। उसकी सहायता और परामर्श के लिये मंत्री और अमात्य (राज्य के ऊंचे अधिकारी) होते थे। उसकी आज्ञाओं की पाण्डु-लिपि उसके निजी मंत्री तैयार करते थे। केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा था जिनका संचालन करने के लिये अलग-अलग अधिकारी होते थे।

प्रान्तीय—चोल-राज्य काफी बड़ा था। सम्पूर्ण को राज्यम् अथवा राष्ट्रम् कहते थे। राष्ट्र कई प्रान्तों में बँटा हुआ था जिनको मण्डलम् कहा जाता था। मण्डलम् के उपविभाग कोट्टम् (कमिश्नरी) और कोट्टम् के उपविभाग नाडु (जिला) थे। नाडु के अन्तर्गत कुर्रम (ग्राम-समूह) और ग्राम होते थे। चोलों के गृह-राज्य के अतिरिक्त कई सामन्त अथवा अधीन राज्य थे जो केन्द्रीय सरकार को नियमित कर

और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता देते थे। मण्डलों का अधिकारी प्रान्तीय शासक या तो पराजित स्थानीय राजा का कोई वंशज होता था अथवा चोल-राजपरिवार का कोई राजकुमार। शासन की दूसरी इकाइयों की देख-रेख के लिये क्रमशः छोटे अधिकारियों की नियुक्ति होती थी।

स्थानीय-स्वशासन—मण्डल, नाडु और नगरों की अपनी सभायें होती थीं जो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना निर्णय देती थीं। इसके अतिरिक्त एक ही प्रकार के उद्योग-धंधे या व्यापार करनेवालों की श्रेणियाँ या पूग होते थे जो अपने शासन के लिये नियम बना लेते थे और सरकार उनको स्वीकृत कर लेती थी। सब से अधिक विकसित और संगठित शासन गाँव की सभा अथवा महासभा का था। सभा या महासभा के सदस्य गाँव के निवासियों द्वारा नियमतः निर्वाचित होते थे। निर्वाचन और सदस्यता की योग्यता के नियम बने हुये थे। प्रत्येक सभा शासन की सुविधा के लिये कई समितियों में बँटी थी, जैसे, (१) सामान्य प्रबन्ध-समिति (पञ्चवार वारीयम्), (२) उपवन-समिति (३) सिंचाई-समिति (४) कृषि-समिति (५) लेखा-जोखा समिति (६) शिक्षा-समिति (७) भूमि-प्रबन्ध-समिति (८) मार्ग-समिति (९) न्याय-समिति (१०) देवालय-समिति आदि। ग्राम-सभा को पूर्ण आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। उसको गाँव की भूमि पर पूरा अधिकार था। सभा गाँव के उपयोग के लिये नयी भूमि प्राप्त कर सकती थी अथवा धार्मिक कामों के लिये भूमि बेच सकती थी। भूमिकर सभा ही वसूल करती थी। वह द्रव्य अथवा भूमि के रूप में निधियों या धरोहरों की ट्रस्टी होती थी। उसे स्थानीय अपराधों के सम्बन्ध में न्याय करने का अधिकार प्राप्त था। ग्राम-सभा मठों की सहायता से संस्कृत और तामिल भाषा तथा साहित्य की शिक्षा का प्रबन्ध करती थी। गाँवों की रक्षा, सड़क, सिंचाई, मनोविनोद की व्यवस्था भी ग्राम-सभा करती थी। सरकारी अधिकारी ग्राम-सभाओं के कार्य-संचालन और लेखे-जोखे का निरीक्षण करते थे। इस प्रकार के स्थानीय शासन से जनता में आत्म-निर्भरता रहती थी और केन्द्रीय सरकार का दायित्व भी हल्का हो जाता था।

राजस्व-विभाग—राज्य के आय के मुख्य साधन भूमि, उद्योग-धंधों और व्यापर के ऊपर कर थे। समय-समय पर भूमि की नपाई और प्रबंध होता था। भूमि की उपज का लगभग छठवां भाग सरकार को मिलता था। भूमिकर नकद या अनाज के रूप में वसूल होता था। नमक-कर, सिंचाई-कर, चुंगी और न्यायालयों में आर्थिक दण्ड से भी सरकार को आमदनी होती थी। सामन्त या अधीन राजाओं से वार्षिक कर मिलता था। करों से आवश्यकतानुसार छूट भी मिलती थी। अनाज के माप की इकाई कलम् थी जो लगभग तीन मन के बराबर होती थी। चोल-राज्य में चालू सोने का सिक्का कासु था जो $\frac{1}{6}$ औंस के बराबर होता था। चाँदी के सिक्के नहीं चलते थे। छोटी-छोटी वस्तुओं के खरीदने में कौड़ियों का भी उपयोग होता था। सरकार अपने आय को राज-परिवार, अधिकारियों के वेतन, नगर और मंदिर-निर्माण, सिंचाई, सड़क, शिक्षा तथा अन्य लोकोपकारी कामों में खर्च करती थी।

सेना-विभाग— प्रथम राजराज और राजेन्द्र अच्छे सैनिक-संगठन कर्ता थे। उन्होंने स्थानीय खेतिहर और पशुपालक लोगों को सैनिक शिक्षा देकर विशाल सेना तैयार की तथा उत्तर भारत से क्षत्रिय सैनिकों को भी बुलाया। चोलों के पास स्थल और जल-सेना दोनों ही अच्छी तरह से संगठित थीं। उन्हींकी सहायता से उन्होंने भारत के प्रदेशों तथा समुद्रपार पूर्वी द्वीपसमूह पर विजय की। स्थल सेना के मुख्य अङ्ग थे (१) पैदल (२) धनुर्धर (३) हाथी (४) अश्वारोही और जंगल में युद्ध करने वाले सैनिक। सेना कई सैनिक छावनियों में बटी हुई थी जिन्हें कडगम् (कटक) कहते थे। ब्राह्मण सेनापतियों को ब्रह्माधिराज कहा जाता था। उनके अतिरिक्त सेना के अन्य उच्च अधिकारी और छोटी-छोटी इकाइयों के अध्यक्ष थे।

## चोल-कला

चोल-राजा जिस प्रकार अपनी विजयों और शासन-प्रबंध के लिये प्रसिद्ध थे वैसे ही साहित्य और कला को प्रश्रय देने के लिये भी। उनके समय में संस्कृत और तामिल दोनों ही भाषाओं और साहित्यों की उन्नति हुई। कला के क्षेत्र में अपने विशाल और भव्य भवनों और मंदिरों तथा धातु और पत्थर की बनी अनेक सुन्दर मूर्तियों के लिये

वे विख्यात हैं। चोल-मंदिरों में विशालकाय विमान और विस्तृत आँगन उनकी मुख्य विशेषतायें हैं। पीछे द्रविड-शैली के मंदिरों में गोपुरम (मुख्य द्वार) की प्रधानता हो गयी जो कभी-कभी मंदिरों से भी ऊंचे होते थे और मीलों से दिखायी पड़ते थे। प्रथम राजराज और प्रथम राजेन्द्र दोनों ही शैव थे और उन्होंने कई मंदिरों और भवनों का निर्माण कराया। तंजौर में राजराजेश्वर नामक मंदिर राजराज का बनवाया हुआ है। इसका विमान ८२ फीट के आधार पर १६० फीट ऊंचा बना है और इसमें १३ तल हैं। इसका शीर्ष एक पत्थर का बना २५ फीट ऊंचा और ८० टन भारी है। तंजौर में दूसरा भव्य मंदिर सुब्रह्मण्यम् का है। राजेन्द्र ने अपनी नयी राजधानी गंगैकोंड-चोलापुरम में कई राजप्रासाद और मंदिर बनवाये। इस काल की देवताओं और राजाओं की बनी मूर्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। चोल राजाओं ने सुन्दर झीलों का निर्माण कराया और कई नगर बसाये।

## धार्मिक अवस्था

चोल-राजाओं का प्रधान धर्म शैव-मत था और द्रविड-प्रदेश की प्रजा में भी इसी धर्म की प्रधानता थी। परन्तु वे दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति उदार थे। शैव-मत के अतिरिक्त वैष्णव, बौद्ध और जैन-सम्प्रदाय भी प्रचलित थे और राज्य की उदारता और दान का द्वार इनके लिये भी खुला हुआ था। प्रथम राजराज ने शैव होते हुए भी विष्णु-मंदिर बनवाया और बौद्ध विहारों को दान दिया। उसके समय में जैन लोग भी शांति के साथ अपने धर्म का पालन करते थे। धार्मिक उदारता का एक अपवाद प्रथम कुलोत्तुंग नामक राजा था, जिसके दुर्व्यवहार के कारण वैष्णव आचार्य रामानुज को चोल-राज्य छोड़ कर होयसाल की राजधानी द्वारसमुद्र जाना पड़ा। परन्तु इस अनुदार नीति को कुलोत्तुंग के पुत्र विक्रम ने बदल दिया और रामानुज को वापस बुला लिया। धार्मिक कृत्यों के सम्बंध में उल्लेखनीय बात यह है कि चोल-लेखों में वैदिक कर्म-काण्ड की चर्चा बहुत कम मिलती है; केवल एक राजा राजाधिराज के लेखों में अश्वमेध का उल्लेख है। पूजा-पद्धति में मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा की प्रधानता थी और दान, व्रत, उपवास आदि का जनता में प्रचार था।

## ३. मदुरा का पाण्ड्य-वंश

पाण्ड्यों का प्राचीन राज्य द्रविड़-प्रदेश के दक्षिण-पूर्व छोर का भाग था। इसकी राजधानी मदुरा थी जो उत्तर भारत की मथुरा के अनुकरण पर बसायी गयी थी। अनुश्रुति के अनुसार पाण्ड्य-वंश कुरुवंशी पाण्डवों से उत्पन्न हुआ था। उनकी राजधानी का नाम मथुरा इस अनुश्रुति का समर्थन करता है।

पाण्ड्य-वंश का प्राचीन इतिहास अन्धकारमय है, परन्तु चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से इसका साहित्य उल्लेख मिलने लगता है। अष्टाध्यायी पर कात्यायन के भाष्य और वाल्मीकि-रामायण में पाण्ड्यों की चर्चा है। महावंश के अनुसार लंका के राजकुमार विजय ने बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ ही दिनों बाद एक पाण्ड्य-राजकुमारी से विवाह किया था। अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज़ के भारत-वर्णन, तथा अशोक के उत्कीर्ण लेखों में स्वतंत्र पाण्ड्य-राज्य के उल्लेख पाये जाते हैं। कलिंग-राज खारवेल के हाथी गुम्फा लेख से मालूम होता है कि खारवेल ने पाण्ड्य-राजा को हराया था और उससे उपहार में हाथी, घोड़े, रत्न, मणि और मोती के ढेर लिये। यूनानी लेखक स्ट्रैबो के अनुसार पाण्ड्य-राजा ने २० ई० पू० में रोमन सम्राट अगस्टस सीजर के पास अपना दूत भेजा था। ईसवी संवत् के बाद पाण्ड्य-राज्य का इतिहास कुछ अधिक प्रकाश में आने लगता है। दूसरी शताब्दी में पाण्ड्य-राजा नेडुम-चेलियन ने अपने शत्रुओं को तलैयानगानाम् (तंजौर जिले में) नामक स्थान पर हराकर अपने राज्य का विस्तार किया। इसके बाद फिर आंध्र-साम्राज्य के प्रसार और पल्लवों के उदय के कारण पाण्ड्यों की शक्ति शिथिल हो गयी। छठवीं शताब्दी में कलभ्रों ने कुछ समय के लिये पाण्ड्य-राज्य पर अधिकार कर लिया। हुयेन-संग के अनुसार पाण्ड्य-राज्य पल्लव-राज्य का करद था। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाण्ड्य-राज्य का पुनरुद्धार होने लगा।

सातवीं शताब्दी के अन्त से लेकर नवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अरिकेशरी मारवर्मन् और उत्तराधिकारियों के समय में पाण्ड्यों ने चोल, केरल तथा अन्य पड़ोसी राज्यों को हराकर अपने राज्य का विस्तार किया। इसके बाद चोलों और पल्लवों से उनका संघर्ष होता रहा। नवीं शताब्दी के अंत में पल्लवों का पतन करने में उन्होंने चोलों

की सहायता की। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि चोल-राज्य के उत्कर्ष के समय ( लगभग ६२०-१२०० ई० ) उनको चोलों के आधिपत्य में रहना पड़ा, यद्यपि पाण्ड्य-राजा बीच-बीच में स्वतंत्र होने की चेष्टा करते रहे। ११६० ई० में जटावर्मन्, कुलशेखर पाण्ड्य-राजा हुआ। उसके समय से फिर पाण्ड्यों की शक्ति प्रबल होने लगी और इसके बाद लगभग एक शताब्दी तक द्रविड-प्रदेश की राजनीति में उनकी प्रधानता रही। जटावर्मन् का पुत्र मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (प्रथम) (१२१६-३८ ई०) बड़ा शक्तिमान् हुआ। उसने चोलों से उरगपुर और तंजौर छीन लिया और उनको अधीन बनाया, किन्तु द्वारसमुद्र के होयसालों के हस्तक्षेप के कारण चोल-शक्ति का अन्त न कर सका। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य का पुत्र जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य बड़ा वीर और महत्वाकांक्षी था। उसके समय में पाण्ड्य-शक्ति का चरम-उत्कर्ष हुआ। उसने पूर्णतः चोलों का अन्त करके कांची पर अधिकार किया और चेर-राज्य और लंका को अपने अधीन बनाया। उसने युद्ध में द्वारसमुद्र के होयसालों, वारंगल के काकतीयों और सेन्दमण्डलम् के पल्लव-सामन्तों को हराकर सारे दक्षिण-भारत में अपना आतंक जमाया। उसके बाद उसका पुत्र मारवर्मन् कुलशेखर भी शक्तिमान् और विजयी था। उसके समय में वेनिस ( इटली में ) निवासी यात्री मारको पोलो ने दक्षिण में यात्रा की। वह पाण्ड्य-राज्य की समृद्धि, राजसभा और प्रजा का वर्णन करता है। कुलशेखर के बुढ़ापे में उसके लड़के वीर पाण्ड्य और सुन्दर राज्याधिकार के लिये आपस में लड़ने लगे। इसी सिलसिले में कुलशेखर मारा गया और सुन्दर राजा हुआ। इन आंतरिक लड़ाइयों से पाण्ड्यों की शक्ति क्षीण हो गयी थी। १३१० ई० में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने मदुरा पर आक्रमण किया और उसको लूटा, परन्तु पराजित और दुर्बल पाण्ड्य-राज्य का अन्त नहीं किया। कुछ दिनों के बाद अलाउद्दीन ने खुसरू खाँ को फिर सुदूर दक्षिण भेजा और उसने पाण्ड्य-राज्य का अंत किया।

## ४. चेर-राज्य

द्रविड-प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में समुद्रतट पर प्राचीन चेर-राज्य उस स्थान पर था जहाँ आजकल मद्रास-प्रांत का मलाबार जिला

और त्रावनकोर, कोचीन तथा पुदुकोट्ट राज्य हैं। चेर और केरल प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं और केरल में बोली जाने वाली मलयालम-भाषा का क्षेत्र ही प्राचीन काल में चेर-राज्य था। चेरों की उत्पत्ति कैसे हुई यह बतलाना कठिन है। कुछ विद्वानों का मत है कि वे द्रविड-जाति के थे यद्यपि उन्होंने आर्य-वर्णव्यवस्था में क्षत्रियपद पा लिया था और उनका विवाह-सम्बंध दूसरे क्षत्रिय राजवंशों के साथ होता था।

चेर-राज्य का सबसे पुराना उल्लेख अशोक के उत्कीर्ण लेखों में मिलता है जहाँ सुदूर दक्षिण के प्रत्यन्त ( सीमा पर स्थित ) राज्यों चोल, पाण्ड्य, सतिय पुत्र के साथ केरलपुत्त (केरल-पुत्र ) का नाम भी आता है। यह केरल-पुत्त ही पीछे चेर-राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी में पेरुनार नामक राजा यहाँ हुआ जो चोलों के साथ लड़ाई में मारा गया। कुछ समय के पश्चात् अदाम नामक चेर राजा ने चोल-राज करिकाल की लड़की से विवाह किया। इसके बाद शिलप्पदिकारम् नामक तामिल-ग्रंथ में सेनगुत्तवन नामक राजा का वर्णन मिलता है जो चोल-राजकुमारी से उत्पन्न अदाम का पुत्र था। उसकी विजयों की अतिरंजित कहानियां पायी जाती हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने अपने पड़ोसी राज्यों पाण्ड्य और चोल को हराकर चेर-राज्य का विस्तार किया। फिर क्रमशः आंध्रों और पल्लवों के उत्कर्ष के समय-चेर-राज्य की गति मन्द पड़ गयी और वह अधीन राज्य हो गया। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पल्लवों के साथ चेरों का युद्ध होता हुआ दिखायी पड़ता है। पल्लवों ने चेर-राज्य का कुछ भाग छीन लिया। इसके विपरीत चोलों के साथ चेर-राज्य का मैत्री का सम्बंध था, किन्तु दसवीं शताब्दी में जब चोलों की शक्ति बढ़ी तब उन्होंने चेर-राज्य को अपने अधीन कर लिया। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चेर-राज्य पर चोलों का आधिपत्य रहा। चोलों के ह्रास और पाण्ड्यों के पुनरुत्थान के समय १३वीं शताब्दी में चेर-राज्य पाण्ड्यों के आधिपत्य में चला गया। १३१० ई० में जब मलिक काफूर ने मदुरा पर आक्रमण किया तब चेर-राज रविवर्मन् कुलशेखर ने अवसर पाकर चोल और पाण्ड्य-राज्यों के कुछ भागों को छीन कर अपने राज्य को काफी बढ़ा लिया, किंतु थोड़े ही दिनों के बाद उसकी प्रगति वारंगल के काकतीय-वंशी राजा, प्रथम रुद्र के कारण रुक गयी।

रविवर्मन् के बाद इस वंश का कोई प्रसिद्ध राजा नहीं हुआ और राज-वंश क्रमशः विलीन हो गया।

## ५. लंका अथवा सिंहल

भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिण में लटकता हुआ आम के आकार का एक द्वीप है जो लंका अथवा सिंहल कहलाता है। यह भारत की मुख्य भूमि से एक सँकरे और उथले समुद्र से, जिसमें बीच-बीच में पहाड़ियाँ पानी के ऊपर निकल आयी हैं, अलग होता है। भूगोल, जाति, राज-नीति, धर्म, भाषा और अर्थनीति सभी दृष्टियों से लंका भारत का ही प्राकृतिक भाग है। वैसे तो सारे भारत से उसका सम्बन्ध था, परन्तु द्रविड-प्रदेश से इसका बहुत घना सम्बन्ध रहा है।

लंका के मूल निवासी बद्दा जाति के थे, परन्तु द्रविड और आर्य रक्त का काफी मिश्रण यहाँ की जनता में हुआ है। लंका की अनु-श्रुति के अनुसार उसके उत्तरी भाग में कभी प्राचीन काल में नाग-जाति के लोग रहते थे, इसलिये उस भाग को नागद्वीप कहते थे। नाग-जाति भारत से ही लंका में आयी थी। रामायण के समय में लंका और भारत के सम्बंध का वर्णन उस नाम के ग्रंथ में पाया जाता है। भग-वान् बुद्ध से कुछ समय पहले भारतवर्ष से जो जातीय धारायें लंका पहुंचीं उन्होंने वहाँ के इतिहास को बहुत प्रभावित किया। महावंश नामक बौद्ध ग्रंथ में यह अनुश्रुति दी हुई है कि वंग के राजा की कन्या को, जो कलिंग-राज की रानी थी, लाट दक्षिण गुजरात का एक सिंह (= सिंह नामान्त का कोई क्षत्रिय राजकुमार) बलात् उठा ले गया। उन दोनों से सिंहबाहु नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ और सिंहवल्लि नाम की एक कन्या। अपने पिता को मारकर सिंहबाहु लाट का राजा हुआ और सिंहपुर को अपनी राजधानी बनाया। सिंहबाहु का पुत्र विजय हुआ जो नियम भंग के कारण पिता द्वारा निर्वासित कर दिया गया। वह अपने साथियों के साथ शूर्पारक (सोपारा) नाम की बन्दरगाह से चल कर लंका पहुंचा। वहाँ यक्षों को जीत कर कुवर्णा नाम की यक्ष-कन्या से विवाह किया। कुछ दिनों बाद उसको तथा उससे उत्पन्न सन्तानों को छोड़ कर मदुरा के पाण्ड्य-राजा की लड़की से विवाह किया। उस ने ताम्रपर्णी नाम के नगर को बसाकर उसको राजधानी बनाया और वहाँ पर ३८ वर्ष राज्य किया। इस घटना के बाद लंका द्वीप का नाम

सिंहल पड़ा, यहाँ की प्रजा में आर्यरक्त पर्याप्त मिल गया और यहाँ की भाषा द्रविड-प्रदेश के पास होती हुई भी आर्य-तत्त्व-प्रधान सिंहली हो गयी। आगे विजय के वंशज यहाँ बहुत दिनों तक शासन करते रहे।

लंका का दूसरा प्रसिद्ध उल्लेख अशोक के उत्कीर्ण लेखों में है, जहाँ द्रविड-प्रदेश के और राज्यों के साथ ताम्रपर्णी (=लंका) की भी गणना है। उस समय लंका मौर्य-साम्राज्य के बाहर एक प्रत्यन्त (सीमा पर) राज्य था परन्तु वह अशोक के प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत था। तत्कालीन लंका का राजा देवानांप्रिय तिष्य अशोक का मित्र था और बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को लंका भेजा था। उनके प्रचार से देवानांप्रिय तिष्य और उसकी प्रजा सभी बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गये। आन्ध्र-साम्राज्य के समय लंका का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में सिंहल (=लंका) भारतीय राजनीति के दायरे में फिर आ जाता है। इस प्रशस्ति के अनुसार सिंहल के निवासियों ने समुद्र-गुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया। बौद्ध-साहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि गुप्तों के समय में सिंहल का भारत से नियमित दौत्य-सम्बन्ध था।

पल्लवों के उदय के बाद से द्रविड-प्रदेश के राज्यों का सिंहल से बराबर राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध रहा। पल्लवों, चोलों और पाण्ड्यों का तो प्रायः सिंहल के ऊपर आधिपत्य था। परन्तु जब इस्लामी सत्ता द्रविड-प्रदेश में पहुँची तो धीरे-धीरे सिंहल का भारत से राजनैतिक विच्छेद प्रारंभ हुआ। पहले वहाँ अरबों का प्रभाव बढ़ा और पीछे पुर्तगीजों ने उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

# सत्रहवाँ अध्याय

## पूर्व मध्यकालीन भारतीय राजनीति, समाज और संस्कृति

### १. राजनीति

पिछले अध्याय में प्रान्तीय और वंशगत राज्यों का इतिहास दिया गया है। इससे मालूम होता है कि भारतवर्ष अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। कुछ राज्यों ने साम्राज्य बना कर देश में राजनैतिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न भी किया, परन्तु उनकी शक्ति और सफलता सीमित थीं; देश एक राजनैतिक सूत्र में बँध न सका। इससे भारत की समष्टि और एकता की भावना कमजोर पड़ गयी। दूसरी बात जो इस काल में हुई वह यह थी कि भारतीय राज-तंत्र प्रायः निरंकुश हो गये। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के पहले भारत में गणतंत्र और राजतंत्र दोनों प्रकार के राज्य थे जो एक दूसरे को प्रभावित करते और जागरूक रखते थे। विशेषकर गणतंत्रों के कारण जनता में राजनैतिक चेतना बनी रहती थी और राज्य के कामों में सामान्य प्रजा दिलचस्पी लेती थी। गण-तंत्रों के विनाश के कारण धीरे-धीरे सातवीं, आठवीं शताब्दी तक यह चेतना मर गयी। ग्राम-पंचायतें अब भी थीं किन्तु उनका सम्बन्ध स्थानीय प्रबन्ध से था, देश की राजनीति से नहीं। क्रमशः राज्य का सारा अधिकार राजा के हाथ में चला गया और प्रजा का उसमें कोई हाथ न रहा। इसका मानसिक परिणाम यह हुआ कि जनता में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, देशभक्ति आदि की भावनायें, जो किसी देश की रक्षा और समृद्धि के लिये आवश्यक हैं, शिथिल पड़ गयीं और उनके स्थान पर परावलम्बन, राज्य के प्रति उदासीनता, राजभक्ति, चाटुकारिता, दब्बूपन आदि की भावनाओं का उदय हुआ, जो किसी भी देश के राजनैतिक जीवन को भीतर से खोखला बना देते हैं।

तीसरी बात जो इस समय में दिखायी पड़ती है वह है विभिन्न राज्यों में परस्पर फूट, युद्ध, किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था या संघ का अभाव, सीमान्त-नीति तथा विदेशी राजनीति के प्रति उदासीनता। इसका सबसे बड़ा कुफल उस समय दिखाई पड़ा जब इस काल के अन्त में तुर्कों का भारत पर आक्रमण हुआ और प्रायः सभी भारतीय राज्य क्रमशः उनके सामने धराशायी होते गये। एक और बात का, जिसने भारत के राजनैतिक जीवन को प्रभावित किया, उल्लेख आवश्यक है। लगभग ५०० ई० में हूणों के आक्रमण से लेकर १००० ई० में महमूद गजनी के आक्रमण तक—पाँच सौ वर्ष के लम्बे काल में—अरबों के सीमित आक्रमण को छोड़ कर, विदेशी आक्रमण से भारत सुरक्षित रहा। यवन, शक, कुषण और हूणों के आक्रमणों को लोग भूल गये थे। इन सभी आक्रमणों ने अपने धक्के से देश को जागृत किया और उनकी प्रतिक्रिया में मौर्य, शुंग, आन्ध्र, गुप्त और पुष्यभूति-साम्राज्यों की स्थापना हुई थी। गत पाँच सौ वर्षों की सुरक्षा ने सतत जागरण को, जो किसी देश की स्वतंत्रता का सबसे बड़ा मूल्य है, शिथिल कर दिया। इस से देश में अनावश्यक आत्म-विश्वास, अहंकार तथा यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि भारत अजेय है और कोई विदेशी इसको जीत नहीं सकता। विदेशी आतंक से जो जागरूकता, संगठन, कठोर और संयत जीवन, विनय, देश के लिये आत्मबलिदान की भावना बनी रहती है, वह जाती रही। इसके कारण पाँच सौ वर्ष के बाद जब तुर्क आक्रमण हुआ तो देश दुर्बल सिद्ध हुआ।

राज्य के स्वरूप और शासन-पद्धति में कोई नया प्रयोग नहीं हुआ; प्राचीन राजतांत्रिक शासन प्रणाली का आंशिक और शिथिल अनुकरण होता रहा। केवल एक ही प्रकार के राज्य—राज-तंत्र (एक-तंत्र)—रह गये थे। राजा के देवत्व में लोग विश्वास करते थे और उसकी शक्ति निरंकुश और उसके कार्य अनियंत्रित हो गये थे। केवल प्राचीन धर्मशास्त्र और परम्परा का थोड़ा नियंत्रण उसके ऊपर था, किन्तु वह पर्याप्त नहीं था। प्राचीन मंत्रिपरिषद् जिसकी सामूहिक शक्ति और दायित्व होता था इस समय शिथिल और विघटित हो गयी थी; राजा के कुछ मंत्री होते थे, जो व्यक्तिगत रूप से उसको अलग-अलग परामर्श देते थे। केन्द्रीय शासन मौर्य और गुप्त शासन की तरह संघटित नहीं था। प्रान्तीय शासन और उसकी दूसरी छोटी इकाइयों

के नाम देश, भुक्ति, विषय आदि—प्रायः वे ही थे जो गुप्त-काल में पाये जाते हैं। किन्तु प्रान्तीय शासन अब अधिकांश केन्द्र से नियुक्त शासकों के हाथ में न होकर स्थानीय सामन्तों के हाथ में होता था जो बराबर स्वतंत्र होने का प्रयत्न करते थे और राज्य को दुर्बल बना देते थे। नगर और गाँव के स्थानीय शासन उत्तर भारत में पहले बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण और पीछे लगातार युद्ध के वातावरण के कारण छिन्न-भिन्न हो गये थे, यद्यपि छोटे-मोटे कामों के लिये गाँव-पंचायतें गैर-सरकारी रूप से चल रही थीं। परन्तु दक्षिण भारत में, विशेषकर द्रविड-प्रदेश में, ग्राम-सभा और नगर-सभा अभी संगठित थीं और उनका विघटन मुसलिम आक्रमण के समय न होकर अंग्रेजी-शासन के समय हुआ। शासन के मुख्य विभागों का ढाँचा अभी तक गुप्तकालीन था, किन्तु व्यवहार में उनमें भी विशृंखलता आ गयी थी। उदाहरण के लिये राजस्वविभाग के बहुत से अधिकारियों और अध्यक्षों के नाम इस समय नहीं पाये जाते हैं। हाँ, कई एक नये कर युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति करने और निरंकुश राजाओं की विलासिता को सँभालने के लिये लगाये गये थे। लोकोपकारी संस्थाओं और व्यक्तियों—ब्राह्मणों, शिक्षकों आदि - को केन्द्रीय कोष से वृत्ति न देकर भूमि-दान की प्रथा चल पड़ी थी। न्याय का शासन धर्मशास्त्र के आधार पर होता था, परन्तु न्यायालयों का संगठन प्राचीन धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्र के अनुसार न था। सेना का प्रबन्ध कई कारणों से शिथिल हो गया था। राज्य की सेना में सामन्त-सेना का बहुत बड़ा अंश होता था, जिसका विनय और अभ्यास नियमित नहीं था और कई सामन्तों की टुकड़ियां इकट्ठी होकर एक केन्द्रीय सेनापति के नेतृत्व में अच्छी तरह लड़ नहीं सकती थीं। सेना के अंगों में रथ तो छूट चुका था, परन्तु हाथियों की अब भी प्रधानता थी जो कभी-कभी बड़े घातक सिद्ध होते थे। अश्वारोही सेना किसी-किसी राजा की अच्छी थी, किन्तु इस समय यह भारत की विशेषता नहीं रह गयी थी। इसलिये सबल और द्रुतगामी तुर्कों की अश्वारोही-सेना के सामने बहुसंख्यक होते हुये भी भारतीय सेना हार जाती थी। नये शास्त्रों का निर्माण भी बन्द था; पुरानों की श्रेष्ठता कम हो गयी थी। रक्षक (पुलिस)-विभाग में भी जागरूकता नहीं मालूम पड़ती। चोरी और डकैतियों की संख्या बढ़ गयी थी।

मौर्य-कालीन गुप्तचर, जो आंतरिक अपराधों और षड्यंत्रों पर दृष्टि रखते थे और विदेशियों की गतिविधि का निरीक्षण करते थे, इस समय सुने नहीं जाते। इसका लाभ विदेशी लोग उठा रहे थे जिनकी आँखें भारत पर गड़ी थीं।

## २. समाज

पाँच सौ वर्षों में जिस तरह भारतीय राजनीति बाहर के प्रभाव से अछूती रहकर संकीर्ण बन गयी थी उसी प्रकार भारतीय समाज भी। इस काल के कुछ पहले और इसके प्रारम्भ में भी वर्ण-परिवर्तन संभव था। उदाहरण के लिये सभी वर्ण के लोग राज्य प्राप्त कर क्षत्रिय-पद को पा सकते थे। इसके दृष्टांत वाकाटक, गुप्त, पुष्यभूति और सिन्ध के शूद्र-राज-वंश थे। परन्तु इस समय सभी वर्णों और जातियों में जड़ता आ रही थी। अपने वर्ण, जाति, उपजाति के छोटे छोटे दायरे में सभी अपने को सुरक्षित समझते थे और प्रवृत्ति छोटी-से-छोटी इकाई में रहने की थी। इन सभी इकाइयों के सामाजिक नियम उपनियम बनते जाते थे जो सब इकाइयों को एक दूसरे से अलग करते थे। जिस तरह राजनीति में भारत की समष्टि और एकता की भावना दुर्बल हो गयी थी उसी प्रकार भारतीय समाज की एकता भी विभाजन की प्रवृत्ति से कमजोर हो गयी। विशाल भारतीय समाज में सभी वर्णों और जातियों को स्थान था, किन्तु उसमें सेन्द्रिय एकता नहीं थी। यह भारतीय समाज के संगठन की सबसे बड़ी दुर्बलता थी। एक तो इस प्रकार का समाज किसी अच्छी तरह संगठित समाज का सामना नहीं कर सकता था, दूसरे विभाजन और संकीर्णता के कारण वर्जनशीलता बढ़ती जा रही थी और कोई बाहरी जाति या तत्त्व भारतीय समाज में खप नहीं सकता था। सातवीं शताब्दी के पहले आनेवाली अनेक विदेशी जातियां उस समय के भारतीय समाज में मिल गयी थीं, किंतु इस काल में और इसके अन्त में आनेवाली जातियां समाज में नहीं पच सकीं। इसके लिये और भी कई कारण थे परन्तु भारतीयों की वर्जनशीलता भी इसके लिये जिम्मेदार थी।

इस समय के समाज में जड़ता और संकीर्णता प्रारम्भ हो गयी थी, फिर भी समाज में अभी कुछ लचीलापन था। सवर्ण विवाह अच्छा

माना जाता था, फिर भी अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक विवाह और खानपान अभी प्रचलित था। अनुलोम विवाह के कई उदाहरण पाये जाते हैं। ब्राह्मण-कवि राजेश्वर ने चाहुमान (क्षत्रिय) राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था। गहडवाल-राजा गोविन्दचन्द्र का विवाह बौद्धराजकुमारी कुमारदेवी से हुआ था। इस काल के धर्मशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन है। क्षत्रियों में राक्षस-विवाह (बलात् कन्या हरण) प्रचलित था। राज-कन्याओं के लिये स्वयम्वर की प्रथा भी थी। सयानी लड़कियों का विवाह होता था। विवाह के अवसर पर धार्मिक संस्कार और धूमधाम खूब किया जाता था।

समाज में स्त्रियों का अब भी ऊंचा स्थान था। कन्या के रूप में उनका पालन-पोषण तथा शिक्षण होता था। मण्डन मिश्र की स्त्री भारती काफी पढ़ी लिखी थी और उसने मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में मध्यस्थता की थी। राजशेखर की स्त्री अवन्तिसुंदरी उच्चकोटि की कविता करती थी। भास्कराचार्य की कन्या लीलावती गणित में प्रवीण थी। स्त्री और माता के रूप में भी स्त्रियों का आदर और सम्मान था। राजघराने की स्त्रियां राजनीति और शासन में भाग लेती थीं। काश्मीर, उड़ीसा और आन्ध्रदेश में कई रानियों ने राज-कुमारों की नाबालिगी में संरक्षिका का काम और राजशासन का निर्वाह किया था। कर्णाट के कई लेखों में स्त्रियों का प्रान्तीय शासकों और गाँव के मुखियों के रूप में उल्लेख है। काश्मीर में दिद्दा और वारंगल के काकतीय वंश में रुद्राम्बा नामक रानियों ने सिंहासनारूढ़ होकर शासन योग्यतापूर्वक किया। अभी तक स्त्रियों में पर्दा की प्रथा नहीं थी। राजवंश और धनीमानी घरानों में बहुविवाह की चलन थी। छोटी जातियों में विधवा-विवाह होता था, किंतु ऊपर की जातियों में इसका निषेध था। उच्च वर्गों में सती की प्रथा अब प्रारम्भ हो रही थी। इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी था। समाज में कुछ स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति करती थीं। देवदासी (मंदिरों को चढ़ावे में दी गयी लड़कियां जो नर्तकी और गुप्त रूप से वेश्यावृत्ति करती थीं) प्रथा का भी उदय इसी काल में हुआ।

## ३. धार्मिक अवस्था

गुप्त काल में जो धार्मिक परिवर्तन हुये थे उनका फल यह हुआ

था कि भारत में वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म सर्वमान्य और प्रधान हो गया था और क्रमशः बौद्ध और जैन-धर्म का ह्रास होने लगा था। ब्राह्मणों ने न केवल वैदिक-धर्म-यज्ञादि-का पुनरुत्थान किया किंतु उसको पौराणिक और भक्तिमार्गी रूप देकर लोकप्रिय और व्यापक बना दिया। पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ में भी कुमारिल और शंकराचार्य जैसे सुधारक ब्राह्मण-धर्म में हुये। कुमारिल ने तो वैदिक-कर्मकाण्ड पर जोर दिया, परन्तु उनका आंदोलन समय के प्रवाह के प्रतिकूल होने से कुछ जागृत होकर भी बहुत व्यापक नहीं हुआ। शंकराचार्य ने उस समय के जन-साधारण में प्रचलित ब्राह्मण-धर्म को एक बहुत ऊंचा तत्त्वज्ञान 'वेदांत' दिया। भारतीय जीवन पर इसकी छाप अभी तक बनी हुई है। इसमें प्राचीन उपनिषदों और गीता का दर्शन तो था ही, उनके पीछे की सब से प्रबल धार्मिक-धारा बौद्ध-धर्म और दर्शन का उत्तमांश भी आ गया। ऐसा कहा जाता है कि भारत में शंकराचार्य ने बौद्ध-धर्म का लोप किया। किंतु यह लोप युद्ध और वैमनस्य के द्वारा नहीं हुआ। अत्यन्त मैत्री-भाव से शंकर ने बौद्ध-धर्म के उच्च सिद्धांतों का अपने धर्म और दर्शन में समावेश किया और उस समय के पौराणिक धर्म ने बुद्ध को अपने दश प्रधान अवतारों में मान लिया। इसके बाद ब्राह्मण और बौद्ध-धर्म में कोई विशेष अन्तर न रहा और बौद्ध-धर्म क्रमशः नवजागृत ब्राह्मण या वैदिक-धर्म में विलीन हो गया।

यह पहले कहा गया है कि वैदिक-धर्म के पुनरुत्थान के समय उसमें पौराणिक धर्म और भक्तिमार्ग की धारायें भी चल निकली। भक्तिमार्गी सम्प्रदायों में वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे; ब्राह्म, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय भी भक्तिमार्ग में छोटी धाराओं के रूप में थे। इन सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा और मंदिरों की प्रधानता थी। भक्तिमार्ग ने गुप्तकालीन जनता में एक नयी प्रेरणा उत्पन्न कर दी थी। परन्तु नवीं शताब्दी से उसमें वाह्याडम्बर और भ्रष्टाचार आने लगे। वैष्णव-सम्प्रदाय में गोपीलीला और अन्तरङ्ग-समाज, शैव साम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक और अघोर-पंथ, शाक्त-सम्प्रदाय में आनंद-भैरवी अथवा भैरवी-चक्र, योगियों में 'सिद्धि' मार्ग आदि कई अश्लील और अनैतिक पंथ उत्पन्न हो गये। इस काल के पिछले भाग में धर्म का स्वरूप बहुत से साधनों में, विशेष कर बिहार, काश्मीर, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में तांत्रिक हो गया और उसके

कई सम्प्रदाय अतिमार्ग या वाममार्ग चल पड़े जिनमें पंच मकारों — मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—का सेवन धर्म के नाम पर होता था। शंकराचार्य ने दर्शन और धर्म का प्रचार करने के लिए भारत के चार कोनों में चार-चार मठ स्थापित किये थे—उत्तर हिमालय में बदरिकाश्रम, दक्षिण मैसूर में शृंगेरी, पूर्व उड़ीसा में पुरी और पश्चिम सुराष्ट्र में द्वारका। कुछ समय तक इन मठों और इनकी शाखाओं और प्रशाखाओं के शंकराचार्य और दूसरे सन्यासी धर्म का प्रचार करते रहे, परन्तु आगे चलकर उनमें भी आलस्य, प्रमाद, विलासिता और भ्रष्टाचार आ गये।

धर्म में ह्रास और भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये कई एक सन्त-महात्मा बीच-बीच में हुये। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्रीरङ्गम (त्रिचनापल्ली) में वैष्णव सन्त और दार्शनिक रामानुज का जन्म हुआ। उन्होंने दर्शन में विशिष्टाद्वैत और धर्म में भक्तिमार्ग का प्रचार किया। कर्णाटक में मध्व ने द्वैतवाद का प्रचार किया। द्रविड-प्रदेश में तो वैष्णव और शैव-महात्माओं की एक धारा-सी चलती रही। वैष्णव-भक्त (आलवार) और शैव-भक्त (नायन्मार) के तामिल ग्रंथों का वहाँ बड़ा आदर है। काश्मीर में नव्य शैव धर्म और दर्शन और कर्णाटक और महाराष्ट्र में लिंगायत या वीरशैव आदि सुधारक मार्ग चले। इनसे वैदिक या ब्राह्मण धर्म का ह्रास तो नहीं रुका, परन्तु उसमें इतनी शक्ति आ गयी कि वह आक्रमण के समय कठोर प्रचारक और असहिष्णु इस्लाम धर्म का सफलता के साथ सामना कर सका।

हर्षवर्धन के समय बौद्ध-धर्म के काफी अनुयायी थे और उसका स्वरूप उच्च और पवित्र था। परन्तु आगे चलकर जिस प्रकार वैदिक या ब्राह्मण-धर्म में विलासिता और भ्रष्टाचार आ गये वैसे ही बौद्ध-धर्म में भी। इसका भी तांत्रिक और वाममार्गी स्वरूप हो गया। वज्रयान आदि सम्प्रदायों का इसमें उदय हुआ जिससे बौद्ध संघाराम और विहार गुह्य-समाजों और भ्रष्टाचार के केन्द्र हो गये। बौद्ध-धर्म के ह्रास का यह सबसे बड़ा कारण था। बौद्ध-धर्म का ह्रास तो हुयेन-संग नामक एक चीनी यात्री के अनुसार सातवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गया था। उसने सिंध-प्रांत में विलासी और धर्म विमुख भिक्षु और भिक्षुणियों को देखा था। आठवीं शताब्दी के शुरू में जब अरब

आक्रमण सिंध पर हुआ तब इस विकृत बौद्ध-धर्म का निकम्मापन सिद्ध हो गया। वज्रयान का उदय सबसे पहले आन्ध्र-देश के श्रीपर्वत पर हुआ। वहाँ से वह उडीसा, बिहार और बंगाल में पहुंचा। पहले महायान ने भगवान् बुद्ध को संसार के त्राता के रूप में ग्रहण किया। नये वज्रयानी सम्प्रदाय ने उनको वज्र-गुरु का बाना दिया जिनको अतिमानुष सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन्हीं सिद्धियों को पाने के लिये वज्र-यानी गुह्य-साधनायें करते थे। इनमें पद्मसंभव, दीपंकर श्रीज्ञान उप-नाम अतिशा आदि प्रसिद्ध आचार्य हुये। मुसलिम आक्रमण के पहले बौद्ध-धर्म का यही मुख्य रूप था। एक तरफ आंतरिक ह्रास दूसरी ओर वैदिक या ब्राह्मण-धर्म की दूसरे धर्मों को आत्मसात् करने की क्षमता और तीसरी ओर बौद्ध-धर्म के प्रति इसलाम की कट्टर शत्रुता ने उसका भारत में अंत कर दिया।

यद्यपि जैन-धर्म में भी मूर्ति-पूजा और मंदिर-धर्म का काफी विस्तार हो गया था और उसके मूल ज्ञान और तपस्या के मार्ग ने अंध-विश्वास और एक प्रकार के कर्मकाण्ड का रूप ग्रहण कर लिया था, फिर भी उसमें वे गुह्य-समाजी विचार और भ्रष्टाचार नहीं फैले जो ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में घुस गये थे। फिर भी इसके कठोर आचार और उदासीन वृत्ति से लोगों में इसके लिये आकर्षण बहुत कम हो गया था। उत्तर भारत में इसके माननेवालों की संख्या बहुत कम हो गयी थी। इस समय इसके केन्द्र दक्षिण पश्चिम राजपूताना, मालवा, सुराष्ट्र, महाराष्ट्र, कर्णाटक और द्रविड-प्रदेश के कुछ भागों में थे।

ऊपर के सभी धर्मों में सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों की संख्या बढ़ती गयी। इसका फल यह हुआ कि भारतीय समाज भी छोटे-छोटे धार्मिक टुकड़ों में बंट गया। कुछ अपवादों को छोड़कर सभी सम्प्र-दायों में एक दूसरे के प्रति उदारता और सहनशीलता अवश्य थी, परन्तु जनता इनके कारण भीतर से बिखरती जा रही थी और उसका एकीकरण कठिन हो गया। जैसा कि कहा गया है इन सम्प्रदायों में तंत्र और भक्तिमार्ग की प्रधानता रही। तंत्र तो अपने भ्रष्टाचार से नष्ट हो गया, परन्तु भक्तिमार्ग स्थायी रहा और इसका प्रभाव जनता पर बहुत पड़ा। भक्ति के शुद्ध रूप के बिगड़ जाने पर इसके भी कई अवांछनीय परिणाम हुये, जैसे, ईश्वर पर जनता का परावलम्बन, इस

लोक से कल्पित परलोक को अधिक महत्व देना, संसार से पलायन, अहिंसा का केवल शारीरिक अर्थ और उस पर अनुचित जोर देना, मनुष्य के कोमल भावों—मैत्री, करुणा, दया, प्रेम आदि—का अत्यधिक उद्रेक और मानव अस्तित्व और देश-रक्षा के लिये आवश्यक कठोर भावों, क्रोध, शौर्य, वीरता, धीरज, अन्याय का तीव्र विरोध आदि—का दमन। जनता में कई एक अंधविश्वास भी घर कर गये। कलियुग की हीनता में विश्वास और अपने भविष्य में अनावस्था ने तथा दैववाद या भाग्यवाद के सिद्धांतों ने मानव व्यक्तित्व और मानव पुरुषार्थ को दबा दिया। फलित ज्योतिष में अनुचित विश्वास ने भी मनुष्य की क्रिया-शक्ति को शिथिल किया। किसी भी परिस्थिति में मंदिर-मूर्ति ब्राह्मण और गाय की अवध्यता और पवित्रता में विश्वास ने भी भारतीयों को विवेकहीन और दुर्बल कर दिया। साधारण जनता में भूत-प्रेत, जादू, टोना आदि का काफी प्रचार था और उसके धार्मिक और नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता था।

## ४. भाषा और साहित्य

सम्पूर्ण पूर्व मध्यकाल में संस्कृत भारत की संस्कृति और राजनीति की भाषा थी। प्रायः सभी महत्वपूर्ण ग्रंथ, सभी विषयों पर, संस्कृत में ही लिखे गये। राजकीय कागज-पत्र, प्रशस्ति, दान-पत्र आदि संस्कृत में ही लिखे जाते थे। केवल द्रविड-प्रदेश के कुछ उत्कीर्ण लेख वहां की स्थानीय भाषा में हैं, परन्तु प्रायः उनका आधा भाग—मंगलाचरण और प्रशस्ति—संस्कृत में ही लिखे गये थे—संस्कृत की प्रधानता होते हुए भी प्रांतीय भाषाओं—हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, तामिल, तेलगु आदि—का विकास इसी काल के अन्तिम भाग में प्रारम्भ हुआ। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण और बाहरी आक्रमणों से उत्पन्न परिस्थिति ने आगे चल कर इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया। विदेशी राजनीति और धर्म भारत की संस्कृति, इतिहास और धर्म की भाषा को, देश के पुनरुत्थान के भय से नहीं सहन कर सकते थे। वे प्रांतीय बोलचाल की भाषा को, जिसमें साधारण काम-काज हो सकते थे, प्रोत्साहन देते थे। जनता की ऊंची आकांक्षायें दबी रहती, अतः वह इसी भाषा से संतोष करती थी।

संस्कृत साहित्य, शास्त्र और विद्या की जो धारा गुप्त-काल में प्रवाहित हुई थी उसका वेग पूरे इस काल भर बना रहा, यद्यपि उसकी गति और स्वरूप में अन्तर आ गया था। हर्षवर्धन और बाण की कृतियों से हम परिचित हैं। उनके बाद भवभूति, वाक्पति राज, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, विल्हण, कल्हण, जयदेव, भट्टनारायण, कृष्ण-मिश्र, भोज, विग्रहराज माघ, श्रीहर्ष आदि अच्छे कवि कथालेखक और नाटककार हुए। इनमें भवभूति के नाटक—शृंगार रस-प्रधान मालवी माधव, वीर रस-प्रधान महावीर चरित और करुण-रस प्रधान, उत्तर-रामचरित—कालिदास के नाटकों से होड़ लगाते हैं। राजशेखर के प्राकृत काव्य कर्पूर-मञ्जरी और विद्धशाल भञ्जिका तथा काव्य-मीमांसा नामक रीतिशास्त्र-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। कृष्ण मिश्र का प्रबोध-चंद्रोदय एक दार्शनिक नाटक है। श्रीहर्ष का नैषध-चरित नामक महाकाव्य अपने पाण्डित्य के लिये विख्यात है। जयदेव की कोमल-कान्त पदावली से अलंकृत उनका गीत गोविन्द आज भी लोकप्रिय है। दार्शनिक लेखकों में शंकर, रामानुज, मध्व, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि की रचनायें बहुत उच्च कोटि की हैं। साहित्य और दर्शन के अतिरिक्त व्याकरण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, दण्डनीति, गणित, संगीत आदि शास्त्रों पर बहुत से उत्तम ग्रंथ लिखे गये। परन्तु निरीक्षण करने से मालूम होता है कि इस काल की कृतियों में वह सरलता सुन्दरता और मौलिकता नहीं है जो पहले के संस्कृत-साहित्य में थी। काव्य में सहज सौन्दर्य का स्थान अनावश्यक अलंकार और सजावट ने ले लिया; सरल वर्णन और व्यञ्जना के स्थान पर कष्ट कल्पना बैठ गयी। दार्शनिक-ग्रंथों में उपनिषदों, गीता और प्रारम्भिक पाली-ग्रंथों तथा प्राकृत आगमों की वास्तविक अनुभूति का स्थान बहुत अंश में शुष्क तर्क ने छीन लिया। धर्मशास्त्र और दण्डनीति में कोई मौलिक रचना नहीं हुई; लेखक केवल अतीत का अनुकरण करते रहे; उनमें से अधिकांश भाष्यकार और संग्रह-कर्ता थे। गणित, ज्योतिष और विज्ञान में कोई नये ग्रंथ नहीं लिखे गये। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत साहित्य का रचनात्मक काल पीछे छूट गया था; लेखकों में आत्म-विश्वास का अभाव था; वे बराबर अतीत का मुंह ताकते और नयी समस्याओं के ऊपर लेखनी उठाने में

घबड़ाते थे। फिर भी पुरानी परिपाटी की शिक्षा काफी प्रचलित थी। देश में अनेकों बौद्ध-विहार, मन्दिर और मठ शिक्षा के केन्द्र थे। स्वतन्त्र विद्यालय भी स्थापित थे। पुस्तकालय भी अनेक थे। राज-सभाओं में भी पण्डितों और विद्वानों का आदर होता था।

## ५. ललित कला

तुर्कों के आक्रमण और काल के प्रभाव से इस युग की बहुत सी कृतियां नष्ट हो गयीं। परन्तु जो थोड़ी उनमें बची हैं, या जिनके भग्नावशेष खड़े हैं, उनसे कला की ऊंचाई का पता लगता है। इस समय की कला पर तत्कालीन धार्मिक विश्वासों और पूजा-पद्धतियों का बहुत प्रभाव पड़ा। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी धर्मों में देव-मण्डल का विस्तार काफी हो गया था और अनेक देवताओं की पूजा के लिये मूर्तियां और मन्दिर बने हुये थे। मन्दिर अथवा देवालय-निर्माण की तीन शैलियां प्रचलित थीं—(१) उत्तर भारत में नागर-शैली, जिसकी विशेषता ऊंचे शिखर थे (२) दक्षिण में बेसर-शैली जिसके नमूने बीजापुर और उसके आसपास के चालुक्य-स्थापत्य में पाये जाते हैं (३) सुदूर दक्षिण में द्रविड-शैली, जिसके विशाल मंदिरों के ऊपर विमान अथवा रथ बने होते थे। पूर्व मध्यकालीन युग के स्थापत्य और मूर्तिकला में गुप्त-युग की सरलता और जीवन नहीं पाया जाता, फिर भी उनमें लालित्य और हस्तकौशल की कमी नहीं थी। अलंकार और सजावट की तो पराकाष्ठा हो गयी थी जिससे कला बोझिल थी। उत्तर भारत के मन्दिर-स्थापत्य के नमूने खजु-राहो ( बुन्देलखण्ड ) में चंदेल राजाओं के बनवाये मंदिरों, उडीसा में भुवनेश्वर के मंदिरों, आबू पर्वत पर देलवाड़ा के मंदिरों, उदयपुर (ग्वालियर) में उदयेश्वर मंदिर, काफिरकोट (डेरा इस्माइल खां) के मंदिर, काश्मीर के मार्तण्ड-मंदिर, हिंद-चीन में बोरोबुदुर के मंदिरों, जावा तथा सुमात्रा के मंदिरों में पाये जाते हैं। दक्षिण में बेसर अथवा चालुक्य शैली के मंदिर पाये जाते हैं। दक्षिण के मंदिरों में अजंता और इलोरा के गुहा-मंदिर प्रसिद्ध हैं। इलोरा का कैलास-मंदिर स्थापत्य का अद्भुत उदाहरण है। द्रविड-शैली के स्थापत्य में तंजोर, काञ्ची, मदुरा तथा मामल्लपुरम् के मंदिरों का उल्लेख किया जा सकता है। मंदिर-स्थापत्य के कई अंग होते थे—(१) गर्भ गृह

जिसमें मूर्ति की स्थापना होती थी (२) अंतराल (गर्भगृह के आगे का भाग) (३) मंडप (यात्रियों और दर्शकों के बैठने का स्थान) (४) तोरण (मंडप के आगे का अलंकृत द्वार)। द्रविड-प्रदेश के मंदिरों की चहारदीवारी (प्राकार) के द्वार पर एक विशाल गोपुर भी होता था। इन मंदिरों के ऊपर अपार सम्पत्ति खर्च की गयी थी और बाहरी आक्रमणकारियों के लिये ये आकर्षण के केन्द्र थे।

मंदिर-स्थापत्य की तरह मूर्तिकला का भी इस काल में बड़ा विकास हुआ। विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, ब्रह्मा, गणेश, यक्ष, किन्नर, गंधर्व आदि की मूर्तियां ब्राह्मण धर्म में; बुद्ध, अवलोकितेश्वर, बोधिसत्व आदि की मूर्तियां बौद्ध-धर्म और तीर्थकरों की मूर्तियां जैन-धर्म में उपासना और पूजा के लिये बनती थीं। द्रविड-प्रदेश में राजा और रानी की मूर्तियां भी मंदिरों में उपासक के रूप में प्रतिष्ठित होती थीं। मानव-मूर्तियों के अतिरिक्त पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पुष्पादि की आकृतियां भी मंदिरों के अलंकार में अंकित होती थीं। अधिकांश मूर्तियां तो पत्थर की बनती थीं; कुछ धातु की भी बनायी जाती थीं। द्रविड-प्रदेश में कांसे की बनी नटराज की मूर्तियां पायी जाती हैं। बहुत सी मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उत्तम कोटि की हैं। परन्तु साधारणतः वे अलंकारों से लदी हुई हैं; उनमें मौर्य अथवा गुप्तकालीन सरलता, वास्तविकता और सजीवता नहीं है। इस काल के चित्र-कला के नमूने अजंता और इलोरा की गुहाओं, बाघ (ग्वालियर राज्य) के गुहामंदिरों तथा दन्दान-अलिक, मीरान, लंका आदि के भग्नावशेषों में पाये जाते हैं। कला-मर्मज्ञों ने अजंता के रेखा-चित्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अभिनय, सङ्गीत, नृत्य, वाद्य आदि कलाओं में भी इस युग के भारतीयों ने काफी उन्नति की थी।

# अठारहवां अध्याय

## भारतीय उपनिवेश और संस्कृति का प्रसार

बहुत से लेखकों की यह धारणा रही है कि भारत बराबर संसार के दूसरे देशों से अलग रहा, जिसका परिणाम, उनके विचार में, यह हुआ कि वह बाहरी प्रभावों से अछूता था और स्वयं दूसरे देशों को प्रभावित न कर सका। भारत की मध्यकालीन और आधुनिक कूपमण्डूकता, वर्जनशीलता तथा पुरातनवादिता से उनकी धारणा पुष्ट होती है, ऐसा उनका ख्याल है। परन्तु मध्य एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा अन्य स्थानों में आधुनिक ऐतिहासिक अनुसंधानों और प्राचीन साहित्य के अध्ययन ने ऊपर की धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है। इन अनुसंधानों से मालूम हुआ है कि प्राचीन भारतवासी अपनी भौगोलिक सीमा के भीतर बन्द नहीं थे वे पर्वत और समुद्र की चहारदीवारी को लाँघकर सुदूर देशों में पहुँचे थे और वहाँ पर अपने व्यापार राजनीति और संस्कृति के केन्द्र स्थापित किये थे। इसलिये भारतवर्ष का पूरा इतिहास जानने और भारतीयों की साहसी प्रतिभा पहचानने के लिये आवश्यक है कि उसके प्राचीन उपनिवेशों और सांस्कृतिक प्रसार का उल्लेख किया जाय।

**बाहर के देशों से प्राथमिक सम्पर्क**—अत्यन्त प्राचील काल से भारत का सम्बन्ध बाहरी देशों से रहा है। उत्तर-पाषाण-कालके जो अवशेष यहाँ मिले हैं उनसे मालूम होता है कि पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन, हिन्द-चीन तथा पूर्वी द्वीपसमूह के लोगों से भारतीयों का उस समय भी सम्पर्क था। पौराणिक अनुश्रुति में भी भारत के विस्तार और भारतीय आर्यों के बाहर जाने का उल्लेख पाया जाता है। मत्स्यपुराण में भारत के नव भेद (उपनिवेश) बतलाये गये हैं जो समुद्र द्वारा एक दूसरे से अलग थे और आसमुद्र-

हिमाचल भारत उनका केन्द्र था। शिवपुराण (७. ६०. १६) के अनुसार मनु के पुत्र नरिष्यन्त के वंशज पश्चिमोत्तर दर्रों को पार कर उत्तर दिशा में गये और शक आदि जातियों के पूर्वज हुये। इसी प्रकार इक्ष्वाकु के बड़े लड़के विकुक्षि के पन्द्रह वंशजों ने सुमेरु (=सुमेरिया) के उत्तर के प्रदेश में और उसके एक सौ चौदह वंशजों ने सुमेरु के दक्षिण के प्रदेश में अपने उपनिवेश बनाये। वायुपुराण से मालूम होता है कि चन्द्रवंशी आर्यों में से द्रुह्यु-वंश के राजा प्रचेतस् के सौ वंशजों ने पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) से निकल कर उत्तर की ओर प्रस्थान किया और मध्य एशिया के म्लेच्छराष्ट्रों (विदेशों) पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इन उपनिवेशों के द्वारा संस्कृत भाषा और आर्य-संस्कृति का प्रभाव उन प्रदेशों पर पड़ा। मेसोपोटामिया में प्राप्त वोगाज-काई उत्कीर्ण-लेख से यह प्रकट है कि कम-से-कम ईसा से १७०० वर्ष पूर्व भारतीय आर्य और उनका वैदिक धर्म वहाँ पहुँच चुका था। इन प्रमाणों के अतिरिक्त व्यापारिक वस्तुओं के भारतीय नाम से भी यह मालूम होता है कि बहुत पुराने समय से बैबिलोनिया, सीरिया और मिश्र से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। व्यापारिक सम्बन्ध से न केवल वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था, परन्तु संस्कृति और विचारों का भी।

**२. मौर्य-काल में पश्चिमी, दक्षिणी और मध्य एशिया में भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रसार**—मौर्य सम्राट ने जब बौद्ध-धर्म ग्रहण किया तब वह उसके आदर्शवाद और भूत-दया की भावना से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने बौद्ध-धर्म के आदर्शों और भावनाओं का प्रचार करने के लिये अपने प्रचारक-मण्डल एशिया के पश्चिमी मध्य और दक्षिणी देशों में भेजा। 'धम्म-विजय को ही देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी (अशोक) मुख्यतम विजय मानते हैं। यह धम्मविजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है, जहां अतियोक नामक यवन राजा राज्य करता है; और उस अतियोक के बाद तुरमय, अंतिकिन मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं। और उन्होंने अपने राज्य के नीचे चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सतियपुत्र तथा ताम्रपर्णी (लंका) में भी धर्मविजय प्राप्त की है।....सब जगह लोग देव-

ताओं के प्रिय का अनुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे।" ( अशोक का चतुर्थ शिला लेख ) इस लेख के अनुसार उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया और लंका में अशोक ने बौद्ध-धर्म और लोक-सेवा का प्रचार किया। इन देशों में बौद्ध-धर्म का प्रभाव ईसा के जन्म के पहले तक और किन्हीं अंशों में इस्लाम के उदय के पहले तक बना रहा। लंका में अशोक द्वारा बौद्ध-धर्म के प्रचार का विस्तृत वर्णन महावंश और दीपवंश नामक ग्रंथों में पाया जाता है। अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने लंका में बौद्ध-धर्म और पाली भाषा को वहां पहुंचाया, इसके पहले ही सुराष्ट्र के राजकुमार विजय ने लंका को जीता था और उसके पिता सिंह के नाम पर उसका दूसरा नाम सिंहल ( सीलोन ) पड़ा और भाषा का नाम सिंहली। लंका, बरमा, आदि देशों में हीनयान बौद्ध-धर्म अशोक के ही समय में वहाँ पहुंचा था। तिब्बती ग्रंथों में इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि अशोक के पुत्र राजकुमार कुस्तन ने खोतान ( मध्य एशिया ) में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। मौर्य और कुषण-काल में बहुत से भारतीय वहाँ जा कर बस भी गये थे। उस समय मध्य एशिया का जलवायु और उपज अच्छे थे और वहाँ पर भारतीय धर्म और संस्कृति के उपनिवेश लहलहाते थे। मध्य एशिया में जो पुरातत्त्व की खुदाई हुई है उसमें बौद्ध स्तूप और विहारों के खंडहर, बौद्ध और हिंदू देवताओं की मूर्तियाँ, भारतीय भाषा और लिपि में उत्कीर्ण और लिखित लेख और ग्रंथों की हस्त-लिपियाँ पायी गयी हैं। मध्य एशिया में भारतीय उपनिवेश फाहियान और हुयेन-संग के समय तक समृद्ध अवस्था में थे। इस्लाम के आक्रमण के पहले तक भारतीय धर्म और संस्कृति वहाँ वर्तमान थी।

३. भारत का यूनान और रोम से सम्पर्क—मिश्र के एक यूनानी नाविक द्वारा लिखे हुये 'दी पेरिप्लुस आफ् दीएरिथ्रियन सी' नामक ग्रंथ (प्रथम शताब्दी ई० प०) से मालूम होता है कि भारतीय बन्दरगाहों से नावों पर लद कर बहुत सा सामान मिश्र, यूनान और रोम तक पहुंचता था और पश्चिम पयोधि (अरब सागर) के कई द्वीपों में व्यापार के लिये भारतीय बसे हुये थे। ऐसे उपनिवेशों में सोकोट्रा प्रसिद्ध था। इस बात की पुष्टि प्लिनी नाम के लेखक से भी होती है। वह अपने ग्रंथ में शिकायत करता है कि विलास की सामग्री खरीदने के लिए प्रतिवर्ष

रोम से दस लाख सुवर्ण-मुद्रायें भारत को जाती थीं। पश्चिमोत्तर और दक्षिण भारत में बड़ी संख्या में सोने के रोमन सिक्के पाये गये हैं जो प्लिनी की शिकायत को सिद्ध करते हैं। २६ ई० पू० में पाण्ड्य-देश के राजा ने रोमन सम्राट आगस्टस के पास अपना दूत-मण्डल भेजा था। जल और स्थल दोनों मार्गों से इन देशों के साथ भारत का व्यापार होता था जो अरबों के उदय के पहले सातवीं शताब्दी तक भारतीयों के हाथ में था। जिस तरह तुर्क-आक्रमण के कारण भूमध्यसागर के देशों का सीधा सम्बन्ध एशिया से टूट गया उसी तरह अरब-आक्रमण के कारण पश्चिमी एशिया के जल और स्थल-मार्ग भारतीयों के लिये बन्द हो गये।

४. भारत और चीन का सम्बन्ध—ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में बौद्ध-धर्म मध्य एशिया में पहुंचा था और खोतान, यारकन्द, काशगर आदि प्रदेशों में उसका प्रचार हो गया था। खोतान से ही बौद्ध-धर्म चीन में पहुँचा और वहाँ की प्राचीन सभ्यता के ऊपर गहरा प्रभाव डाला। यहाँ की अनगिनत जनता ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया और चीन की जन-संख्या का बहुत बड़ा भाग आज भी बौद्ध-धर्म का अनुयायी है। चीन ने बौद्ध-धर्म के अध्ययन और उसके तत्वों को जानने का अद्भुत उत्साह दिखाया। फाहियान, हुयेन-संग, इत्सिग आदि सैकड़ों चीनी यात्री स्थल और जल-मार्ग के कठिन कष्टों को सहते हुये अपनी धर्म-भूमि में आये। यहाँ पर उन्होंने बौद्ध-विहारों में बौद्ध-धर्म और साहित्य का अध्ययन किया; पुस्तकों, हस्तलिपियों और मूर्तियों का संग्रह किया; भारतीय आचार-विचार का निरीक्षण किया और यहाँ से गम्भीर ज्ञान और संगृहीत ग्रंथों और सामग्रियों को लेकर वे चीन वापस गये। ये चीनी धर्मजिज्ञासु पाली और संस्कृत-भाषा का अध्ययन करते थे और उन्होंने अपने देश में लौट कर सहस्रों भारतीय ग्रंथों का चीनी-भाषा में अनुवाद किया। भारत से भी सैकड़ों भिक्षु विद्वान् और पण्डित बौद्ध-धर्म और साहित्य का प्रचार करने के लिये स्वयं चीन गये और चीन-सम्राटों द्वारा निमंत्रित भी हुये। इनमें बोधिधर्म, परमार्थ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन पण्डितों ने चीन के बौद्ध-विहारों में धर्म और संस्कृति के प्रसार के लिये, सारा जीवन बिताया और हजारों पाली और संस्कृत-ग्रंथों का चीनी में भाषान्तर

किया। बहुत से मूलग्रंथ जो भारत में लुप्त हो गये हैं वे चीन में अनुवादरूप में पाये जाते हैं।

**५. कोरिया और जापान में बौद्ध-धर्म**—चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार होने के बाद चौथी शताब्दी में वहाँ से बौद्ध-धर्म उसके पड़ोसी देश कोरिया और जापान में पहुंचा। इन दोनों देशों की संस्कृति और जीवन को बौद्ध धर्म ने प्रभावित किया और बारहवीं शताब्दी तक एक प्रबल शक्ति के रूप में विकसित हुआ। इन देशों में आज भी बौद्ध-धर्म जीता जागता है।

**६. तिब्बत पर भारत का प्रभाव**—तिब्बत भारत के उत्तर में उसका सबसे निकट पड़ोसी है; इसलिये उस पर भारत का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। आजकल तिब्बत का जीवन जितना एकाकी है उतना पहले न था। भारत से तिब्बत होकर एक रास्ता चीन को जाता था। उसके द्वारा न केवल व्यापार की छोटी-मोटी वस्तु, किन्तु ये विचार, धर्म और संस्कृति भी भारत से बाहर के देशों में फैलती थी। सातवीं शताब्दी में तिब्बत में स्रांग-सैन-गैम्पो (Srong-San Gampo) नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। उसकी एक रानी चीन-सम्राट की लड़की और दूसरी नेपाल के राजा की कन्या थी। इन दोनों के प्रभाव से गैम्पो बौद्ध हुआ और उसने बौद्ध-धर्म को अपने देश में निमंत्रित किया। उसने खोतान में प्रचलित भारतीय लिपि को भी तिब्बत में चालू किया। नये धर्म और लिपि ने तिब्बत के बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्थान में बड़ा भाग लिया। बंगाल के पाल-राजाओं का तिब्बत से घना सम्बन्ध था। बहुत से तिब्बत बौद्ध भिक्षु नालन्दा और विक्रमशीला के महाविहारों में आकर अध्ययन करते थे और भारतीय भिक्षु और पण्डित तिब्बत जाकर बौद्ध-धर्म और साहित्य का प्रचार करते थे। बंगाली भिक्षु अतीस तीर्थंकर का नाम अब भी तिब्बत में प्रसिद्ध है। सैकड़ों बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में हुआ। ऐसे ग्रंथों के दो बड़े संग्रह तंजूर और मंजूर आज भी उपलब्ध हैं।

**७. अफगानिस्तान और फारस में भारतीय धर्म**—भौगोलिक दृष्टि से हिन्दूकुश के दक्षिण का प्रदेश (अफगानिस्तान) भारत का भाग माना जाता था और प्राचीनकाल से भारतीय सभ्यता वहाँ प्रचलित थी,

फारस पश्चिम में भारत का निकटतम पड़ोसी था; वहाँ भी भारत की सांस्कृतिक धारायें पहुंचती थीं। जिस समय फाहियान और हुयेन-संग भारत में आये उस समय अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म का प्रचार था। गजनी के तुर्क अमीर सुबुक्तगीन के आक्रमण के समय ( दसवीं शताब्दी का अंतिम भाग ) काबुल-घाटी में हिंदू धर्म का प्रचार था। अलबेरूनी ने लिखा है कि इस्लाम के पहले फारस, खुरासान, ईराक, मोसल तथा सीरिया के कई भागों में बौद्ध-धर्म का प्रचार था। इस्लाम के आक्रमणों से क्रमशः इन देशों में भारतीय धर्म और संस्कृति समाप्त हुई। अफगानिस्तान में जो खनन-कार्य हुआ है उससे बहुत से स्तूप, विहार और मूर्तियाँ बाहर निकली हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि अरब और तुर्क आक्रमणों के पहले सारा अफगानिस्तान जनता और संस्कृति की दृष्टि से पूरा भारतीय था।

८. हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीपसमूह—ये देश भारत के पूर्वी पड़ोसी थे। भारत के पूर्वी समद्र-तट के बन्दरगाहों से जहाज इन देशों में पहुँचते थे। कामरूप से होकर आसाम से पूर्वोत्तर से भी हिन्द-चीन में जाने का मार्ग था। इसलिये भारत से इन देशों का निकट सम्पर्क था। इनमें कीमती मसाले उपजते थे और बहुमूल्य धातुयें पायी जाती थीं। बरमा का तो 'सुवर्ण भूमि' नाम ही था व्यापारियों और उपनिवेशों के लिये यह बड़ा आकर्षण था। इन देशों के मूल निवासी आग्नेय ( आस्ट्रिक ) जाति के थे और सभ्यता में पिछड़े हुये थे। अतः उनका सारा व्यापार प्रायः भारतीयों के हाथ में था। जातक-कथाओं और कथा-सरित्सागर में समुद्र-यात्रा की बहुत-सी कहानियां पायी जाती हैं। ऐसे बहुत से राजकुमारों की कथायें भी मिलती हैं जो अपने देश से निर्वासित होकर समुद्रपार किसी देश या द्वीप में चले गये और अपने लिये राज्यों की स्थापना की। ईसवी सम्वत् की दूसरी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक कई साहसी भारतीयों ने इन देशों में अपने उपनिवेश और राज्य स्थापित किये। इन उपनिवेशों और राज्यों के साथ वहाँ भारतीय व्यापार, राजनीति, धर्म, भाषा, साहित्य, कला आदि का भी प्रचार हुआ। यहाँ पर कई शक्तिमान् राज्यों की स्थापना हुई और भारतीय संस्कृति के कई सुन्दर नमूने यहाँ मिलते हैं। पन्द्रहवीं-सोलहवीं

शताब्दी तक भारतीय राज्य और संस्कृति इन देशों में जीवित थी जो मंगोलों और अरबों के आक्रमण से क्रमशः समाप्त हुई। इन भारतीय उपनिवेशों का संक्षिप्त इतिहास नीचे दिया जाता है :—

(१) चम्पा—जहाँ पर आजकल अनाम है वहाँ पर चम्पा का राज्य था। संभवतः पूर्वोत्तर विहार के लोगों ने अंग-राज्य की राजधानी चम्पा के नाम पर यह उपनिवेश बसाया था। यहाँ का भारतीय राज्य ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक बना रहा। इसकी राजधानी अमरावती नगरी थी। इसके अतिरिक्त और भी कई समृद्ध नगर थे, जिनमें भव्य हिन्दू मंदिर और बौद्ध चैत्य बने हुए थे। यहाँ के राजाओं में जय परमेश्वर वर्मदेव ईश्वरमूर्त्ति (१०५०-१०६०), रुद्रवर्मन (१०६१-१०६६ ई०), हरिवर्मन (१०७०-१०८१), महाराजाधिराज श्री जयइन्द्रवर्मन (११६३-११८० ई०) जयसिंहवर्मन (१२५७-१२८७ ई०) आदि प्रसिद्ध हुये। इन्होंने उत्तर से आनेवाले मंगोलों और पश्चिम से आक्रमण करने वाले कम्बोज-राज्य का वीरता के साथ मुकाबला किया। इसका चीन के साथ दौत्य-सम्बन्ध था। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तर से मंगोल-जाति के अनामियों के लगातार आक्रमण के कारण चम्पा-राज्य का पतन हुआ। यहाँ पर इस्लाम के प्रचार ने चम्पा के प्राचीन इतिहास पर पूरा पर्दा डाल दिया है और यहाँ के निवासियों में उसकी कोई भी चेतना नहीं है।

(२) कम्बुज—हिन्द-चीन में दूसरा भारतीय राज्य कम्बुज था, जिसको आजकल कम्बोडिया कहते है। कम्बोडिया प्राचीन कम्बुज का ही रूपान्तर है। इस राज्य की उत्पत्ति का इतिहास बहुत धुंधला है। संभवतः भारत के पश्चिमोत्तर काम्बोज से आकर वहाँ के लोगों ने इस राज्य की स्थापना की थी। यह घटना ईसवी संवत् प्रथम या दूसरी शताब्दी की होगी। एक अनुश्रुति के अनुसार कौण्डिन्य ने एक नाग-कन्या सोमा से विवाह किया और कम्बुज-राज्य की स्थापना की। यह अनुश्रुति आर्य और नाग-रक्त के मिश्रण के ऊपर अवलम्बित मालूम होती है। दूसरी अनुश्रुति में कौण्डिन्य को इन्द्रप्रस्थ (=दिल्ली) के राजा आदित्य वंश का पुत्र कहा गया है। इसमें सूर्य-वंश से उसकी उत्पत्ति का धुंधला आभास है। इस राज्य की प्रसिद्ध राजधानी

यशोधरपुर थी, जिसको आजकल अङ्कोर या अङ्करथॉम कहते हैं। इसकी स्थापना नवीं शताब्दी में राजा यशोवर्मा ने की थी।

कम्बुज-राज्य के उत्कर्ष के पहले प्रायः इसी प्रदेश में एक और भारतीय राज्य था जिसको चीनी लोग फ़ूनान कहते थे। एक समय यह शक्तिमान् राज्य था और उसके भीतर कई सामन्त-राज्य थे। कम्बुज भी इसी के आधीन था। इस राज्य के सम्बन्ध में एक चीनी लेखक लिखता है:- "एक हजार से अधिक ब्राह्मण भारत से यहाँ आकर बसते हैं। लोग उनके सिद्धान्तों को मानते हैं और उनको विवाह में अपनी कन्यायें देते हैं। वे दिन-रात अपने धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करते हैं। फ़ूनान के राजा काफी प्रभावशाली थे और वे भारत और चीन दोनों से दौत्य-सम्बन्ध रखते थे। लगभग छठवीं शताब्दी में कम्बुज-वंशी चित्रसेन नामक सामन्त ने फ़ूनान का अन्त किया और स्वतंत्र कम्बुज-राज्य की नींव डाली।

सातवीं शताब्दी में कम्बुज का आधिपत्य उन सभी प्रदेशों पर स्थापित हो गया जो पहले फ़ूनान के अधीन थे। कम्बुज ने आसपास के और प्रदेशों पर भी अधिकार कर लिया और हिन्द-चीन का यह सबसे बड़ा भारतीय राज्य बन गया। इसमें वर्तमान कम्बोडिया, कोचीन, चीन, लाओस, स्याम, बर्मा का कुछ भाग और मलय-प्रायद्वीप शामिल थे। कम्बुज-राज्य के भारतीय राजाओं ने पन्द्रहवीं शताब्दी तक बड़ी सजधज से शासन किया। इनमें प्रथम और द्वितीय जयवर्मन, यशोवर्मन और द्वितीय सूर्यवर्मन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके समय के बहुत से संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण लेख मिले हैं जो इनके इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। अङ्करथॉम और अङ्करवाट आदि स्थानों के आश्चर्यजनक मंदिर और भवन कम्बुज की समृद्धि और महत्त्व की सूचना करते हैं। अंगकरवाट के मंदिर की दीवारों पर रामायण की पूरी कहानी मूर्तियों में अंकित है। कम्बुज-का राजवंश शैव-धर्म का अनुयायी था। पन्द्रहवीं शताब्दी में कम्बुज राज्य पूर्व से अनामियों और पश्चिम से थाई लोगों के आक्रमण के कारण बहुत संकुचित हो गया। इसका क्षीण रूप फ्रांसीसियों का रक्षित राज्य होकर आज भी वर्तमान है।

(३) श्री विजय-साम्राज्य—शैलेन्द्र नामक एक राजवंश ने पांचवीं या छठवीं शताब्दी के लगभग मलय-प्रायद्वीप में एक राज्य

स्थापित किया और बहुत शीघ्रता से इसका विस्तार होने लगा। सातवीं शताब्दी में सुमात्रा द्वीप पर इसका अधिकार हो गया। शैलेन्द्रों ने सुमात्रा में ही श्री विजय नामक नगर ( =पालमपांग ) बसाकर उसको अपनी राजधानी बनाया। इसी नगर के नाम से उनका साम्राज्य श्री विजय-साम्राज्य कहलाया। उनके पास बहुत बड़ी नौ-सेना थी; उसकी सहायता से उन्होंने दूर-दूर के द्वीपों को भी जीत लिया। शैलेन्द्र-साम्राज्य में मलय, सिंहल, सुमात्रा, जावा के कुछ भाग, बोरनिओ, वाली, सेलेबीज, फिलिपाइन्स और फारमूसा के कुछ अंश सम्मिलित थे। शैलेन्द्र-साम्राज्य का आधिपत्य कुछ समय तक शायद चम्पा और कम्बुज पर भी था। जिस तरह हिन्द-चीन के भारतीय राज्यों ने दक्षिण-पूर्व-एशिया में मंगोलों के प्रवाह को एक हजार वर्ष तक रोक रखा, वैसे ही शैलेन्द्र-साम्राज्य ने उनके समुद्र-मार्ग को रोक रखा।

शैलेन्द्र-साम्राज्य बड़ा ही शक्तिशाली और समृद्ध था। उसके साथ व्यापार करने वाले अरब व्यापारियों ने आश्चर्यचकित होकर उसकी शक्ति, समृद्धि और शान का वर्णन किया है, उसके सम्बन्ध में इब्न रासटेह ( ६०३ ई० ) नाम के एक अरब व्यापारी ने लिखा है : "शैलेन्द्र-शासक महाराजा कहलाता है। वह भारतीय राजाओं में सबसे बड़ा नहीं माना जाता है, क्योंकि द्वीपों में रहता है। दूसरा कोई राजा उतना शक्तिमान और धनी नहीं है जितना वह; दूसरे किसी को उसके बराबर राजस्व नहीं आता।" इब्न खोरदाजबेह ( नवीं शताब्दी ) ने लिखा है कि शैलेन्द्र-सम्राट की दैनिक आमदनी दो सौ मन सोना था। शैलेन्द्र-सम्राटों का भारत और चीन के साथ दौत्य-सम्बन्ध था।

शैलेन्द्र-सम्राट महायान बौद्ध-धर्म को मानने वाले थे। बालपुत्रदेव शैलेन्द्र ने बंगाल के पाल-राजा देवपाल के पास राजदूत भेजा और नालन्दा में अपने बनवाये हुए विहार के लिये पांच गाँवों को दान मांगा जिसको देवपाल ने प्रसन्नता से दिया। एक बंगाली बौद्ध-भिक्षु कुमार-घोष शैलेन्द्रों का गुरू था। उसकी आज्ञा से शैलेन्द्र-सम्राट ने नालन्दा में तारादेवी का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। दूसरे स्थानों में भी शैलेन्द्र-राजाओं ने भव्य भवन बनवाया। बोरोबुदूर ( जावा में )

का विशाल और प्रसिद्ध स्तूप उन्हीं का बनवाया हुआ है जो इस समय भी शैलेन्द्रों के वैभव और धार्मिक भावना का सजीव स्मारक है।

नवीं शताब्दी के अन्त में ही एक दूसरे शक्तिमान् राजवंश के अधीन जावा शैलेन्द्र-साम्राज्य से अलग हो गया, जो शैलेन्द्रों की दुर्बलता के प्रारंभ को सूचित करता है। फिर भी ग्यारहवीं शताब्दी तक शैलेन्द्रों का आधिपत्य हिन्द-एशिया पर रहा। इसी शताब्दी में बंगाल की खाड़ी में उनकी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति चोलों के रूप में उत्पन्न हुई। प्रथम राजेन्द्र चोल ने अपनी विशाल नौ-सेना के साथ शैलेन्द्र-साम्राज्य पर आक्रमण किया और उसके कुछ भाग को जीतकर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। लगभग एक सौ वर्ष बाद शैलेन्द्रों ने चोलों को निकाल कर उनसे अपना खोया हुआ राज्य वापस ले लिया। इसके पश्चात् भी लगभग तीन सौ वर्ष तक शैलेन्द्रों का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा। परन्तु अब हिन्द-महासागर और प्रशान्त-महासागर में शैलेन्द्रों का पहले का-सा प्रभाव नहीं रहा। तेरहवीं शताब्दी में उनकी शक्ति शीघ्रता से क्षीण होने लगी। क्रमशः जावा और स्याम के राज्य उसके ही भू-भाग पर बढ़ने लगे। चौदहवीं शताब्दी में जावा ने शैलेन्द्र-साम्राज्य को पूर्णतः आत्मसात् कर दिया।

(४) जावा का भारतीय राज्य—ईसा की चौथी शताब्दी में जावा में एक हिन्दू राज-वंश की स्थापना हुई। चीनी यात्री फाहियान के अनुसार पांचवीं शताब्दी में जावा और सुमात्रा दोनों द्वीपों में हिन्दू-धर्म का प्रचार था। शैलेन्द्र-साम्राज्य के उदय होने पर जावा के राजा उसके आधीन हो गये, परन्तु नवीं शताब्दी में इस राज-वंश ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। पहले इसकी राजधानी जावा के मध्य में थी, परन्तु शैलेन्द्रों के दबाव के कारण उसको अपनी राजधानी जावा के पूर्वी भाग में हटानी पड़ी। इसकी इस समय दो राजधानियां थीं—एक केदिरी और दूसरी सिंहसरी। जावा के राजनैतिक इतिहास में इन दोनों का बड़ा महत्व है। एक दूसरा हिंदू-राजवंश तेरहवीं शताब्दी के अन्त में यहां स्थापित हुआ। इसका संस्थापक विजय नामक राजा था जिसने तिक्त बिल्व (तीता बेल) नामक अपनी राजधानी बसाया जिसको जावा की भाषा में मजपहित कहते थे। जावा की शैलेन्द्र-साम्राज्य के साथ कड़ी राजनैतिक और व्यापा-

रिक प्रतियोगिता थी। जावा ने आसपास के द्वीपों को जीत लिया और चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्पूर्ण मलय-द्वीपपुञ्ज और मलय-प्रायद्वीप पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। शैलेन्द्र-साम्राज्य को इसने आत्मसात् कर लिया। तिक्तविल्व के राजा ने कुबलाखां के भेजे हुये चीनी दूत-मंडल का अपमान किया। इस पर क्रुद्ध होकर कुबलाखां ने जावा पर आक्रमण करने के लिये चीनी सेना भेजी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस समय जावा ने चीन से बारूद का उपयोग सीखा और शैलेन्द्र-साम्राज्य के विरुद्ध उसका सफल प्रयोग किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक भगोड़े जावा के राजकुमार ने मलक्का में एक दूसरे हिन्दू राज्य की स्थापना की जो बहुत शीघ्र राजनैतिक शक्ति और व्यापार का केन्द्र हो गया।

तिक्तविल्व का हिन्दू-साम्राज्य अच्छी तरह से केन्द्रित और प्रसारवादी था। इसके कर और राजस्व के दूसरे साधन अच्छी तरह से संगठित थे। व्यापार और उपनिवेशों पर विशेषरूप से ध्यान रखा जाता था। केन्द्रीय शासन कई विभागों में बंटा था—(१) व्यापार विभाग (२) उपनिवेश-विभाग (३) स्वास्थ्य-विभाग (४) सेना-विभाग (५) गृह-विभाग आदि। न्याय की सुन्दर व्यवस्था थी। राज्य की ओर से कई एक न्यायधीश नियुक्त थे। जावा के शासकों में अपनी आदर्श-व्यवस्था के लिये सुहिता नाम की एक प्रसिद्ध रानी थी। पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त में अरबों द्वारा इस राज्य का पतन हुआ।

**(५) बाली और बोर्नियो**—इन द्वीपों में भी भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ जो किसी रूप में आज तक वहाँ पायी जाती है। यहाँ का धर्म हिन्दुत्व का ही एक प्रकार है। यहाँ पर मंदिरों में देवमूर्तियों की पूजा होती है। यहाँ की स्थापत्य और मूर्तिकला भी भारतीय कला के आधार पर विकसित हुई, यद्यपि उसमें कई एक स्थानीय तत्व भी पाये जाते हैं।

**(६) स्याम**—यह देश पहले कम्बुज के हिन्दू-राज्य के आधीन था। ग्यारहवीं शताब्दी में थाई नाम की एक नयी जाति यहाँ आयी। संभवतः उसीके साथ बौद्ध-धर्म स्याम में आया जो पहले महायानी सम्प्रदाय का था। तेरहवीं शताब्दी में स्याम-राज्य की वृद्धि हुई। इसी समय सिंहल के बौद्ध-संघ ने स्याम में हीनयानी बौद्ध धर्म का

प्रचार किया। स्याम में आज भी बौद्ध-धर्म का प्राधान्य है और स्यामी भाषा लिपि और संस्कृति पर भारत की छाप है।

(७) बरमा—इस देश का भारतीय नाम सुवर्णभूमि था और इसके दक्षिणी भाग को श्रीक्षेत्र कहते थे। बरमी अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने बरमा में बौद्ध-संघ की स्थापना की थी। दुर्भाग्य से अशोक के शिला-लेखों में लंका ( = ताम्रपर्णी ) के समान सुवर्ण-भूमि का अलग उल्लेख नहीं है, यद्यपि उसके धर्म-विजय के घेरे में बरमा आसानी से आ जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बरमा का दक्षिणी भाग बहुत पहले से हीनयानी बौद्ध-धर्म का केन्द्र था और वहाँ से आसपास के प्रदेशों में हीनयान का प्रचार हुआ। आज भी बर्मा के बहुसंख्यक लोग बौद्ध हैं। उनकी भाषा, लिपि और धर्म पर भारतीयता की छाप और उनके धार्मिक संस्कारों में वैदिक कर्मकाण्ड का पुट है।

उपनिवेशों के उदय और विनाश के कारण—जब तक भारत की राजनीति और संस्कृति में सजीवता थी तब तक यहाँ की जनता में उत्साह और कष्ट सहन की क्षमता थी और अपनी राजनीति और संस्कृति के प्रसार की लालसा भी। बहुत प्राचीन काल से लेकर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी तक यह प्रक्रिया चलती रही। ब्राह्मण और बौद्ध, दोनों ही संस्कृति-धारायें, भारत से प्रवाहित होकर प्रायः सम्पूर्ण एशिया तथा भूमध्यसागर के तट के युरोपीय और अफ्रीका के देशों तक पहुंची थीं। इस प्रक्रिया को पहला धक्का अरबों के उदय से लगा। उन्होंने क्रमशः अरब-सागर ( पश्चिमी पयोधि ) का सारा व्यापार भारतीयों के हाथ से छीन लिया और हिन्द-महासागर में भी भारतीयों की प्रतियोगिता शुरू की। बारहवीं शताब्दी के अन्त में बड़े वेग से तुर्कों का भारत पर आक्रमण प्रारंभ हुआ। इससे भारत के राजनैतिक जीवन का विघटन हुआ और धीरे-धीरे भारत के बड़े भाग पर इस्लामी सत्ता स्थापित हो गयी। जब तक भारत में भारतीयों का राज्य था उनके उपनिवेश बाहर के देशों में लहराते रहे। परन्तु भारत में अपने मूल आधार और प्रेरणा के नष्ट हो जाने पर वे सूखने लगे। पिछले दिनों में हिन्द-एशिया के भारतीय उपनिवेश श्री विजय और जावा आदि आपस में व्यापारिक और राजनैतिक प्रतियोगिता के कारण लड़ने लगे और एक दूसरे को

दुर्बल बनाने लगे। अब भारत की मूल-भूमि से इन उपनिवेशों की सैनिक अथवा राजनैतिक सहायता नहीं मिल सकती थी। हिन्द-चीन में उत्तर की मंगोल जातियों के सामने जो भारतीय राज्यों की एक दीवार थी वह टूट गयी और मंगोल-जाति के लोग बहुत बड़ी संख्या में दक्षिण की तरफ चले आये। मलय-प्रायद्वीप और मलय-द्वीपपुञ्ज में अरब लोग पहले व्यापारी के रूप में गये थे। भारतीय राज्यों के विघटन और भारत में इस्लामी सत्ता स्थापित होने के बाद वहाँ पर अरबों ने अपनी नीति बदली, उन्होंने धर्म प्रचारक और विजयी का बाना धारण किया। दक्षिण के दुर्बल भारतीय उपनिवेशों में इस्लामी राजनीति और धर्म की सत्ता स्थापित हो गयी। परन्तु आज भी इन उपनिवेशों में भारतीय राजनीति और संस्कृति के अनेक चिह्न पाये जाते हैं और वहाँ के जन-जीवन पर भारतीय छाप है।